समाधितंत्र प्रवचन भाग-२

(श्री समाधितंत्र शास्त्र पर पूज्य गुरुदेवश्री के १९७४-७५ के समाधिभाव प्रेरक अक्षरशः प्रवचन)

प्रकाशक :-श्री कुंदकुंद-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, विले पार्ले, मुंबई

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

समाधितन्त्र प्रवचन

(भाग-2)

(**श्रीमद् देवनन्दी अपरनाम पूज्यपादस्वामी** विरचित **श्री समाधितन्त्र शास्त्र** पर **अध्यात्मयुगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के शब्दश: प्रवचन)
(गाथा - 7 से 32, प्रवचन - 16 से 40)

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

विक्रम संवत 2077 | **वीर संवत 2546** | **ई. सन 2021**

—: प्रकाशन :—
फाल्गुन शुक्ल 2 (15 मार्च 2021)
श्री सीमन्धर भगवान प्रतिष्ठा सोनगढ़ (वि.सं. 1997)
की वार्षिक तिथि के उपलक्ष्य में

—: प्राप्ति स्थान :—
1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250 फोन : 02846-244334
2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046
www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :
विवेक कम्प्यूटर
अलीगढ़।

प्रकाशकीय निवेदन

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी,
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैन धर्मोस्तु मंगलं।

महावीर भगवान, गौतम गणधर तत्पश्चात् जिनके नाम का उल्लेख किया जाता है, ऐसे भरत के समर्थ आचार्य, साक्षात् सदेह विदेह में जाकर सीमन्धर भगवान की दिव्यध्वनि का प्रत्यक्ष रसपान करके भरत में आये हुए, श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव महान योगीश्वर हैं, यह जगत विदित है। अनेक महान आचार्य उनके द्वारा रचित शास्त्रों का आधार देते हैं। इससे ऐसा प्रसिद्ध होता है कि अन्य आचार्य भी उनके वचनों को आधारभूत मानते हैं। ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के भरतक्षेत्र पर महान उपकार हैं। उन्हीं आचार्यदेव की परम्परा में हुए श्रीमद् देवनन्दि अपरनाम पूज्यपादस्वामी द्वारा रचित ग्रन्थ समाधितन्त्र पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मंगल प्रवचन 'समाधितन्त्र प्रवचन', भाग-2 पाठकवर्ग के हस्तकमल में प्रदान करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

वर्तमान श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यध्वनि में जो कहा जा रहा है, उसे प्रत्यक्ष झेलनेवाले भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव और उनके अनन्य भक्त, कि जिनकी विद्यमानता श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के विदेहगमन के समय साक्षात् थी, ऐसे प्रियवर पूज्य कहान गुरुदेवश्री के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचनों का क्या कहना! जो विषय वचनगोचर नहीं, विकल्पगोचर नहीं, उसे कथंचित् वक्तव्य करना वह कहान गुरुदेवश्री की समर्थ प्रचण्ड शक्ति के दर्शन कराते हैं, और भावि में ॐकार ध्वनि खिरने की सूचक है।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रस्तुत प्रवचन अध्यात्म के अनेकविध रहस्यों को व्यक्त कर रहे हैं। आचार्य पूज्यपादस्वामी के हृदय में प्रवेश कर उनके भावों को स्पष्ट करने का सामर्थ्य प्रस्तुत प्रवचनों में व्यक्त होता है। अनन्त काल से मिथ्यात्वदशा में भ्रमण करता अज्ञानी जीव बहिरात्मदशा को नष्ट करके, अन्तरात्मपना प्रगट करके परमात्मदशा किस प्रकार प्राप्त करता है, उसका रोचक

विवेचन पूज्यपादस्वामी ने समाधितन्त्र में तो किया है परन्तु वर्तमान मुमुक्षु समाज को सादी और सरल भाषा में पूज्य गुरुदेवश्री ने स्पष्ट किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने अनेक प्रवचनों में भावभासनपूर्वक की समझ को अधिक महत्ता दी है। ऐसी शैली भी व्यक्त हो रही है। प्रत्येक प्रवचन भेदज्ञानपूर्ण है। पूज्य गुरुदेवश्री की सातिशय ज्ञाताधारा के दर्शन भी प्रत्येक प्रवचनों में हो रहे हैं। अखण्ड एकरूप स्वरूपाश्रित परिणतिपूर्वक समझाने का सामर्थ्य प्रवचनों में उभरकर बाहर आ रहा है। जिनके एक प्रवचन श्रवणमात्र से जिनके भव का अन्त आया, ऐसे पूज्य निहालचन्द्रजी सोगानी का उल्लेख अनेक प्रवचनों में आता है। यहाँ इस बात का उल्लेख इसलिए किया गया है कि पूज्य गुरुदेवश्री की सातिशय देशना का सामर्थ्य तो महापवित्र है ही, परन्तु प्रवचन सम्बन्धित विकल्प के निमित्त से मुमुक्षु जीव के भव का अन्त आ सकता है वह इस बात का प्रमाण है। जिनके विभावअंश में इतना सामर्थ्य है तो उनकी पवित्र ज्ञानदशा के दर्शन से मुमुक्षुजीव का आत्मकल्याण न हो, यह बात अस्थानीय है। ऐसे सबके प्रिय पूज्य गुरुदेवश्री का जितना गुण संकीर्तन किया जाये, उतना कम ही है, इसलिए इस प्रसंग पर उनके चरणों में भक्तिभावपूर्वक शत-शत वन्दन हो, वन्दन हो!

पूज्य गुरुदेवश्री के आन्तरिक जीवन और भावितीर्थाधिनाथपने की प्रसिद्धि करनेवाले पूज्य गुरुदेवश्री की अनन्य भक्त प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री को भी इस ग्रन्थ प्रकाशन के अवसर पर भाववन्दन करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना को ओडियो टेप में उतारने का महान कार्य शुरु करनेवाले श्री नवनीतभाई झवेरी का इस प्रसंग में आभार व्यक्त करते हैं तथा श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ ने इस महान कार्य को अविरत धारा से चालू रखा और सुरक्षित रखा, तदर्थ उसके भी आभारी हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना की सुरक्षा सी.डी., डी.वी.डी. तथा वेबसाईट (www.vitragvani.com) जैसे साधनों द्वारा श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, विलेपार्ला, मुम्बई द्वारा किया जा रहा है। इस कार्य के पीछे ट्रस्ट की ऐसी भावना है कि वर्तमान के आधुनिक साधनों द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा समझाये गये तत्त्वज्ञान का विशेष लाभ जनसामान्य ले कि जिससे यह वाणी शाश्वत् सुरक्षित बनी रहे। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रत्येक प्रवचन अक्षरश: ग्रन्थारूढ़ हो, ऐसी भावना के फलस्वरूप समाधितन्त्र ग्रन्थ पर हुए प्रवचन यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ पूज्य गुरुदेवश्री तथा प्रशममूर्ति भगवती माता पूज्य बहिनश्री चम्पाबहिन के करकमल में सादर समर्पित करते हैं।

सर्व प्रवचनों को सुनकर ग्रन्थारूढ़ करने में सावधानी रखी गयी है। वाक्य रचना पूर्ण करने के लिये कहीं-कहीं कोष्ठक किया गया है। यह प्रवचन सुनकर ग्रन्थारूढ़ करने का कार्य गुजराती भाषा में पूजा इम्प्रेशन द्वारा किया गया है। जिसे जाँचने का कार्य श्री सुधीरभाई सूरत, और श्री अतुलभाई जैन, मलाड द्वारा किया गया है।

हिन्दी भाषी मुमुक्षु समाज को इन प्रवचनों का विशेष लाभ प्राप्त हो, इस उद्देश्य से इन प्रवचनों का हिन्दी रूपान्तरण और सी.डी. से मिलान कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राजस्थान) द्वारा किया गया है। हम अपने सभी सहयोगियों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

जिनवाणी प्रकाशन का कार्य गम्भीर और जवाबदारी पूर्ण होने से जागृतिपूर्वक तथा उपयोगपूर्वक किया गया है तथापि प्रकाशन कार्य में प्रमादवश अथवा अजागृतिवश कोई भूल रह गयी हो तो त्रिकालवर्ती वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति क्षमाप्रार्थी हैं। ट्रस्ट मुमुक्षुजनों से निवेदन करता है कि यदि कोई अशुद्धि दृष्टिगोचर हो तो हमें अवगत कराने का कष्ट करें, जिससे आगामी आवृत्ति में उसे सुधार किया जा सके।

यह प्रवचन ग्रन्थ (www.vitragvani.com) तथा वीतरागीवाणी ऐप पर उपलब्ध है।

पाठकवर्ग इन प्रवचनों का अवश्य लाभ लेकर आत्मकल्याण को साधे, ऐसी भावना के साथ विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,

विलेपार्ला, मुम्बई

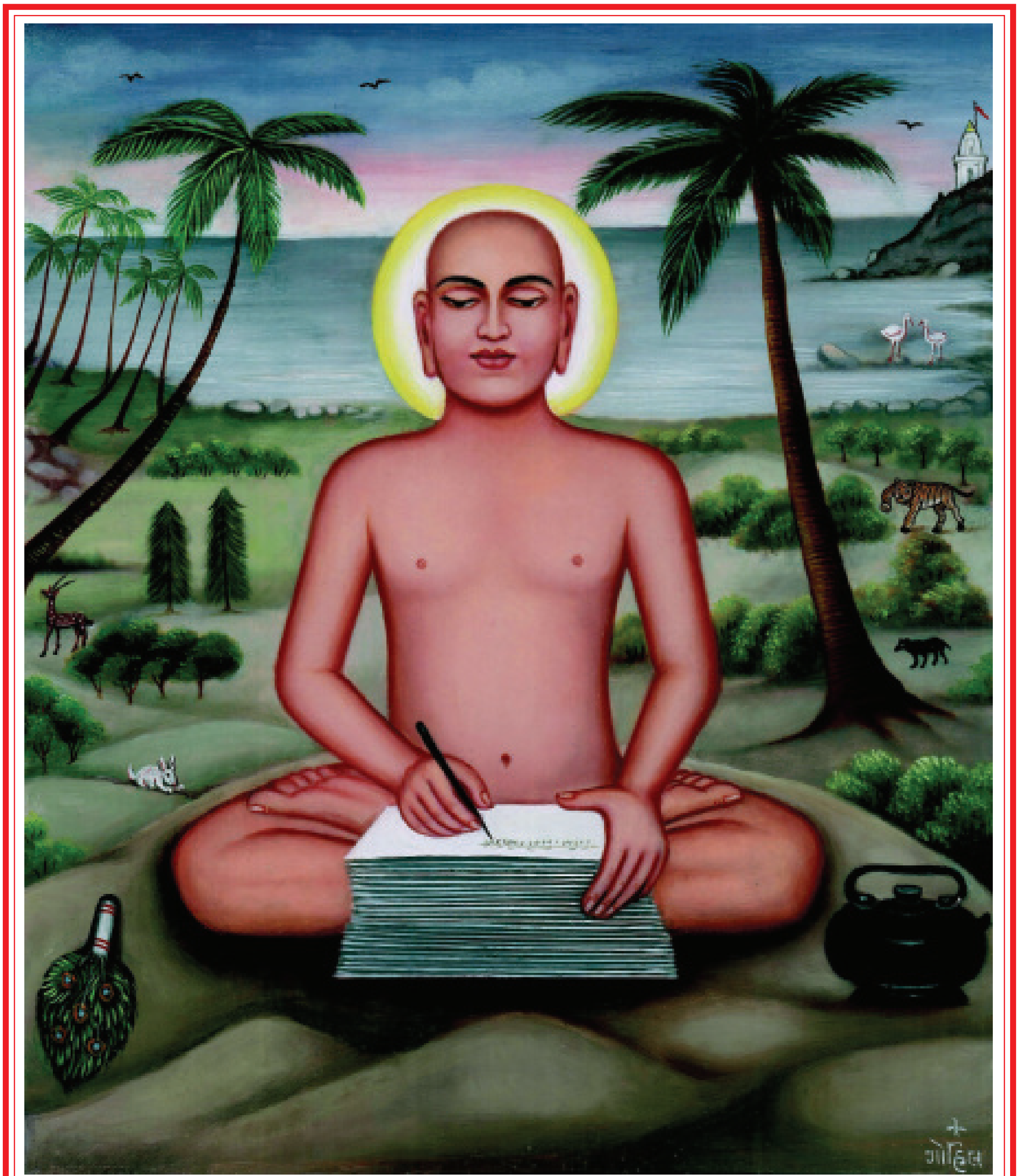

श्रीमद् देवनन्दी अपरनाम पूज्यपादस्वामी

ૐ સચ્ચિદાનંદ સહજ સ્વરૂપાય નમઃ

प्रस्तावना

समाधितन्त्र ग्रन्थ के रचयिता श्रीमद् पूज्यपादस्वामी आचार्य, मूलसंघ अन्तर्गत नंदिसंघ के प्रधान आचार्य थे। वे सुप्रसिद्ध, बहुप्रतिभाशाली, प्रखर तार्किक विद्वान और महान तपस्वी थे। श्रवणबेलगोला के शिलालेखानुसार पूज्यपादस्वामी श्री समन्तभद्राचार्य के पश्चात् हुए हैं और वे उनके मतानुयायी थे। शिलालेख और उपलब्ध जैन साहितत्य से विद्वानों ने निर्णय किया है कि यह सुप्रसिद्ध आचार्य ईस्वी सम्वत् पाँचवीं शताब्दी में और विक्रम की छठवी शताब्दी में हो गये हैं।

आप कर्नाटक देश के निवासी थे। कन्नडा भाषा में लिखे हुए 'पूज्यपादचरिते' तथा 'राजावलीकथे' नामक ग्रन्थों में आपके पिता का नाम 'माधवभट्ट' और माता का नाम 'श्रीदेवी' दिया है और लिखा है कि वे ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे। उपलब्ध शिलालेखों से यह बात प्रसिद्ध है कि आप देवनन्दी, जिनेन्द्रबुद्धि और पूज्यपादस्वामी नाम से प्रसिद्ध हैं। देवनन्दी—यह उनके गुरु ने दिया हुआ दीक्षा नाम है, बुद्धि की प्रकर्षता—विपुलता के कारण उन्हें बाद में जिनेन्द्रबुद्धि नाम प्राप्त किया और उनके चरणयुगल की देवताओं ने पूजा की इसलिए बुधजनों ने उन्हें पूज्यपाद नाम से विभूषित किया।

उपलब्ध शिलालेखों से उनके जीवन काल दौरान घटित अनेक अद्‌भुत घटनाये द्रव्यव्य हैं। श्री पूज्यपाद ने धर्मराज्य का उद्धार किया, देवों के अधिपतियों ने उनका पादपूजन किया, इसलिए वे पूज्यपाद कहलाये। उनके द्वारा उद्धार प्राप्त शास्त्र आज भी उनके विद्याविशारद गुणों का कीर्तिगान करते हैं। उन्होंने कामदेव को जीता था, इसलिए कृतकृत्यभावधारी उच्च कोटि के योगियों ने उन्हें जिनेन्द्रबुद्धि नाम से वर्णन किया है।

और वे औषधऋद्धि के धारक थे। विदेहक्षेत्रस्थित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से उनका गात्र पवित्र हुआ था। उनके पादोदक (चरण-जल) के स्पर्श से एक बार लोहा भी सोना हो गया था। तदुपरान्त घोर तपश्चर्यादि से उनके आँख का तेज नष्ट हुआ था परन्तु 'शान्त्यष्टक' के एकाग्रतापूर्वक पाठ से नेत्र-तेज पुनः प्राप्त हुआ था। महान योगियों के लिये ऐसी घटनायें असम्भवित नहीं हैं।

आपश्री ने अनेक ग्रन्थों की रचना भी की है। जैसे कि 'जैनेन्द्र व्याकरण', 'सर्वार्थसिद्धि', 'जैनाभिषेक', 'छन्दशास्त्र', 'समाधितन्त्र-समाधिशतक', 'इष्टोपदेश'। इनमें इष्टोपदेश तथा समाधितन्त्र

आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं, जो मुमुक्षुजीवों को आत्मकल्याण होने में महानिमित्तभूत है। समाधितन्त्र ग्रन्थ के अन्त में दी गयी प्रशस्ति अनुसार ग्रन्थ के टीकाकार श्री प्रभाचन्द्र (प्रभेन्दु) इस ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार हैं। कितने ही विद्वानों के मतानुसार वे श्री समन्तभद्राचार्य द्वारा रचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार के भी संस्कृत टीकाकार हैं।

प्रस्तुत प्रवचनों में समाधितन्त्र ग्रन्थ के मूल श्लोक, हिन्दी अन्वयार्थ, भावार्थ आदि तथा श्री प्रभाचन्द्र विनिर्मित संस्कृत टीका के गुजराती अनुवाद के हिन्दी अनुवाद सहित पाठक वर्ग की सुविधा के लिये लिये गये हैं।

अन्ततः पूज्य गुरुदेवश्री के सातिशय दिव्य प्रवचनों का भावपूर्वक स्वाध्याय करके पाठकवर्ग आत्मकल्याण को साधे, ऐसी भावनासहित विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,

विलेपार्ला, मुम्बई

अध्यात्मयुगसर्जक पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का**

श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित

सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक	दिनांक	श्लोक	पृष्ठ नम्बर
16	26.12.1974	7, 8-9	01
17	27.12.1974	8-9	22
18	28.12.1974	8-9, 10	38
19	29.12.1974	10, 11,12	57
20	30.12.1974	12,13,14	76
21	31.12.1974	13, 15	94
22	01.01.1975	15, 16	113
23	02.01.1975	16, 17	132
24	03.01.1975	17, 18	149
25	04.01.1975	18	167
26	05.01.1975	18, 19	183
27	06.01.1975	19, 20	199
28	07.01.1975	20	216
29	08.01.1975	20	232
31	10.01.1975	22	247
32	11.01.1975	22, 23	264
33	12.01.1975	23	280
34	13.01.1975	23,24,25	296
35	14.01.1975	25, 26	314
36	15.01.1975	27, 28	333
38	17.01.1975	29, 30	353
39	18.01.1975	30, 31	374
40	19.01.1975	31, 32	387

ॐ

श्री परमात्मने नमः

समाधितन्त्र प्रवचन

(भाग - २)

(श्रीमद् देवनन्दि अपरनाम पूज्यपादस्वामी द्वारा रचित समाधितन्त्र ग्रन्थ पर अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के शब्दशः प्रवचन)

मगसिर शुक्ल १२, गुरुवार, दिनांक २६-१२-१९७४, श्लोक-७-८-९, प्रवचन-१६

पृष्ठ १९ है। त्रिकाली की बात बाकी है न थोड़ी? यहाँ समाधितन्त्र है, यह अधिकार। आत्मा का धर्म कैसे हो? और समाधि अर्थात् शान्ति कैसे मिले, तो कहते हैं कि यह आत्मा अपनी जाति है। परमात्मस्वरूप चिदानन्द आत्मा है। उसके स्वरूप शुद्ध चैतन्य के सन्मुख होकर जो आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति अन्तर एकाग्रता से प्रगट हो, उसे समाधि कहते हैं, उसे धर्म कहते हैं। उसे मोक्ष का मार्ग कहते हैं। समझ में आया? लोगस्स में नहीं आता अपने? 'समाहिवरमुत्तं दिंतु' सामायिक के पाठ में आता है। पढ़ा है? पण्डितजी!

मुमुक्षु : दुक्ख खहो, कम्म खहो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं। 'समाहिवरमुत्तं दिंतु' सामायिक में आता है। सामायिक होती है न वहाँ? तुम्हारे तो आता है न पहले से। पहाड़े बोले। आहाहा! 'समाहिवरमुत्तं दिंतु' हे परमात्मा! यह तो स्वयं देखे नहीं परन्तु यह तो अपनी जो भावना है न, इसलिए

कहते हैं, 'समाहि...' आत्मा को पुण्य-पाप के जो भाव होते हैं, वह दुःख है, अशान्ति है।

यहाँ कहते हैं कि **जीव त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है।** आत्मा तो प्रज्ञाब्रह्म चिदानन्द स्वरूप त्रिकाली है। उसकी अन्तर्दृष्टि करके आत्मा में शान्ति का अंश प्रगट करना, उसका नाम धर्म और समाधि और मोक्षमार्ग है। आहाहा! कोई व्रत का विकल्प, तप का विकल्प करता है कि मैं ऐसे उपवास करूँ। वह सब तो राग है। वह कोई धार्मिक क्रिया नहीं है। वजुभाई! त्रिकाली ज्ञानस्वरूप है। आहाहा! नित्यानन्द प्रभु ध्रुवस्वरूप उसको पकड़कर एकाग्र होना, एकाग्र हो, उसका नाम धर्म है। आहाहा! अज्ञानी अपनी चीज़ कैसी है, उसको मानते नहीं। थोड़ा हिन्दी आ गया।

भगवान आत्मा ज्ञान का पिण्ड प्रभु है। ज्ञानस्वरूप। जिसमें शरीर नहीं, कर्म नहीं, वाणी नहीं और जिसमें पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प उठता है, वह राग है, वह भी उसमें नहीं है। आहाहा! ऐसी चीज़ को अन्दर में पकड़ करके... आहाहा! वह आत्मज्ञान। अन्तर में लीन होना उसका नाम धर्म है, वह मोक्ष का मार्ग है। बाकी सब क्रियाकाण्ड करो, लाख-करोड़ व्रत, तप, भक्ति, पूजा, दान और दया, सब राग की क्रिया है। लक्ष्मीचन्दजी! आहाहा! वह तो संसार दे। राग की क्रिया, संसार परिभ्रमण का कारण है। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं कि **जीव, त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है। उसको बहिरात्मा...** अन्तर स्वरूप ऐसा है ज्ञानानन्दस्वभाव, उस ओर की नजर के अभाव में... वह चीज़ आत्मा परमात्मस्वरूप अन्दर है। आहाहा! उस तरफ की नजर, दृष्टि छोड़कर, बहिरात्मा अज्ञानवश अपने स्वरूप को जानता नहीं। आहाहा! दूसरे को जानने में प्रवीण। इन्द्रियों द्वारा दूसरे पदार्थों को जानने से दूसरे पदार्थ का ज्ञान होता है। वह भी अपनी पर्याय में अपने कारण से होता है। परन्तु उसमें-पर में ज्ञान को रोकने से अपने आत्मज्ञान से वंचित होता है। अपना ज्ञान करने में वह पराङ्मुख हो जाता है। आहाहा! समझ में आया? कैसे?

अज्ञानवश नहीं जानता... क्या? भगवान त्रिकाली त्रिकाल स्वरूप ज्ञान, नित्यानन्द प्रभु, वह बहिरात्मा बाह्य को ही अपना माननेवाला अपने में अज्ञानवश उसको (अपने को) जानता नहीं। आहाहा! **और बाह्य इन्द्रियगोचर पदार्थ,...** जो इन्द्रियगम्य बाह्य

पदार्थ है। आहाहा! **जो मात्र ज्ञेयरूप हैं...** ज्ञान में ज्ञेय है। दूसरी चीज़ है। चाहे तो सर्वज्ञ परमात्मा हो या चाहे तो देव-गुरु हो या चाहे तो शास्त्र को, चाहे तो मन्दिर और प्रतिमा हो। सभी... आहाहा! बाह्य इन्द्रियगम्य पदार्थ मात्र ज्ञेयरूप जाननेयोग्य है। बस!

उनमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके... अनुकूल पदार्थ देखकर... दूसरी चीज़ है, उसमें कोई अनुकूलता-प्रतिकूलता की छाप नहीं है, ट्रेडमार्क नहीं है कि यह अनुकूल है और यह प्रतिकूल है। वह तो ज्ञेय अर्थात् अपने ज्ञान में जाननेयोग्य चीज़ है। ऐसी चीज़ में दो भाग पाड़ देते हैं अज्ञानी। हैं? **इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके...** शरीर सुन्दर हो तो ठीक, स्त्री सुन्दर-गोरी मिले तो ठीक। ऐसा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जाननेयोग्य परज्ञेय पदार्थ में दो भाग कर देता है। आहाहा! समझ में आया?

एक ओर भगवान त्रिकाली ज्ञान लिया न? त्रिकाली ज्ञानस्वरूप ही है। और परवस्तु अपने अतिरिक्त शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देव-गुरु-शास्त्र... आहाहा! वे तो ज्ञान में जाननेयोग्य ज्ञेय पदार्थ हैं। जाननेयोग्य वह पदार्थ है। वह पदार्थ इष्ट-अनिष्ट है नहीं। पोपटभाई! ये लड़के होशियार हुए तो बहुत अच्छा हुआ, कमाये। कर्मी जगे। ऐसा नहीं कहते? हमारे बेटे कर्मी हैं। कर्मी अर्थात् कर्म करनार-पाप।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी पैसा कमाता नहीं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, भगवान अत्मा चैतन्य प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप, आनन्दस्वरूप और ज्ञानस्वरूप है। आहाहा! उसके सिवा... अरे! अन्दर में राग हो, पुण्य का भाव हो, दया का भाव हो या पर चीज़ शरीर या कुटुम्ब आदि हो या देव-गुरु-शास्त्र हो, मन्दिर और प्रतिमा हो... आहाहा! वह ज्ञान में ज्ञेय जाननेयोग्य है। ऐसा न मानकर अज्ञानी इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करते हैं। यह इष्ट है। हमारे करीबी लोग हैं। पोपटभाई! करीबी लोग हैं। गुप्त बात करनी हो तो हम उसके साथ कर सकते हैं। ...समझ में आया? वस्तु पर है, वह अपने ज्ञान में जाननेयोग्य है। बस! इससे अतिरिक्त वह ऐसा मानता है कि यह चीज़ मुझे इष्ट लगती है, यह चीज़ मुझे अनिष्ट लगती है। बस! वह मिथ्यात्वभाव है। भ्रमभाव है, झूठा भाव है, पापभाव है। चौरासी लाख की योनि में, गन्दगी में उत्पन्न करने का स्थान है वह। आहाहा! समझ में आया?

अनिष्ट की कल्पना करके, अपने को सुखी-दुःखी,... पैसे पाँच-पचास लाख, करोड़, दो करोड़, पाँच करोड़, दस करोड़ और अरब हमें मिले, हम सुखी हैं। मूढ़ मानता है। पापी, आत्मा के स्वभाव को छोड़कर पर में सुख है और पर से सुख है, ऐसी मान्यता में आत्मा की शान्ति का ह्रास-नाश होता है। समझ में आया? कहते हैं अपने को सुखी। हम सुखी हैं। बाल-बच्चा और लक्ष्मी, व्यापार-धन्धा और हमारा मुनिम भी बड़ा काम का मिला है कि वह हमारा काम बड़ा अच्छा कर लेता है। हम सुखी हैं। तो कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि ऐसा मानते हैं। झूठी दृष्टि उसकी है। सुख तो अपने आत्मा में है। आनन्दस्वरूप है, सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसके सुख का तो अनादर करते हैं। और पर में सुख है, पर से (सुख है), वही मिथ्यात्व की दशा आत्मा की शान्ति की हिंसा करनेवाली है।

और अनिष्ट-दुःखी। मैं निर्धन हूँ, मैं बाँझ हूँ, कुँवारा हूँ, कोई साधन नहीं, रोटी का साधन नहीं, स्थान का साधन नहीं-रहने का (साधन) नहीं, मैं दुःखी हूँ। वह भी मूढ़ जीव है। समझ में आया? सुख तो आत्मा आनन्दमूर्ति है। पर में सुख-दुःख मानते हैं, ऐसी कल्पना, वही दुःख है। परवस्तु दुःख का कारण है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

सुखी-दुःखी, धनवान-निर्धन,... लो, ये धनवान आया। मैं धनवान हूँ, मैं पैसेवाला हूँ, मैं गर्भश्रीमन्त हूँ, मैं तो माता के पेट में आया, तब से श्रीमन्त हमारे पिताजी थे। श्रीमन्त के घर हमारा जन्म हुआ। हम धनवान हैं। मूर्ख है, कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! धन तो अपने अन्दर में आनन्द और ज्ञानलक्ष्मी से भरा पड़ा आत्मा है। उसका अपना स्वीकार करके धनवान होना, वह अपना धन (है)। वह धनवान छोड़कर लक्ष्मी में मैं धनवान हूँ, मैं निर्धन हूँ... आहाहा! वह अज्ञानी की कल्पना मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया?

मैं बलवान हूँ। मेरा शरीर बलवान बड़ा है। वह नहीं था? कौन? गामा। गामा का सुना था, बहुत जोर (था)। एक मोटर को ऐसे रखे, एक मोटर को ऐसे रखे। दोनों मोटर को खड़ी कर दे। वह मरते समय... क्या नाम बताया? गामा? अखबार में आया

था। पीछे डॉक्टर पहचानवाला बैठा है। मक्खी आयी, मक्खी। अखबार में आया था। कहाँ गया मेरा बल? सुन न! बल तो जड़ की चीज़ है। मैं बलवान हूँ, कहाँ से आया? समझ में आया? वह भ्रम है। मैं आत्मा ज्ञान हूँ, आनन्द हूँ—ऐसा छोड़कर, मैं शरीर से बलवान हूँ, ऐसी मान्यता भ्रम-असत्य है, झूठी श्रद्धा है और झूठी श्रद्धा का फल संसार में रुलना, दु:ख है। आहाहा! समझ में आया?

और मैं **निर्बल...** हूँ। निर्बल तू कहाँ है? वह तो शरीर कमजोर हो जाये। शरीर में कमजोरी हो जाये, वह तो जड़ की दशा है। भगवान आत्मा निर्बल कहाँ है? आहाहा! शरीर की शक्ति कम होने से मैं निर्बल हूँ, ऐसी मान्यता झूठी, पाखण्ड दृष्टिवन्त की है। आहाहा! समझ में आया? और मैं **सुरूप-...** हूँ। सुन्दर... सुन्दर... स्वरूप मेरा है। ये तो मिट्टी-धूल है। धूल का रूप है, वह तो जड़ का है। तेरा है? आहाहा! क्षण में रूप में... ये क्या कहते हैं तुम्हारे? हार्ट-हार्ट (अटेक) । जाओ! ये अभी चल बसे न। शान्तिलाल खुशाल, गोवावाले। ...उसके पास दो अरब चालीस करोड़ रुपये। दो अरब चालीस करोड़। दशाश्रीमाली बनिया था। ऐई! उसके बहन की लड़की यहाँ है न, बालब्रह्मचारी है। दु:खता है। रात को डेढ़ बजे उठा। उसकी बहू को कुछ हुआ था। क्या कहते हैं? हेमरेज कहते हैं न? असाध्य हो गयी थी। तो मुम्बई इलाज के लिये जाये। उसमें स्वयं को ... रात को डेढ़ बजे... बुलाओ डॉक्टर को। वह नहीं थे मुम्बई, भाई! मुम्बई। उसके समधी हैं। कान्तिलाल? कान्तिभाई। कान्तिभाई है न? वहाँ देरासर के पास मकान है। उसने कहा, मैं खड़ा था। इतना बोले, डॉक्टर को बुलाओ। मैं डॉक्टर को बुलाने जाता हूँ, वापस आया तो मर गये। दस मिनिट। धूल भी तेरी चीज़ नहीं है। शरीर तेरा नहीं है तो लक्ष्मी कहाँ से आयी?

मैं **सुरूप**- हूँ। यह तो जड़ की होली है। जड़ की दशा है, यह तो मिट्टी की। मैं सुरूप हूँ, मैं **कुरूप,...** हूँ। आहाहा! ऐसी मान्यता अज्ञानी, परचीज़ जाननेयोग्य एक प्रकार की है, उसमें दो भाग डाल देते हैं। सूक्ष्म बात है, भगवान! यह तो सूक्ष्म बात धर्म की-वीतराग की है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव का फरमान है यह। तो तुम कैसे भूले? जो चीज़ तू ज्ञायक जाननेवाला है, वह चीज़ तो जाननेयोग्य उतनी चीज़

है। उसके अतिरिक्त तुम ऐसा मान लेते हो कि मैं सुरूप हूँ। वह तो जड़ है। वह तो ज्ञान में जाननेयोग्य चीज़ है। ऐसा न जानकर, यह सुरूप ही मैं हूँ, कुरूप ही मैं हूँ। आहाहा! राजा मैं हूँ। बड़ा पाँच-पच्चीस करोड़ की कमाई है महीने की। राजा हूँ बड़ा। हाथी ... धूल में भी नहीं है राजा। राजा कहाँ से आया? तुम तो आत्मा हो। ऐसा छोड़कर अपने को राजा मानता है, वह मूढ़ है। मिथ्या अर्थात् झूठी-असत्य दृष्टि सेवनेवाला है। और झूठ का सेवन करने का फल झूठ होता है।

रंक,... हूँ। मैं तो गरीब हूँ, भैया! गरीब तुम कहाँ हो? तेरा आत्मा तो भिन्न चीज़ है। मैं गरीब हूँ, मेरे घर कोई स्त्री नहीं। हाथ से रोटी करके खाता हूँ। मैं गरीब हूँ। वह उसकी असत्य मान्यता मूढ़ की है। **इत्यादि होना मानता है।**

विशेष :- मिथ्या अभिप्रायवश अज्ञानी मानता है कि... झूठे अभिप्राय श्रद्धा के वश ऐसा मानते हैं। समझ में आया? **मिथ्या अभिप्रायवश...** अभिप्राय अर्थात् श्रद्धा। **अज्ञानी मानता है कि शरीर उत्पन्न होने से मेरा जन्म हुआ,...** शरीर उत्पन्न हुआ तो (कहे), आज मेरी जन्मजयन्ती है। ५० वर्ष, ६० वर्ष पर करते हैं न? जन्मजयन्ती। आज मेरी जन्मजयन्ती है। तेरी जन्मजयन्ती है? शरीर उत्पन्न हुआ उसमें तू आया? वह तो शरीर का जन्म है। समझ में आया? आहाहा!

शरीर उत्पन्न होने से मेरा जन्म हुआ; शरीर का नाश होने से मैं मर जाऊँगा;... मरे कौन? भगवान तो त्रिकाल अविनाशी आत्मा है। उसका जन्म कहाँ और मरण कहाँ? समझ में आया? मैं मर गया, मैं मर जाता हूँ, मैं अब चला जाता हूँ, मर जाता हूँ। आहाहा! मूढ़ मानते हैं, कहते हैं। **मैं मर जाऊँगा,...** देखो! शरीर का नाश होने से मैं मर जाऊँगा। मैं मर गया शरीर का नाश होने से। कौन मरे? बापू! आहा!

शरीर की उष्ण अवस्था होने पर, मुझे बुखार आया... बुखार तो शरीर को आता है। बुखार उष्ण होता है, आत्मा उष्ण है? आहाहा! पाँच डिग्री बुखार आया, मेरा दिमाग घूम गया। ऐई! डॉक्टर के लिये इधर-उधर दौड़ता है। डॉक्टर-डॉक्टर। पाँच डिग्री चढ़ गया, अभी छह-सात हो जायेगा। जल्दी करो... जल्दी करो... दवा लाओ... दवा लाओ। ...शरीर तो जड़ है। उसको बुखार तो जड़ में आया है। तेरे अस्तित्व में है?

तेरे अस्तित्व में आया है? जड़ के अस्तित्व में आया है। आहाहा! खबर नहीं, कुछ खबर नहीं। अन्धे अन्ध चला। अन्धा दिखाये और अन्धा चले। आहाहा! धर्म की खबर नहीं परन्तु सत्य चीज़ क्या है और कैसे मैं पर को मानता हूँ और कैसे मैं अपने को नहीं मानता हूँ। अपने को नहीं मानता हूँ, मालूम नहीं कुछ। कहते हैं कि शरीर की उष्ण अवस्था हुई, मुझे बुखार आया?

शरीर की भूख,... मुझे भूख लगी है। भूख तो जड़ की अवस्था है। तुम तो अरूपी आत्मा भिन्न हो। समझ में आया? **प्यास,...** मुझे प्यास लगी है। आहाहा! मेरा गला सूख रहा है। मौसम्बी लाओ, आईसक्रीम लाओ, अमुक लाओ। आहाहा! प्रभु! तू कौन है, तुझे खबर नहीं, भाई! तुम चैतन्यस्वरूप हो, चैतन्य चमत्कार हीरा है। आहाहा! अन्दर तेरी चीज़ चैतन्य चमत्कार से हीरा भरा पड़ा है। ऐसा तुम अपने को मानते नहीं और यहाँ ऐसा मानता है कि मुझे रोग आ गया, मैं दु:खी हुआ, प्यास लगी। आहाहा!

आदिरूप अवस्था होने पर, मुझे भूख-प्यास लगी; शरीर के कटने से मैं कट गया,... रेल में कट जाता है या नहीं? रेल में। वहाँ मुम्बई में बहुत होता है। मुम्बई में हर रोज एक-दो-तीन-चार मरते हैं बस में। हम तो वहाँ से निकले तो देखा, आदमी मर गया। पुलिस इकट्ठी हुई। सुबह से निकला हुआ शाम को घर आये तो ठीक, वरना समाप्त हो जाता है। मेरा शरीर कट गया। मेरा नाक कट गया, मेरा हाथ टूट गया, मेरा... अवयव टूट गया। वह सब जड़ का है। मिट्टी-धूल है। तो यह अवयव मेरा कट गया और मैं कट गया ऐसा मानना इत्यादि। **इस प्रकार वह अजीव की अवस्था को,...** वह तो जड़ की अवस्था है। वह **अपनी (आत्मा की) अवस्था मानता है।** आहाहा!

अब यह मोक्षमार्ग की बात है थोड़ी। मोक्षमार्गप्रकाशक है न? **अपने को आपरूप जानकर,...** अपना आनन्दस्वरूप ज्ञान, उसको अपना स्वरूप जानकर **पर का अंश भी अपने में नहीं मिलाना...** राग, शरीरादि का अंश भी आत्मा में मिलान करना नहीं। आहाहा! **और अपना अंश भी पर में नहीं मिलाना...** ज्ञान की पर्याय जड़ से हुई है, ऐसे मिलाना नहीं। समझ में आया? **ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता।** सच्ची श्रद्धा

सत्य का सत्यरूप से और असत्य की असत्यरूप श्रद्धा करता नहीं और भ्रम से अनादि से परिभ्रमण करता है।

जैसे, अन्य मिथ्यादृष्टि निर्धार बिना... झूठी दृष्टिवन्त निर्णय के बिना **पर्यायबुद्धि से जानपने में...** मोक्षमार्गप्रकाशक। जानपनारूप है न क्षयोपशमज्ञान की पर्याय-विकास। उस जानपने में **व वर्णादि में...** इस शरीर के वर्णादि में **अहंबुद्धि धारण करते हैं,...** जानने की दशा आदि मैं और शरीर की रंग, गन्ध की अवस्था भी मैं। ऐसे मूढ़ जीव, भ्रमणा करनेवाला अज्ञानी ऐसा मानते हैं।

उसी प्रकार यह भी आत्माश्रित ज्ञानादि में... जानने की पर्याय उसमें और **और शरीराश्रित उपदेश-उपवासादि क्रियाओं में...** शरीराश्रित यह उपदेश होता है, वह तो ... जड़ की है। आहाहा! और उपवास। उपवास करने से शरीर ... तो मेरा शरीर कम हो गया। वह सब अवस्था तो जड़ की है। **शरीराश्रित उपदेश-...** मैं उपदेश करता हूँ, उपदेश की वाणी मेरी है। आहाहा! मैं अच्छा भाषण कर सकता हूँ, मैं जोरदार भाषण कर सकता हूँ। मूढ़ है। ये जड़ है। यह भाषा निकलती है, वह जड़ की है। आहाहा!

शरीराश्रित उपदेश-उपवासादि क्रियाओं में अपनत्व मानता है। ...तथा पर्याय में जीव-पुद्गल के परस्पर निमित्त से अनेक क्रियायें होती हैं,... क्या कहते हैं? बोलना, आदि शरीर की क्रिया जो होती है, वह स्वतन्त्र जड़ की, उसमें आत्मा का राग का निमित्त ऐसा जानकर निमित्तमात्र है। तो ऐसा न मानकर मैं बोलता हूँ, मैं चलता हूँ, मैं शरीर का सब उपयोग करता हूँ, लक्ष्मी का सदुपयोग करता नहीं? ...शरीर का सद्उपयोग किया। क्या (किया) ? वह तो जड़ है। उसमें क्या कर सकते हैं? लक्ष्मी का सद्उपयोग (किया)। लक्ष्मी तो जड़ है, अजीव है। उसका सदुपयोग कर सकता है आत्मा? दान देना वह सदुपयोग है। भोग में लेना वह असदुपयोग है। वह बात ही झूठी है। आहाहा! समझ में आया?

सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव का यह आदेश है कि तेरी तुझे खबर नहीं है, भैया! आहाहा! तुम कहाँ अपना मानते हो और अपना क्या है (उसे) तुम दृष्टि में से छोड़ देता है, तुझे खबर नहीं। आहाहा! **उपवासादि क्रिया...** देखो! उपवास

की क्रिया, रसत्याग की क्रिया। रस तो जड़ है। आनेवाला नहीं था तो मैंने छोड़ दिया रस खाने का। वह भी जड़ की क्रिया का अभिमान किया। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भगवान! उसे अनादिकाल से बड़ी भूल हो गयी है। वह भूल निकालने की उसको खबर भी नहीं है और भूल निकले तो कैसा होता है, उसकी खबर नहीं। आहाहा! धर्म की क्रिया करे सुबह सामायिक करे, प्रौषध करे, प्रतिक्रमण करे। वह तो जड़ की क्रिया है, वह कहाँ आत्मा की है? उसमें राग मन्द हो तो वह विकार की क्रिया है। समझ में आया? वह कोई आत्मा की क्रिया नहीं। आहाहा!

उपवासादि क्रियाओं में अपनत्व मानता है। अपनत्व मानता है... तथा पर्याय में जीव-पुद्गल के परस्पर निमित्त से अनेक क्रियायें होती हैं, उन्हें दोनों द्रव्यों के मिलाप से उत्पन्न हुई मानता है;... मैं आत्मा और शरीर की क्रिया दोनों मिलकर हुआ है। शरीर ऐसे चलता है और मैं आत्मा उसका राग करता हूँ, तो दो मिलकर शरीर की क्रिया हुई। मूढ़ है। शरीर की क्रिया में तेरा अधिकार कहाँ है? समझ में आया? और तेरी ज्ञान की क्रिया में पर का अधिकार कहाँ है? जानने की पर्याय में शरीर था, इन्द्रिय है तो मुझे ज्ञान होता है। वह मूढ़ है। परद्रव्य से ज्ञान होता है? ज्ञान तो अपनी पर्याय है। समझ में आया? निमित्त को उड़ा देते हैं यहाँ। आयेगा।

पर्याय में जीव-पुद्गल के परस्पर निमित्त से अनेक क्रियायें होती हैं, उन्हें दोनों द्रव्यों के मिलाप से उत्पन्न हुई मानता है;... यह जीव की क्रिया है। जानना... जानना... जानना... जानना... जानना... जानना... वह जीव की क्रिया है। उसमें पुद्गल निमित्त है। फिर भी वाणी आदि पुद्गल की जड़ की क्रिया है, उसमें जीव निमित्त है। **ऐसा भिन्न-भिन्न भाव भासित नहीं होता...** निमित्त का अर्थ 'है', बस इतना। परन्तु मेरे से यह हुआ और उससे मेरे में हुआ (वह अज्ञान है)। आहाहा!

जिसकी मति अज्ञान से मोहित है... अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मज्ञान के भान बिना मति जिसकी मोहित है। **और जो मोह, राग, द्वेष आदि बहुत भावों से सहित है, वह जीव ऐसा कहता है (मानता है) कि ये शरीरादि बद्ध...** समीप है न शरीर, वाणी समीप है। **और धनादि अबद्ध...** लक्ष्मी, धान्य समीप नहीं है। भिन्न है, दूसरे है।

आहाहा! **पुद्‌गलद्रव्य मेरे हैं।** ऐसा मानता है। यह तो पुद्‌गल मिट्टी है, शरीर मिट्टी है, वाणी मिट्टी है, मन अन्दर है। आत्मा विकार करता है तो जड़ मन है रजकण का। उससे मुझे ज्ञान हुआ। ऐसे बद्ध और अबद्ध मेरी चीज़ है। लो, यह धन-धान्य आदि। आदि शब्द से स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, लड़का, लड़कियाँ ये मेरे हैं। ओहोहो! ये लड़का कुछ ठीक है ... ... मेरा नहीं है। परन्तु अन्दर में गुदगुदी होती है कि यह मेरा है। समझ में आया? आहाहा!

बद्ध और अबद्ध चीज़ धान्य-अनाज, शक्कर, गुड़, पकवान, कपड़े, गहने मेरी चीज़ है। यह कोट किसका है? मेरा है। श्रीमद् को ऐसा पूछते तब ऐसा कहते थे, यह कपड़ा किसका? अमारा। अमारा अर्थात्? अ—अर्थात् मेरा नहीं। समझ में आया? अ—मारा है। अ—मारा भाषा ऐसी है कि हमारा है, ऐसा मानते हैं। हमारा (अ-मारा) है। यह यह मेरा नहीं है, ऐसा उसका अर्थ है। आहाहा! **धनादि अबद्ध पुद्‌गलद्रव्य मेरे हैं।** ऐसा मानते हैं।

शरीरादि बाह्य पदार्थों में एकताबुद्धि करने से... शरीर, वाणी, धन, धान्य, लक्ष्मी, इज्जत, कीर्ति, उसमें एकताबुद्धि करने से **अज्ञानी को भ्रम होता है कि...** क्या? **रस, रूप, गन्ध, स्पर्श और शब्द का जो ज्ञान होता है, वह इन्द्रियों से होता है...** खट्टा है, फीका है, मीठा है, तीखा है, ऐसा जो ज्ञान होता है न, तो वह ऐसा मानता है कि यह इन्द्रियों से ज्ञान होता है। ये तो जड़ इन्द्रिय है। वह ज्ञान इन्द्रिय से होता है? अपनी पर्याय में होता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व का मिलाप कर देते हैं। वह मिथ्यात्वभाव, मिथ्या दृष्टि, मिथ्यादर्शन को सेवनेवाला है। आहाहा!

अज्ञानी को भ्रम होता है कि रस... जीभ में रस का ज्ञान होता है न? खट्टा है, मीठा है। वह जानता है कि इन्द्रिय द्वारा मुझे ज्ञान हुआ। इन्द्रिय तो जड़ है। ज्ञान हुआ वह तो तेरी पर्याय में हुआ है। वह रस से ज्ञान हुआ है, इन्द्रिय से हुआ है ऐसा है नहीं। आहाहा! भारी! भ्रमणा भारी, भाई! साधु नाम धरावे, रस खाना छोड़ तो भी ऐसा माने कि यह रस खाता हूँ तो रस से ज्ञान मुझे हुआ। मूढ़ है। साधु नहीं, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! स्वरूप के साधन की तो उसको खबर नहीं। मैं आनन्दकन्द सच्चिदानन्द

प्रभु हूँ। मैं परचीज़ को पररूप से जाननेवाला हूँ, अपने को अपनेरूप जाननेवाला हूँ, ऐसा छोड़कर साधु नाम धारण करके भी ऐसा मानते हैं कि ये रस का ज्ञान मुझे इन्द्रिय से हुआ। रस का ज्ञान मुझे इन्द्रिय से हुआ, स्पर्श का ज्ञान मुझे इन्द्रिय से हुआ, गन्ध का ज्ञान मुझे इन्द्रिय से हुआ। मूढ़ है। आहाहा! मूर्ख है। बहुत परीक्षा करने जाये तो मूर्ख का समूह बहुत निकले।

यहाँ तो बात यह है, भगवान! सुन तो सही। तुम ज्ञानस्वरूप हो, चैतन्यस्वभाव हो। तो चैतन्यस्वभाव में जो पर का ज्ञान होता है, वह अपने से होता है। पर से नहीं। समझ में आया? इन्द्रिय से विषयभोग करता है तो स्पर्श जो है, ठण्डा मुलायम, तो मुलायम कहते हैं न? ज्ञान होता है मुलायम का ज्ञान। ऐसा हुआ तो, ये मुलायम है तो उससे मुझे ज्ञान हुआ। मुलायम तो जड़ है। अजीव से ज्ञान होता है आत्मा में? कुछ खबर नहीं। अनादि से भ्रम में पड़ा है। आहाहा! धर्म के नाम पर भी मैं पर की दया पाल सकता हूँ, पर की हिंसा कर सकता हूँ, वह तो भ्रम है। आहाहा! पर तत्त्व की अवस्था मैं कर सकता हूँ, परतत्त्व-पर का जीवन रहा तो उसको मैंने जीवित रखा, समझ में आया? और मैंने उसको मार डाला। किसको मारे? भाई! सुन तो सही। उसकी अवस्था शरीर से भिन्न हो, वह तो उसके कारण से होती है? तेरे कारण से होती है? भारी काम, भाई! कहो, सुजानमलजी! आहाहा!

मुमुक्षु : ये मान्यता कब छूटे?

पूज्य गुरुदेवश्री : माना तो है उल्टा अनादि से। वह मान्यता छोड़े तो छूटे। अपने आप छूटे, ऐसा नहीं। अपने उदाहरण नहीं देते? वृक्ष को आलिंगन करके (मानता है कि) मुझे वृक्ष ने पकड़ किया है। वृक्ष न किया? तुम छोड़ दो तो छूट जाये। परवस्तु को अपनी मानता है तो पकड़ा गया है। वह अपने कारण से पकड़ा गया है। छोड़ दे उसको। मैं तो आत्मा ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ। मैं पर का करनेवाला नहीं, पर का नाश करनेवाला नहीं, पर की रक्षा करनेवाला नहीं और पर से मेरे में ज्ञान होता है, वह भी मैं नहीं। आहाहा! समझ में आया?

तथा घट-पटादि का जो ज्ञान होता है, वह बाह्य पदार्थों से होता है,... ऐसा

मानता है। कपड़ा देखता है न कपड़ा? यह रेशमी कपड़ा है। तो वह रेशमी कपड़ा से रेशमी कपड़ा का ज्ञान हुआ। मूढ़ है। वह तो पर चीज़ है। उससे यहाँ ज्ञान होता है? जिसमें ज्ञान है, उसमें ज्ञान होता है, उसके कारण से ज्ञान होता है। कपड़े में ज्ञान है? **घट-पटादि...** पट अर्थात् वस्त्र। घड़े का ज्ञान होता, वह बाह्य पदार्थों से होता है। उस पदार्थ की अस्ति है तो मुझे उस ओर का ज्ञान हुआ। झूठ है। ज्ञान तो अपनी पर्याय है। अपने में होता है, अपने कारण से होता है। इन्द्रिय से होता है, ऐसा मानना मूढ़ है। आहाहा! आँख फूट जाये तो न देख सके, लो। आँख बराबर है तो जान सकता है या नहीं? जानने का अस्तित्व तो तेरे में है। उसके अस्तित्व से तेरी जानने की पर्याय हुई? ये निमित्त से हुई माननेवाले ऐसे हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

किन्तु उसे ज्ञात नहीं है कि जीव को जो ज्ञान होता है, वह अपनी ज्ञानगुणरूप उपादानशक्ति से होता है। इन्द्रियाँ और घट-पटादि पदार्थ तो जड़ हैं, उनसे ज्ञान नहीं होता; ज्ञान होने में वे तो निमित्तमात्र हैं। उपस्थिति है। परन्तु उससे ज्ञान होता नहीं। ये समय-समय की भूल कैसे कर रहा है, वह बताते हैं। अक्षर पढ़ते हैं तो ज्ञान होता है। अक्षर से हुआ? अक्षर में ज्ञान है? वह तो जड़ है। जिसमें ज्ञान है, उससे ज्ञान से ज्ञान होता है। पोपटभाई! बहुत सूक्ष्म ऐसा। बहुत सूक्ष्म कब बैठे? नहीं बैठे तो भटकेगा चौरासी के अवतार में। आहाहा! **इन्द्रियाँ और घट-पटादि पदार्थ तो जड़ हैं, उनसे ज्ञान नहीं होता; ज्ञान होने में वे तो निमित्तमात्र हैं।**

इस प्रकार बहिरात्मा अपने ज्ञानात्मकस्वभाव को भूलकर... मैं तो ज्ञाता-दृष्टा चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा हूँ। आहाहा! मैं किसी से जाननेवाला नहीं, किसी को बतानेवाला नहीं। आहाहा! मैं भाषा करनेवाला नहीं, मैं शरीर रचानेवाला नहीं, खाने की क्रिया मुझसे होती नहीं। आहाहा! ये तो जड़ है। पीने की क्रिया मुझसे होती नहीं, वह तो जड़ की क्रिया है। आहाहा! कहते हैं, अपना ज्ञानस्वरूप मैं तो चिद्घन आत्मा, मैं प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप हूँ। ज्ञानस्वभाव मेरा है, ऐसा भूलकर, उसको छोड़कर शरीरादि में परपदार्थ में अपना अस्तित्व मानते हैं। अपना होनापना पर शरीरादि में मानते हैं। इन्द्रियों से ज्ञान हुआ तो ... इन्द्रिय मैं हूँ। आहाहा! उससे ज्ञान हुआ, शरीर से हुआ, अक्षरों से हुआ। तो उसका अर्थ वही चीज़ मैं हूँ। ऐसी मान्यता, भ्रम अनादि से सेवते हैं। त्यागी

अनन्त बार हुआ, साधु अनन्त बार हुआ लाखों स्त्रियाँ छोड़कर, परन्तु यह चीज़ उसको समझ में नहीं आयी। समझ में आया?

'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, मुनिव्रत धार अनन्त बार...' मुनिपना हुआ, नग्न दिगम्बर हुआ अनन्त बार। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक...' स्वर्ग में गया। ये ग्रीवा है न, ग्रीवा? उसके स्थान में ग्रैवेयक है वहाँ। लोक है, वह पुरुष के आकार से है। ये चौदह ब्रह्माण्ड पुरुषाकार है। ग्रीवा के स्थान में वैमानिक देव है। उसमें मुनिव्रत लिया, हजारों रानी राजपाट छोड़कर ब्रह्मचर्य शरीर का पाला। वह क्रिया पर की है। 'पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायौ' आत्मा का ज्ञान बिना आनन्द न आया उसको। वह पंच महाव्रत की क्रिया भी दुःखरूप है। बराबर है? लक्ष्मीचन्दजी! पंच महाव्रत दुःखरूप! आस्रव है, दुःख है। आहाहा! पर की दया पालने का राग दुःख है। आहाहा! ऐसी बात है। इसे समझे नहीं, कठिन पड़े। परन्तु क्या करें? मार्ग तो ऐसा है, भाई! तुझे सत्य और असत्य की विवेकता, भिन्नता भासित नहीं हुई। आहाहा! क्रिया आदि की, महीने-महीने के उपवास अनन्त बार किये। छह-छह महीने का उपवास अनन्त बार किया। उसमें क्या आया? वह तो राग की मन्दता है। राग की मन्दता तो पुण्यबन्ध का कारण है। वह कोई अबन्धस्वरूप भगवान मोक्ष का मार्ग नहीं है। आहाहा! बड़ी कठिन बात आयी।

श्लोक - ८-९

तच्च प्रतिपद्यमानो मनुष्यादि चतुर्गतिसम्बन्धिशरीराभेदेन प्रतिपद्यते तत्र -

*नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्।
तिर्यञ्च तिर्यगङ्गस्थं सुरांगस्थं सुरं तथा॥ ८॥
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
अनंतानंतधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः॥ ९॥

नरस्य देहो नरदेहः तत्र तिष्ठतीति नरदेहस्थस्तमात्मानं नरं मन्यते। कोऽसौ? अविद्वान् बहिरात्मा। तिर्यंचमात्मानं मन्यते। कथंभूतं? तिर्यगङ्गस्थं तिरश्चामङ्गं तिर्यगङ्गं तत्र तिष्ठतीति तिर्यगङ्गस्थस्तं। सुराङ्गस्थं आत्मानं सुरं तथा मन्यते॥८॥

नारकमात्मानं मन्यते। किंविशिष्टं? नारकाङ्गस्थं। न स्वयं तथा नरादिरूप आत्मा स्वयं कर्मोपाधिमंतरेण न भवति। कथं? तत्त्वतः परमार्थतो न भवति। व्यवहारेण तु यदा भवति तदा भवतु। कर्मोपाधिकृता हि जीवस्य मनुष्यादि-पर्यायास्तन्निवृत्तौ निवर्तमानत्वात् न पुनर्वास्तवा इत्यर्थः। परमार्थतस्तर्हि कीदृशोऽसा-वित्याह-अनन्तानन्तधीशक्तिः धीश्च शक्तिश्च धीशक्ती अनन्तानन्ते धी शक्ती यस्य। तथाभूतोऽसौ कुतः परिच्छेद्य इत्याह-स्वसंवेद्यो ''निरुपाधिकं हि रूपं वस्तुनः स्वभावोऽ-भिधीयते''। कर्माद्यपाये चानन्तानन्तधीशक्तिपरिणत आत्मा स्वसंवेदनेन वेद्यः। तद्विपरीतपरिणत्यनुभवस्य संसारावस्थायां कर्मोपाधिनिर्मितत्वात्। अस्तु नाम तथा स्वसंवेद्यः कियत्काल-मसौ न तु सर्वदा पश्चात् तद्रूपविनाशादित्याहअचलस्थितिः अनंतानंतधीशक्तिस्वभावेनाचला स्थितिर्यस्य सः। यैः पुन-र्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः॥९॥

---

* सुरं त्रिदशपर्यायैस्तथानरम्। तिर्यञ्च च तदङ्गे स्वं नारकाङ्गे च नारकम्॥३२-१३॥
वेत्त्यविद्यापरिश्रान्तो मूढस्तत्र पुनस्तथा। किन्त्वमूर्तं स्वसंवेद्य तद्रूपं परिकीर्तितम्॥३२-१४॥

अर्थात्, अविद्या (मिथ्याज्ञान) से परिश्रान्त (खेदखिन्न) मूढ बहिरात्मा, देव के पर्यायोंसहित आत्मा को तो देव मानता है और मनुष्यपर्यायोंसहित अपने को मनुष्य मानता है, तथा तिर्यञ्च के अङ्ग में रहते हुए को तिर्यञ्च और नारकी के शरीर में रहते हुए को नारकी मानता है, सो भ्रम है क्योंकि पर्याय का रूप, आत्मा का रूप नहीं है। आत्मा का रूप तो अमूर्तिक हैं, स्वसंवेद्य है अर्थात् अपने द्वारा ही अपने को जाननेयोग्य है। *(श्री ज्ञानार्णव, शुभचन्द्राचार्यः)*

....और उसका प्रतिपादन करके मनुष्यादि चतुर्गति सम्बन्धी चार भेद से जीवभेद का उसमें प्रतिपादन करते हैं —

तिर्यक में तिर्यञ्च गिन, नर तन में नर मान।
देव देह को देव लख, करे मूढ़ पहिचान॥ ८॥

नारक तन में नारकी, पर नहीं यह चैतन्य।
है अनन्त धी शक्तियुत, अचल स्वानुभवगम्य॥ ९॥

अन्वयार्थ - (अविद्वान्) मूढ़ बहिरात्मा, (नरदेहस्थं) मनुष्यदेह में स्थित (आत्मानं) आत्मा को, (नरम्) मनुष्य; (तिर्यङ्गस्थं) तिर्यञ्चशरीर में स्थित आत्मा को, (तिर्यंचं) तिर्यञ्च; (सुराङ्गस्थं) देव के शरीर में स्थित आत्मा को, (सुरं) देव, (तथा) और (नारकाङ्गस्थं) नारकी के शरीर में स्थित आत्मा को, (नारकं) नारकी (मन्यते) मानता है किन्तु (तत्त्वतः) वस्तुतः (स्वयं) स्वयं आत्मा (तथा न) वैसा नहीं है अर्थात् वह मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारकीरूप नहीं; (तत्त्वस्तु) किन्तु वास्तविकरूप से यह आत्मा, (अनंतानंतधी-शक्तिः) अनन्तानन्त ज्ञान और अनन्तानन्त शक्ति (वीर्य) रूप है, (स्व -संवेद्य) स्वानुभवगम्य है-अपने अनुभवगोचर है और (अचल स्थितिः) अपने स्वरूप में सदानिश्चल-स्थिर रहनेवाला है।

टीका - नर का देह, वह नरदेह। उसमें रहता है, इस कारण नर देहस्थ। वह (नर के देह में रहनेवाला) आत्मा को, नर मानता है। वह कौन (ऐसा मानता है ?) अविद्वान-बहिरात्मा (ऐसा मानता है)। तिर्यञ्च को, आत्मा मानता है। कैसे (तिर्यञ्च) को ? तिर्यञ्चों के शरीर में रहनेवाले। तिर्यञ्च का शरीर, वह तिर्यञ्चशरीर-उसमें रहता है, इस कारण तिर्यञ्चस्थ-उसे (आत्मा मानता है)। इसी प्रकार देवों के शरीर में रहनेवाले (आत्मा) को, देव मानता है।

नारक को आत्मा मानता है। कैसे (नारक को) ? नारकी के शरीर में रहनेवाले को। आत्मा स्वयं नरादिरूप नहीं; कर्मोपाधि बिना वह स्वयं होता नहीं। किस प्रकार ? तत्त्वतः, अर्थात् परमार्थ से वह (वैसा) नहीं, किन्तु व्यवहार से हो तो भले हो। जीव की मनुष्यादि पर्याय, कर्मोपाधि से हुई हैं। उस (कर्मोपाधि) के निवृत्त होने पर / मिटने पर, वे (पर्यायें) निवृत्त होती होने से, वास्तव में (वे पर्यायें, जीव की) नहीं — ऐसा अर्थ है।

तब परमार्थ से वह (आत्मा) कैसा है? वह कहते हैं। वह अनन्तानन्तधीशक्ति अर्थात् अनन्तानन्त ज्ञान और शक्तिवाला है। वैसा वह किस प्रकार जाना जा सकता है — (अनुभव किया जा सकता है) ? वह कहते हैं। वह स्वसंवेद्य है। निरुपाधिकरूप ही वस्तु का स्वभाव कहलाता है। कर्मादि का विनाश होने पर, अनन्तानन्त ज्ञान-शक्तिरूप से परिणत आत्मा, स्वसंवेदन में ही वेदन किया जा सकता है। वह संसार अवस्था में कर्मोपाधि से निर्मित होने से, उससे विपरीत परिणति का अनुभव होता है।

वैसा स्वसंवेद्य (आत्मा) भले हो, किन्तु वह कितने काल? सर्वदा तो नहीं होता, कारण कि बाद में उसके रूप का नाश होता है।(—ऐसी शङ्का का परिहार करते हुए) कहते हैं कि उसकी (आत्मा की) स्थिति अचल है क्योंकि अनन्तानन्तधीशक्ति के स्वभाव के कारण, वह अचल स्थितिवाला है।

जो योग और सांख्यमतवालों ने मुक्ति के विषय में आत्मा की, उससे (मुक्ति से) प्रच्युति (पतन) सम्भव माना है, उसके सम्बन्ध में (खण्डनस्वरूप) प्रमेयकमल-मार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र में मोक्षविचार प्रसङ्ग में विस्तार से कहा गया है।

भावार्थ - अज्ञानी जीव, जिन नर-नारकादि पर्यायों को धारण करता है, उन पर्यायोंरूप अपने को मानता है। जीव, वास्तव में उन पर्यायोंरूप नहीं है किन्तु वह स्वानुभवगम्य, शाश्वत और अनन्तानन्त ज्ञान-वीर्यमय है। मुक्त अवस्था में (मोक्ष में), उसकी स्थिति अचल है; वहाँ से (मुक्ति से) उसका कभी भी पतन नहीं होता अर्थात् जीव, मुक्त होने के पश्चात् फिर कभी भी संसार में नहीं आता। योग और सांख्यमतवालों की मान्यता इससे भिन्न है।

विशेष स्पष्टीकरण -

बहिरात्मा, नर-नारकादि पर्यायों को ही अपनी सच्ची अवस्था मानता है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप उनसे भिन्न, कर्मोपाधिरहित, शुद्ध, चैतन्यमय, टंकोत्कीर्ण, एक, ज्ञाता-दृष्टा है, अभेद्य है, अनन्त ज्ञान तथा अनन्त वीर्य से युक्त है और अचल स्थितिरूप है—ऐसा भेदज्ञान (विवेकज्ञान) उसको नहीं होता; इस कारण वह संसार के परपदार्थों में तथा मनुष्यादि पर्यायों में आत्मबुद्धि करता है—उन्हें आत्मा मानता है।

जीव, जिस-जिस गति में जाता है, उस-उस गति के अनुकूल भिन्न-भिन्न स्वांग

धारण करता है। वे स्वांग, अचेतन हैं - जड़ हैं और क्षणिक हैं। उन स्वांगों को धारण करनेवाला जीव, उनसे भिन्न शाश्वत ज्ञानस्वरूप चेतनद्रव्य है। अज्ञानी को अपने वास्तविक स्वरूप का भान नहीं; इस कारण उस बाह्य स्वांग को ही जीव मानकर, तदनुसार वर्तन करता है।

'अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारक, अनादि-निधन, वस्तु आप (आत्मा) है तथा मूर्तिक पुद्‌गलद्रव्यों का पिण्ड, प्रसिद्ध ज्ञानादि को से रहित, नवीन जिनका संयोग हुआ है, ऐसे शरीरादि पुद्‌गल, अपने से पर हैं; इन दोनों के संयोगरूप नाना प्रकार की मनुष्य-तिर्यञ्चादि पर्यायें होती हैं—यह मूढ़ जीव, उन पर्यायों में अहंबुद्धि धारण कर रहा है; स्व-पर का भेद नहीं कर सकता। जो पर्यायें प्राप्त की हों, उसी में अपनापन मानता है;

तथा उस पर्याय में भी जो ज्ञानादि गुण हैं, वे तो अपने गुण हैं और रागादि हैं, वे अपने को कर्मनिमित्त से औपाधिकभाव हुए हैं तथा वर्णादिक हैं, वे अपने गुण नहीं, किन्तु शरीरादि पुद्‌गल के गुण हैं; शरीरादि में भी वर्णादि का व परमाणुओं का नाना प्रकार पलटना होता है, वे सर्व पुद्‌गल की अवस्थाएँ हैं, किन्तु उन सबको यह जीव अपना स्वरूप जानता है। उसको स्वभाव-परभाव का विवेक नहीं हो सकता॥८-९॥'

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३८)

श्लोक - ८-९ पर प्रवचन

और उसका प्रतिपादन करके मनुष्यादि चतुर्गति सम्बन्धी चार भेद से जीवभेद का उसमें प्रतिपादन करते हैं। ८-९।

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्।
तिर्यञ्च तिर्यगङ्गस्थं सुरांगस्थं सुरं तथा॥८॥

नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
अनंतानंतधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः॥९॥

टीका :- टीका है न इस तरफ? **नर का देह, वह नरदेह।** यह देह जड़-मिट्टी। मनुष्य का देह—ये जड़। **उसमें रहता है, इस कारण नर देहस्थ।** देह में रहने से

नरदेहस्थ कहने में आता है। नरदेहस्थ—नर के देह में रहनेवाला। **वह (नर के देह में रहनेवाला) आत्मा को, नर मानता है।** मैं मनुष्य हूँ। आहाहा! यह मनुष्य (देह) जड़ मिट्टी है। आत्मा तो अरूपी भिन्न है उससे। जिसमें रहता है, वह मैं हूँ। किस गाँव का है तू? राजकोट का। कौन-सा गाँव है तुम्हारा? राजकोट। तेरा गाँव होगा? आहाहा! मैं मेरे में हूँ, ऐसी खबर नहीं, इसलिए नरदेह में रहने से मैं नरदेह हूँ। आहाहा! ऐसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि धर्म के नाम पर भी मैं नरदेहस्थ—नरदेह से ... क्रिया करता हूँ। मैं शरीर का सदुपयोग करता हूँ। यह मैं नर हूँ, ऐसा माननेवाला मूढ़ जीव है। समझ में आया? आहाहा!

वह कौन (ऐसा मानता है?) अविद्वान— पाठ ऐसा है न शब्द में? अविद्वान। वह मूर्ख है, ऐसा कहते हैं। चाहे तो ग्यारह अंग पढ़ा हो, नव पूर्व की लब्धि हो, परन्तु नरदेहस्थ—में नर हूँ, मैं देह हूँ और देह की क्रिया मैं करता हूँ, (वह) अविद्वान है। अविद्वान है। आहाहा! भाषा यह है। '**नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्।**' आहाहा! **वह कौन (ऐसा मानता है?) अविद्वान—बहिरात्मा...** जो देह में रहने की चीज़ है तो मैं भिन्न हूँ। मैं देह में रहा हूँ, ऐसा भी नहीं। मैं तो मेरे में हूँ, ऐसा न मानकर, नरदेह में मैं रहा हूँ शरीर में (ऐसा मानता है)। आहाहा!

कलश होता है न? काशीघाट का कलश। लोटा। उसमें पानी है न? ऐसे आकार से पानी रहता है न? नीचे थोड़ा छोटा आकार होता है। पानी का आकार भी ऐसा होता है अन्दर में। पानी का आकार कलश के कारण नहीं। कलश का आकार कलश में और पानी का आकार पानी में है। इस प्रकार ये काशीघाट का कलश-लोटा। लोटा-लोटा नहीं समझते? लोटा कहते हैं न? वैसे ये लोटा है न। ये काशीघाट का लोटा है। ... ऐसा होता है न? यह भी ऐसा होता है। काशीघाट का लोटा ऐसा कहते हैं हमारे यहाँ गुजराती में। जैसे उसमें पानी होता है जल-जल। तो जल का आकार जल में है। लोटे में नहीं। और लोटे का आकार लोटे में है, जल में नहीं। ऐसे यह शरीर का आकार है, वह शरीर में-जल में है। आत्मा अन्दर जो है, वह अपना आकार भिन्न रखता है। आहाहा! पानी पानी में है। पानी लोटे में नहीं। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भगवान!

जल में जल है। जल लोटे में नहीं। लोटा तो जड़ है, दूसरी चीज़ है। ऐसे आत्मा आत्मा में है, शरीर में नहीं। शरीर तो जड़ मिट्टी है। परन्तु ऐसा विचार करने का कहाँ समय है? कमाना, खाना, भोगना मरकर फिर जाना चौरासी में भटकने। ऐसा विचार करने के लिये समय कहाँ है? आहाहा! हिम्मतभाई! ऐसा कहते हैं। नहीं?

बहिरात्मा (ऐसा मानता है)। तिर्यञ्च को, आत्मा मानता है। तिर्यंच का शरीर है न? हाथी-घोड़ा। उसमें आत्मा है तो मैं उसमें रहता हूँ तो मैं हाथी ही हूँ, मैं घोड़ा ही हूँ। आहाहा! लट, चींटी, कौवे में उत्पन्न होता है न? अपनी चीज़ भिन्न है, ऐसी खबर नहीं। तिर्यंच के शरीर में रहनेवाला हूँ तो वही मैं हूँ। शरीर ही मैं हूँ। आहाहा! कीड़ा, कौआ, कुत्ता—ऐसे भव अनन्त किये, अनन्त किये। आहाहा! भूल गया। अनन्त भव। अनादि काल का आत्मा तो है। कोई नया हुआ है? तो रहा कहाँ? अनन्त भव (किये)। समझ में आया? अनेक कमरे में जैसे एक जलता दिया ले जाये, अनेक कमरे में दीपक तो दीपक में है। कमरे में नहीं। वह दीपक तो ऐसे चलता है। समझ में आया? दीपक जड़ है तो क्या माने? यह तो चैतन्य है न। ऐसे शरीर के कमरे अनन्त किये। उसमें से एक देह में से दूसरे देह में। जहाँ-जहाँ रहा वहाँ वह मैं हूँ, ऐसा उसने माना। मैं चैतन्य दीपक तो अन्दर में पर को स्पर्श किये बिना और पर में रहे बिना मैं तो एक भव से दूसरे भव में गति करनेवाला चैतन्य हूँ। समझ में आया? ऐसा न मानकर... आहाहा! तिर्यंच के शरीर में आत्मा (गया तो) मैं तिर्यंच हूँ।

एक राजा की बात आती है। राजा को कहा किसी ऋषि मुनि ने, तुम्हारी सात दिन में मृत्यु है। हें! कहाँ उपजूँगा? तेरी कुतिया है उसमें तू जन्म लेगा। गलुडिया को क्या कहते हैं तुम्हारे में? पिल्ला। आहाहा! देह की स्थिति पूरी होने का (समय) आ गया है। अभी तो तू निरोग हो। कुछ समय में देह छूट जायेगा। कहाँ जाऊँगा? कुत्ता। कैसा? कपाल में सफेद... होता है न? ऐसा होगा। नौकर को हुक्म किया कि, मैं जब जन्म लूँ तो मुझे मार डालना। मैं उसमें नहीं रह सकूँगा। वहाँ जन्म लिया। मारने जाये तो भागे। नहीं। आपने कहा था। लेकिन उसको कहाँ भान है। अभी तो कुछ भान है नहीं। इस प्रकार जहाँ-जहाँ देह में गया, वहाँ-वहाँ अपने को मानकर वहाँ से छूटने की भावना की नहीं। ओहोहो!

अनन्त काल से भटक रहा विना भान भगवान।
सेवे नहि गुरु संत को छोड़ा नहीं अभिमान॥

आत्मसिद्धि में आता है। श्रीमद्।

अनन्त काल से भटक रहा विना भान भगवान।
सेवे नहि गुरु संत को छोड़ा नहीं अभिमान॥

हम जानते हैं, हमको मालूम है। ऐसा-ऐसा अभिमान करके चौरासी के अवतार में चला गया।

यहाँ कहते हैं कि भगवान! तुम तिर्यंच में गये तो तिर्यंचपना माना। **(ऐसा मानता है)। तिर्यञ्च को, आत्मा मानता है। कैसे (तिर्यञ्च) को ? तिर्यञ्चों के शरीर में रहनेवाले। तिर्यञ्च का शरीर, वह तिर्यञ्चशरीर-उसमें रहता है, इस कारण तिर्यञ्चस्थ-उसे (आत्मा मानता है)। इसी प्रकार देवों के शरीर में रहनेवाले (आत्मा) को, देव मानता है।** बहुत पुण्यादि की क्रिया की हो तो देव में जाता है। परन्तु वह गति है भटकने की। देव भी दुःखी है। आहाहा! यहाँ पाँच-पाँच करोड़, पच्चीस करोड़, दो अरबवाले या ज्यादा लक्ष्मीवाले हैं, वहाँ बड़ा बँगला क्या कहते हैं ? भवन है। परन्तु है दुःखी बेचारे देव। समझ में आया ? आहाहा! **देव मानता है।** देव के शरीर में जाये तो देव माने। देव हूँ, सुन्दर हूँ, वैक्रियकशरीर करनेवाला हूँ। आहाहा! मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ। वह देह नहीं। देव मैं नहीं, मैं मनुष्य भी नहीं, तिर्यंच भी नहीं, ऐसा न जाना।

नरक को आत्मा मानता है। नारकी नीचे है न ? बहुत पाप किये हों, माँस खाया, शराब पी, परस्त्री का सेवन (किया)। बहुत पाप करता है तो मरकर नरक में जाते हैं। नीचे नरक है, हों! कल्पना नहीं। नीचे नरकगति है। ... हजार योजन नीचे नारकी असंख्य हैं। अनन्त बार माँस, शराब का सेवन तो मरकर नरक में गया। तो ऐसे नरक के भव भी अनन्त किये हैं। समझ में आया ? मनुष्यपना का भव भी अनन्त किया। इससे नारकी का भव अनन्त किया। असंख्यगुना अनन्त। अनन्त किया उससे। और उससे देव का भव असंख्यगुना किया। अनन्त असंख्यगुना। ओहोहो! वहाँ से मरकर आलू-बटाटा, शक्करकन्द, कन्दमूल, प्याज उसमें जीव है। वहाँ गया तो अनन्त भव किये।

स्वर्ग के भव से अनन्त भव किये उसमें। आहाहा! ये चार गति का जोड़, अनन्त काल में अभी तक रहा उसका। समझ में आया?

कहते हैं, नरक में गया तो, मैं नारकी। आहाहा! मुझे मारते हैं, पीटते हैं। यम होता है न यम? एक रोगी था, एक आदमी बहुत रोगी (था)। उसकी सेवा करनेवाला बड़ा भाई था। तो अण्डा, माँस लाकर खिलाता था। माँस को खिलानेवाला था, वह मरकर नरक में गया। और वह माँस जो खाता था, परन्तु वह खिलाता था, वह वहाँ यम हुआ। नारकी में यम। देव का होता है न? यम होता है। तो यम उसको मारता था। तो कहता था कि अरे! मुझे? तेरे लिये मैंने पाप किया था। पाप किया, मैंने तेरे लिये किया था। मैं तो पापी हूँ। आहाहा! समझ में आया? मारनेवाला उसको मारता था। आहाहा! अरेरे! तूने मुझे पाप करवाया, खिलाया। आहाहा! जिसने खिलाया, वह मरकर नरक में गया। और जिसने खाया, वह यम हुआ। यम उसको मारता है। दो भाई। अनन्त बार हुआ, इसमें क्या बात है? अपनी चीज़ की खबर नहीं और मिथ्यात्वभाव से सब भव किये। मिथ्यात्वभाव छोड़ना और अपने आत्मा का भान करना। उसका...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मगसिर शुक्ल १३, शुक्रवार, दिनांक २७-१२-१९७४, श्लोक-८-९, प्रवचन-१७

नारक, वह ऐसा मैं हूँ मानता है। नारकी में रहा है न अनन्त बार। मनुष्यपना तो अनन्त काल में मिले, अनन्त-अनन्त काल में। नारकीपना तो इससे असंख्य गुणा अनन्त बार मिला है। अनादि का है। वह जब नारकी का शरीर मिले, उसमें रहनेवाला आत्मा है, वह (अपने को) नारकीरूप मानता है। समझ में आया?

आत्मा स्वयं नरादिरूप नहीं;... नारकी के शरीर में रहनेवाले को। आत्मा स्वयं नरादिरूप नहीं;... भाषा बदली लगती है, नहीं? नरादि। नरकादि चाहिए। यह **कर्मोपाधि बिना वह स्वयं होता नहीं।** क्या कहते हैं? नारकी स्वयं है। यह शरीर नहीं अभी। अन्तर उदयभाव के कारण नारकी गति मिलती है, उसे अज्ञानी अपना मानता है। नारकी की गति है, ऐसा कोई आत्मा का स्वभाव नहीं कि नारकीरूप से उस रूप हो। परन्तु पर्याय में वह भाव है। समझ में आया? द्रव्य, गुण और पर्याय। नारकी की गति जो है, ऐसा कोई गुण नहीं कि नारकी की गतिरूप जीव हो। परन्तु नारकी की गतिरूप होना, ऐसा उसकी पर्याय का धर्म है। आहाहा! समझ में आया? यह पर्याय का धर्म है, गुण का धर्म नहीं। बापू! वस्तु ऐसी सूक्ष्म है। इसने तत्त्व को समझने के लिये प्रयत्न किया ही नहीं। ऐसा का ऐसा अन्ध दौड़ से संसार के काम में फँसकर हमने यह किया और हमने कमाया और यह किया। यह सब मिथ्यात्व का सेवन है। और त्यागी होकर आवे तो उसे यह क्रिया मैं करता हूँ, यह मेरी क्रिया दया की और दान की, व्रत की, यह विकल्प है। उसका वह जीव पर्याय में कर्ता है, गुण नहीं।

तत्त्वतः, अर्थात् परमार्थ से वह (वैसा) नहीं,... नारकीपना या मनुष्यपना... फिर नीचे लेंगे। **कर्मोपाधि बिना वह स्वयं होता नहीं। किस प्रकार? तत्त्वतः, अर्थात् परमार्थ से वह (वैसा) नहीं, किन्तु व्यवहार से हो...** पर्याय में है, होता है इसलिए। पर्याय में नरकगति की योग्यता से पर्याय में है। उसका यह स्वभाव नहीं। आहाहा! **जीव की मनुष्यादि पर्याय, कर्मोपाधि से हुई हैं।** अब यह मनुष्यपना लिया। यह मनुष्य (शरीर) तो जड़ है यह तो। परन्तु अन्दर मनुष्यगति की योग्यता जो है, वह कर्म के

निमित्त की उपाधि है, अपनी योग्यता से। मनुष्यपना है, वह कलंक है। वह आत्मा का स्वभाव नहीं। वह मनुष्यपना उसकी पर्याय में-अवस्था में होने के योग्य है। वह कर्म के निमित्त से उपाधि है। उपाधि अर्थात्? अपने भाव में निमित्ताधीन होने से। आहाहा! **मनुष्यादि पर्याय, कर्मोपाधि से हुई हैं। उस (कर्मोपाधि) के निवृत्त होने पर / मिटने पर, वे (पर्यायें) निवृत्त होती होने से,...** जाता है। मनुष्यगति आदि जो है योग्यता वह आत्मा के स्वभाव का भान होने पर वह छूट जाती है। सिद्ध होने पर वह रहती नहीं। **वास्तव में (वे पर्यायें, जीव की) नहीं — ऐसा अर्थ है।**

तब परमार्थ से वह (आत्मा) कैसा है? भगवान आत्मा। कि **वह अनन्तानन्तधीशक्ति...** है न सामने? अन्तिम पद है। **अनन्तानन्तधीशक्ति...** आत्मा तो अनन्त-अनन्त ज्ञान की शक्ति, वह तत्त्व है। आहाहा! ज्ञान-समझणस्वरूप वह अनन्त-अनन्त धी—बुद्धि। बुद्धि अर्थात् ज्ञान यहाँ लेना है। अनन्त-अनन्त ज्ञानशक्तिवाला आत्मा है। आहाहा! उसे रागवाला कहना और नारकीगति कहना, वह सब पर्याय की योग्यता से निमित्ताधीन हुई दशा से है। आहाहा! समझ में आया? **वैसा वह किस प्रकार जाना जा सकता है—(अनुभव किया जा सकता है)?** भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त बेहद ज्ञान की शक्तिवाला तत्त्व है। कैसे पहिचाना जाये?

वह स्वसंवेद्य है। आहाहा! अन्तर में स्व अर्थात् अपने ज्ञान से सं-प्रत्यक्ष वेदन किया जा सकता है, ऐसी वह चीज़ है। समझ में आया? तब उसे धर्म होगा। क्या कहा यह? **स्वसंवेद्य है।** आत्मवस्तु इन्द्रिय से ज्ञात हो, ऐसा नहीं। इन्द्रिय से जाने, वह आत्मा नहीं। समझ में आया? अलिंगग्रहण में आया है न पहले में? भगवान आत्मा भावेन्द्रिय से जाने, वह आत्मा नहीं। आहाहा! जड़ इन्द्रिय तो निमित्त है। परन्तु भावेन्द्रिय जो क्षयोपशम विकास, एक-एक विषय को जाननेवाली योग्यता, ऐसी भावेन्द्रिय से भी आत्मा जाना जा सकता है या भावेन्द्रिय से जानता है, वह आत्मा - ऐसा नहीं है। कठिन बात! समझ में आया? यह आत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग ने कहा जो आत्मा, इसके अतिरिक्त अज्ञानियों ने कहा आत्मा, वह आत्मा नहीं। यहाँ तो तीर्थंकरदेव परमेश्वर परमात्मा ने जो आत्मा कहा, वह आत्मा इन्द्रिय से जाने, ऐसा वह आत्मा नहीं है। आहाहा! स्वसंवेदन है न?

दूसरे प्रकार से कहें तो वह भावेन्द्रिय के क्षयोपशम से जितना जानने का होता है, वह आत्मा का ज्ञान नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। समझ में आया? स्वसंवेद्य कहा न? अलिंगग्रहण में भी ऐसा लिया है। अपने स्वभाव से ही ज्ञात हो, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। वह यह बात है। आहाहा! अरे! इसने अपनी चीज़ क्या है, यह कभी जाना नहीं और दरकार की नहीं। मरकर ऐसा का ऐसा ढोर और मनुष्य, कौआ और कुत्ता (हुआ)। समझ में आया? यह सब पैसेवाले कौवे, कुत्ते में जानेवाले हैं, हों! जिसने कुछ धर्म क्या चीज़ है, यह सुना नहीं। और सुने तो जँचा नहीं। आहाहा! ऐई! सोहनलालजी! ऐसी बात है। आहाहा!

क्योंकि आत्मा वस्तु जो है, वह इन्द्रिय से जाने, वह आत्मा नहीं। गजब बात है! इन्द्रिय से ज्ञात हो, ऐसा तो नहीं परन्तु इन्द्रिय से जाने, वह आत्मा नहीं। आहाहा! गजब बात है। यह तो स्वसंवेदन से ज्ञात हो, ऐसा आत्मा है। आत्मवस्तु, यह तत्त्व कहा है। यह कहते हैं कि वह तो स्वसंवेद्य है। अपने ज्ञान के स्वभाव से प्रत्यक्ष वेदन में-अनुभव में आये, ऐसा वह आत्मा है। समझ में आया? परमेश्वर का ऐसा कथन है। लोगों को कुछ खबर पड़ती नहीं। बिना भान के चलते हैं ऐसे के ऐसे। धर्म के बहाने यह दया पालन की, व्रत पालन किये, भक्ति की। कहते हैं कि इन्द्रिय द्वारा, भावेन्द्रिय द्वारा आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। वह तो स्वसंवेद्य है। आहाहा! समझ में आया? कान्तिभाई! ऐसी बहुत सूक्ष्म बातें, भाई!

निरुपाधिकरूप ही वस्तु का स्वभाव कहलाता है। यह तो उपाधिरहित चीज़ है। तब कोई कहता है, उसमें राग, द्वेष, पुण्य-पापभाव होते हैं न? होते हैं न? वह होते हैं, वह पर्याय में उपाधि निमित्त के आधीन हुई दशा है। उसका कोई गुण नहीं उपाधि होना, राग होना। समझ में आया? यह ९५ में आया था न? भाई! ९५वीं गाथा। प्रत्येक द्रव्य में भोक्तागुण है। वह भोक्तागुण निर्मलरूप से परिणमे, वह भोक्तागुण है। वह भोक्तागुण राग को भोगे, ऐसा गुण उसमें नहीं है।

आत्मा में एक भोक्तागुण है। परन्तु वह भोक्तागुण द्रव्य में, गुण में और पर्याय में व्यापता है। उस भोक्तागुण की परिणति शान्ति को वेदती है, शान्ति को भोगे, ऐसा

उसका गुण है। आहाहा! यह राग-द्वेष को वेदे और करे, ऐसा कोई गुण नहीं है। अज्ञानी को अकेली पर्यायबुद्धि से राग का करना और भोगना, वह मिथ्यात्वभाव में जाता है। ज्ञानी को... आहाहा! स्वस्वभाव का वेदन, द्रव्य के स्वभाव को स्व-अपने से वेदे, वह अपना स्वरूप है। परन्तु साथ में ज्ञानी को भी राग का करना और भोगना है, वह गुण नहीं है। परन्तु उस पर्याय की स्थिति में वह खड़ा होता है, जिसे ज्ञानी जानता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा बहुत... मस्तिष्क को... व्यापारीवाले को तो यह धन्धा लिया और दिया, उसमें बहुत मस्तिष्क (चलाना नहीं पड़ता)। बापू! यह मार्ग वीतराग का कोई अलौकिक मार्ग है।

सवेरे आया नहीं था? जो द्रव्य वह गुण, गुणरूप से गुण, पर्याय में गुण। यह... यह पर्याय कौन सी? निर्मल। ४७ शक्ति में यह लिया है न? विकार नहीं लिया। क्योंकि शक्ति का वर्णन है न! जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति, दृशि, ज्ञान, सुखशक्ति। यह सुखशक्ति वह द्रव्य सुखरूप, गुण सुखरूप, पर्याय सुखरूप। ऐसा उसका गुण है। यह वह स्वसंवेद्य से ज्ञात होता है, ऐसा उसका गुण है। अपने आनन्द के वेदन से ज्ञात हो, ऐसा वह आत्मा है। राग और द्वेष और कषाय के विकल्प होते हैं परन्तु वह कोई गुण की दशा नहीं है। यह वर्तमान पर्याय में दोष की दशा है। उस दोष का कर्तापना और भोक्तापना वह पर्यायदृष्टि में पर्याय में है। आहाहा! पर्याय क्या और द्रव्य क्या? अब यह तो कभी (सुना भी नहीं था)। वह तो दया पालन की, इच्छामि ... आता है या नहीं? इच्छामि किया नहीं? सामायिक की है? सामायिक के पाठ में आता है न। इच्छामि... आहाहा!

कहते हैं कि यह जीव तो स्वसंवेद्य है। आहाहा! यह उसका गुण है। आनन्द का वेदना और स्वयं से वेदना, ऐसा उसका स्वभाव है। समझ में आया? विकार को वेदना, उसका गुण नहीं। परन्तु जिसे द्रव्यस्वभाव के वेदन का भान हुआ है, उसके पर्याय में राग का करना और भोगने का, वह पर्याय में है, ऐसा जानता है। मेरा कोई गुण नहीं कि मैं विकार करूँ और विकार भोगना। आहाहा! परन्तु पर्याय में निर्बलता के कारण रागरूप परिणमता है, दुःखरूप परिणमता है, यह पर्याय का धर्म है। पर्याय में अशुद्ध

धर्म इसका है न यह? छठी गाथा में आता है। अशुद्ध कर्म भी इसने नहीं धार रखा है, छठी गाथा में। बात तो बहुत अलौकिक! परन्तु बात ऐसी है। आहाहा!

यहाँ तो कर्तागुण है जीव का, परन्तु वह कर्तागुण क्या करे? कर्तागुण है, वह कर्ता द्रव्य, कर्ता गुण, कर्ता पर्याय। जैसे सत् द्रव्य, सत् गुण, सत् पर्याय। इसी प्रकार कर्ता द्रव्य, कर्ता गुण, कर्ता पर्याय। वह कर्ता पर्याय कैसी? निर्विकारी पर्याय की कर्ता पर्याय ऐसी। समझ में आया? यह यहाँ निर्विकारी पर्याय द्वारा वेदन में आये, ऐसा जीव है, ऐसा कहते हैं। पोपटभाई! सब फेरफार। इसने मनुष्य के भव में यदि इस चैतन्य को इस प्रकार नहीं समझा, हो गया व्यर्थ अवतार। ढोर जैसा। मरकर ढोर होनेवाला है। पशु और कौआ। ऐई! आहाहा! वहाँ कहीं था? लवथव। लवथव। लववु अर्थात् बोलना और थव अर्थात् जिसके साथ बात करें न, उसे महिमा देकर बात करे, वह लवथव कहलाता है। हमारे काठियावाड़ में लवथव कहते हैं। तुम्हारे क्या लवथव कहा न?

मुमुक्षु : लाला...

पूज्य गुरुदेवश्री : लाला... बस! इसी बात में ऐसा मानो दूसरे को महत्ता दे और दूसरे से महत्ता लूँ। ऐसी यह शैली लवथव की। वहाँ लवथव चले, ऐसा नहीं अन्दर। आहाहा!

कहते हैं कि **वह स्वसंवेद्य है।** आहा! इस भगवान के कारण ज्ञात हो आत्मा, ऐसा नहीं है। गुरु के कारण ज्ञात हो, ऐसा आत्मा नहीं है। यह दशा कषाय की मन्दता के शुभभाव, उससे आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत और तप के भाव, वह राग है, विकल्प है। उससे आत्मा ज्ञात हो, ऐसा आत्मा नहीं है। ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा! इसकी खबर भी नहीं होती कि क्या है और कैसे होता है? आहाहा!

कहते हैं कि वह तो **वह स्वसंवेद्य है। निरुपाधिकरूप ही वस्तु का स्वभाव कहलाता है।** आहाहा! इसका अर्थ तो यह आया न? सवेरे कहा था गुण का, भाई! आनन्द द्रव्य, आनन्द गुण, आनन्द पर्याय। आनन्द का विस्तार है। उसका अर्थ यह हुआ कि आनन्द की दशा के परिणमन में उसके द्रव्य के लक्ष्य से उसका परिणमन होता है।

कषाय की मन्दता और निमित्त, वह तो उसमें अभाव है। आहाहा! व्यवहार से निश्चय होता है, यह अभाव है, कहते हैं निमित्त से यहाँ कुछ सम्यग्दर्शन और धर्म की पर्याय होती है, उसका तो इसमें अभाव है।

इसका भाव तो अपने में आनन्द है—वस्तु में, गुण में और पर्याय में, तो उस आनन्दगुण के लक्ष्य से आनन्द की परिणति जो होती है, उसे धर्म कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? उसकी आनन्द की परिणति के लिये आनन्द द्रव्य और आनन्द गुण का आश्रय चाहिए, परन्तु आनन्द की परिणति के लिये राग की मन्दता और निमित्त का आश्रय चाहिए, यह वस्तु में नहीं है। आहाहा! १०७ गाथा में तो गजब किया है! सवेरे चला था न! बहुत सरस। सन्तों ने जगत को धारकर ऊँचा लिया है। आहाहा!

भाई! तू कहाँ है? यह तू राग में नहीं, शरीर में नहीं, वाणी में नहीं, कर्म में नहीं। आहाहा! तू है, वह तो आनन्द और ज्ञान के स्वभाव से भरपूर स्वभाव है। तो वह जो भरपूर तत्त्व है, वहाँ नजर करने से वह दशा आवे, ऐसी है। समझ में आया? ...! व्यवहार से होता है, निमित्त से होता है, वह तो रहता नहीं। एकान्त हो जाता है। प्रभु! ऐसे तू कहे वह सही तेरी दृष्टि से। वस्तु ऐसी है। भगवान ने ऐसा कहा है, वस्तु ऐसी है।

तुझे यदि शान्ति और रागरहित दशा धर्म की, जिससे जन्म-मरण का नाश हो, वह दशा चाहिए हो तो वह दशा, द्रव्य और गुण में शक्तिरूप से है। द्रव्य में शक्तिरूप से और गुण में शक्तिरूप से। आहाहा! इससे तुझे द्रव्य का आश्रय करने से-वस्तु का आश्रय करने से गुण का आश्रय उसमें इकट्ठा आ गया। पर्याय में वीतरागी सम्यग्दर्शन, वीतरागी स्वसंवेदन ज्ञान, वीतरागी चारित्र का अंश हो, वह धर्म है। उसे राग की मन्दता और निमित्त की अपेक्षा हो तो वह हो, ऐसा नहीं है। उसे तो त्रिकाली भरपूर द्रव्य और गुण भरपूर है, वह है तो यह होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी व्याख्या यह कैसी! बापू! वीतराग का मार्ग। वस्तु का स्वभाव ऐसा है। ऐसा नहीं कहा, राग से वेदना, वह वस्तु का स्वभाव नहीं। राग को भोगना... यह जड़ को भोगना, वह तो आत्मा में है ही नहीं। शरीर को और स्त्री को और स्त्री के शरीर को या लक्ष्मी को या दाल-भात को भोगना, वह तो आत्मा में अज्ञानभाव से भी नहीं। वह तो परवस्तु है।

परन्तु अन्तर में राग और द्वेष, पुण्य और पाप के विकल्पों को सेवन करना, भोगना, ऐसा कोई गुण नहीं है। इसलिए गुण और द्रव्य की दृष्टि बिना जो कुछ राग और द्वेष का विदेना होता है या करना होता है, वह सब मिथ्यात्व में जाता है। आहाहा! सुजानमलजी! ऐसी बात है। निर्णय करना न, निर्णय तो करे।

इसमें यह एकान्त ही है। समझ में आया? आत्मा में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्‌चारित्र, वह मोक्ष का मार्ग है। तो वह पर्याय है तो उसमें गुण है और द्रव्य में भी वह है। वह शक्ति द्रव्य में है, वह गुण में है, पर्याय में ऐसी है। वह शक्ति राग में नहीं, वह शक्ति निमित्त में नहीं कि जिससे वहाँ आवे। जयन्तीभाई! आहाहा! वह तो स्वसंवेद्य है। आहाहा! यह वस्तु का स्वभाव कहलाता है। आहाहा!

कर्मादि का विनाश होने पर, अनन्तानन्त ज्ञान-शक्तिरूप से परिणत आत्मा,... पहला तो सम्यग्दर्शन में-सम्यग्ज्ञान में शुरुआत की धर्मदशा में वस्तु के स्वभाव का आश्रय लेकर जो दशा होती है, वह अल्प स्वसंवेदन की, अल्प आनन्द और शान्ति की वेदन दशा (होती है)। परन्तु **अनन्तानन्त ज्ञान-शक्तिरूप से परिणत आत्मा,...** आहाहा! **स्वसंवेदन में ही वेदन किया जा सकता है।** वह पूर्ण केवलज्ञान और पूर्ण आनन्द की दशा स्वसंवेदन से ही वेदन की जा सकती है। आहाहा! नीचे भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, ऐसी जो धर्मदशा (प्रगट होती है), वह अपने स्वस्वभाव से ही वेदी जा सकती है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म, इसलिए बेचारे पकड़ नहीं सके न, पश्चात् चल निकले-भक्ति में धर्म होता है, पूजा में धर्म होता, व्रत पालें तो धर्म (होता है)। वह व्रत तो सब विकल्प है। आहाहा! विकल्प है, वह कोई गुण नहीं कि जिस गुण का परिणमना विकल्प आवे। आहाहा! अपवास करना, यह सब विकल्प है, राग है। ऐसा कोई गुण नहीं कि पर्याय में वह राग आवे। आहाहा! तो उसकी दृष्टि द्रव्य और गुण पर नहीं है। उसे तो यह अपवास करूँ और यह व्रत पालन करूँ, ऐसी दृष्टि पर के ऊपर है। आहाहा! ऐई! ऐसी बात है। उसे स्वसंवेदन धर्म नहीं हो सकता। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि यह देह और इन्द्रियाँ जो निमित्त है जड़, वह तो एक ओर रखो, परन्तु भावेन्द्रिय का क्षयोपशम जो है, उसके द्वारा परपदार्थ का ज्ञान हो, वह

भी ज्ञान नहीं है। यह आ गया है पहले इसमें। आहाहा! समझ में आया? जड़ इन्द्रियाँ निमित्त, भावेन्द्रियाँ निमित्त। ऐसा तो अव्यक्त में भी कहा है न? क्षयोपशम से जाने, वह जीव का स्वभाव नहीं। अव्यक्त में। चारों ओर से बात लो। एक तत्त्व खड़ा होता है।

कहते हैं कि यहाँ ज्ञान का विकास वह पर्याय में है न? उस विकास से जितना परपदार्थ का जानना होता है, वह ज्ञान नहीं—वह सम्यग्ज्ञान नहीं। इसका अर्थ यह कि इन्द्रिय से जो जानने में आये, इतना सब मिथ्याज्ञान है। जिसमें स्व आत्मा न आया और अकेला पर का ज्ञान (हुआ), वह तो इन्द्रिय द्वारा हुआ। आहाहा! और उसमें उसे महिमा सेवन करनी है कि हमको बहुत ज्ञान है और बहुत उघाड़ है, आहाहा! मिथ्यात्वभाव है।

यहाँ तो कहते हैं कि अनन्त-अनन्त ज्ञानशक्तिरूप से आत्मा भगवान, वह स्वयं शक्ति जो है, वह द्रव्य में है, गुण में है। उसका जहाँ स्वीकार हुआ... आहाहा! तब पर्याय में आया। एक दूसरी बात हुई वापस कि यह जो है अनन्त गुण अनन्त आनन्द आदि, वे हैं, ऐसा जब ज्ञान में आया और भान हुआ तब वह है—वह द्रव्य में है, गुण में है, पर्याय में है, ऐसा आया। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : तब वह प्रतीति में आया। (नहीं तो) उसको है कहाँ वह? पर्याय में वस्तु जो है, वह तो दृष्टि में आयी नहीं। और है कहाँ आया? उसे तो वह पर्याय है, राग है, निमित्त है। बस! यह आया। आहाहा! लोगों को कठिन लगे, हों! सोनगढ़वालों ने समकित महँगा किया है, ऐसा (वे) कहते हैं। वस्तु ही ऐसी है, वहाँ क्या?

मुमुक्षु : वह तो होवे ऐसा कहे, सस्ता-महँगा क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : सस्ता-महँगा क्या? आहाहा! समझ में आया?

अनन्तानन्त ज्ञान-शक्तिरूप... भगवान आत्मा ऐसा जिसे अन्तर में स्वीकार हुआ, उसकी दृष्टि निमित्त, राग और पर्यायबुद्धि से उठ गयी। आहाहा! ऐसा **आत्मा, स्वसंवेदन में ही वेदन किया जा सकता है।** देखा! .... पुस्तक मिली न अब? थी नहीं अभी तक। यह नवरंगभाई ने दी। इनने दी। लेकर जाना वहाँ। आहाहा!

कहते हैं, भगवान आत्मा में यह शक्ति लो, सर्वज्ञशक्ति है न आत्मा में? वह सर्वज्ञशक्ति, वह द्रव्य; सर्वज्ञशक्ति, वह गुण और सर्वज्ञशक्ति पर्याय में परिणमे। पहले से पर्याय में सर्वज्ञशक्ति का पूर्ण रूप नहीं परिणमता। प्रतीति में-सम्यग्दर्शन में, वेदन में यह सर्वज्ञ द्रव्य, सर्वज्ञ गुण, उस प्रकार की श्रद्धा में सर्वज्ञपना प्रगट हुआ। ज्ञान में प्रगट हुआ कि यह सर्वज्ञ मैं हूँ। समझ में आया? इतना तो उसे वेदन उस समय अपने वेदने का जो गुण था, वह गुण यहाँ आकर परिणमित हुआ। अर्थात् वह स्वसंवेदन में आ गया। आहाहा! सूक्ष्म बहुत भाई इसमें! मार्ग तो यह है, भाई! अरे! चौरासी के अवतार में भटक-भटककर यह दु:खी है। सुखी मानता है भले परन्तु दु:खी है। आनन्द का स्वभाव उसने अन्तर में भरा आनन्द। वह आनन्द, दशा में न आवे तब दु:ख की दशा जो इसमें नहीं, ऐसी पर्यायबुद्धि से दु:खदशा को वेदता है। समझ में आया?

संसार अवस्था में कर्मोपाधि से निर्मित होने से, उससे विपरीत परिणति का अनुभव होता है। दो बातें हुईं। एक तो भगवान आत्मा द्रव्य और गुण में जो आनन्द और ज्ञान पड़ा है, उसका जब स्वसंवेदन द्वारा स्वीकार हुआ, स्वसंवेदन ज्ञान के प्रत्यक्ष द्वारा उसकी अस्ति है, 'है' इतना बड़ा भगवान, ऐसी जो पर्याय में प्रतीति और ज्ञान हुआ, उससे स्वयं वेदन में आया। परन्तु अनादि से यह भान नहीं, इसलिए क्या होता है, कहते हैं। **कर्मोपाधि से निर्मित...** कर्म के निमित्त के आधीन हुई विकारी दशा। उससे विपरीत अर्थात् स्वभाव से विपरीत, उस परिणति का अनुभव होता है। अज्ञानी को किसका अनुभव है? स्त्री का, शरीर का, दाल-भात का, पैसे का, बँगले का है? वह तो जड़ पर है। आत्मा का है? या आत्मा की ओर तो झुका नहीं। आहाहा! उसे राग और द्वेष के दु:ख की दावानल की दशा का उसे अनुभव है। ऐसा कैसा? ऐई! किससे विपरीत कहा? स्वसंवेदन वेदन किया जा सकता है, उससे यह विपरीत।

संसारदशा में अनादि काल से इसे शुभ और अशुभराग का वेदन है या द्वेष का वेदन है या विषय की वासना की कल्पना का वेदन है। यह स्वभाव के वेदन से विपरीत वेदन है। समझ में आया? आहाहा! वे बेचारे दु:ख को वेदते हैं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। यह सब सेठिया, अरबोंपति, बड़े राजा, यह देव दु:ख को वेदते हैं। क्योंकि आत्मा आनन्दस्वरूप, ऐसी जो शक्ति का भण्डार, उसे तो इसने खोला नहीं। उसमें तो इसका

स्वीकार नहीं। मात्र स्वीकार वर्तमान दशा का, राग का, पुण्य का, इसका और उसका। आहाहा! इसके वेदन में दुःख की दशा है इसे। समझ में आया?

यह कर्म के निमित्त से। परन्तु कर्म से नहीं, हों! आहाहा! इसमें यह पर्याय की शक्ति है। पर्याय में, हों, वह। निमित्त के आधीन हुई और विकार को वेदता है। आहाहा! समझ में आया? इस विपरीत परिणति का अनुभव है। आहाहा! जिसमें परमात्मा स्वरूप से भगवान विराजमान है, उसमें तो अतीन्द्रिय आनन्द और शान्त... शान्त... शान्तरस है। वह शान्तरस और आनन्द द्रव्य में है, गुण में है, उसका स्वीकार होने पर पर्याय में है और वह स्वीकार नहीं तब पर्याय में राग और द्वेष का दुःख का वेदन है।

भजन में आता है न ऐसा? 'सुखिया जगत में सन्त, दुरिजन दुखिया रे। एक सुखिया जगत में सन्त दुरिजन दुखिया रे।' आहाहा! चैतन्य भगवान आनन्द का नाथ प्रभु, जिसने वहाँ नजर डालकर जिसने आनन्द को वेदन किया वह समकिती जगत में सुखी है। समझ में आया? आहाहा! 'सुखिया जगत में सन्त, दुरिजन दुखिया रे...' आहाहा! जिसने भगवान आत्मा आनन्द के नाथ को शोधकर, खोजकर पर्याय में प्रगट किया नहीं... आहाहा! वे सब प्राणी दुःखी हैं। पोपटभाई! दुःखी है? छह लड़के, दो करोड़ रुपये, दस-दस लाख की आमदनी हो तो भी दुःखिया? आहाहा! कहो, बाबूभाई! आहाहा!

भाई! शरीर, वाणी, मन, पैसा, इज्जत, कीर्ति है, वह कहाँ तेरी है? उस चीज़ में तो तू अभावरूप है और दो चीज़ तुझमें अभावस्वभाव है। आहाहा! अब तुझमें भावरूप जो है, वह तो आनन्द और शान्ति और वह सुखरूप, वह भावरूप है। अब इस भाव का जो आश्रय लिया, तब तो आनन्द और शान्ति की पर्याय आवे, उसका वेदन है। उसका आश्रय नहीं लिया और निमित्त का आश्रय लेकर विकार उत्पन्न किया, वह विकार दुःख का वेदन है। आहाहा! यह अरबी के खाता हो। क्या कहलाते हैं वे? अरबी के पत्ते नहीं होते? पतरवेलिया। चने का आटा डालकर बनाते हैं न? ... फिर तेल में तलते हैं। मैसूर के टुकड़े उठाता हो, उसके साथ यह डाले। कहते हैं कि दुःखी है, सुन न अब। उसका

वेदन नहीं उसे। वेदन में उसकी ओर के लक्ष्य से जो प्रीति उत्पन्न हुई कि यह ठीक, ऐसा राग का–दु:ख का वेदन है। समझ में आया? सर्वज्ञ का मार्ग भाई अलौकिक है। 'सर्वज्ञ का धर्म सुशर्ण जाणी,...' श्रीमद् ने १६ वर्ष में कहा है न? श्रीमद् राजचन्द्र। १६ वर्ष में। 'सर्वज्ञ का धर्म सुशर्ण जाणी, आराध्य आराध्य प्रभाव आणी।' ...मोक्षमाला में है। आहाहा!

कहते हैं, जिसे भगवान आत्मा में शक्तियाँ और गुण जो पड़े हैं ध्रुव। और द्रव्य ध्रुव। उसमें अनन्त आनन्द और शान्ति पड़ी है, उसका जिसने आश्रय लिया, उसे तो पर्याय में स्वसंवेदन आनन्द का वेदन है। और उसका जिसने आश्रय नहीं लिया और निमित्त तथा राग का आश्रय लेकर जो वेदन करता है, वह सब राग का, द्वेष का, दु:ख का वेदन है। कहा न? **कर्मोपाधि से निर्मित...** निर्मायेल—रचित। **होने से, उससे...** इसलिए अर्थात् उस स्वभाव से **विपरीत परिणति का अनुभव होता है।** आहाहा!

वैसा स्वसंवेद्य (आत्मा) भले हो, किन्तु वह कितने काल? ऐसा प्रश्न करता है। आहाहा! **सर्वदा तो नहीं होता, कारण कि बाद में उसके रूप का नाश होता है। (—ऐसी शङ्का का परिहार करते हुए) कहते हैं...** शंका करता है। **कि उसकी (आत्मा की) स्थिति अचल है...** समझ में आया? है न नौवाँ पद? '**स्वयंवेद्योऽचलस्थित:**' अन्तिम पद है। आहाहा! भाई! यह तो वीतरागमार्ग है, बापू! यह कोई ऐरे–गैरे का कथन नहीं है। इसके लिये कितनी तैयारी चाहिए! एक राज दरबार में जाना हो तो कैसी सभ्यता से, कैसे कपड़े से और कैसी शैली से जाता है! आहाहा! मूर्खों में भी जाना हो तो। वह राज दरबार मूर्खता से भरपूर है। यह तो तीन लोक के नाथ केवली परमात्मा... आहाहा! उनके कथन में जाना हो और उनके सन्देश को स्वीकार करना हो तो तैयारी बहुत चाहिए। आहाहा!

कहते हैं कि यह आत्मा की अचल स्थिति है। तू कहता है कि वह तो आत्मा का वेदन स्व से हो जाये तो कितना काल रहे? ऐसा कहते हैं। सदा तो न रहे। अरे! सुन न। यह **अनन्तानन्तधीशक्ति के स्वभाव के कारण, वह अचल स्थितिवाला है।** भगवान आत्मा ज्ञानशक्तिवाला अनन्तानन्त शक्ति, उसका स्वभाव ही अनन्तानन्त ज्ञान का स्वभाव,

ऐसी शक्तिवाला वह अनादि-अनन्त त्रिकाल है। और उस त्रिकाली तत्त्व का आश्रय लेकर वेदन हो, वह कायम रहेगा। वह दुःख का वेदन नहीं रहे (एकरूप से) कायम। वह क्षण-क्षण बदलता जायेगा। आहाहा! समझ में आया?

धीशक्ति के स्वभाव के कारण, वह अचल स्थितिवाला है। यह तो फिर जरा स्पष्टीकरण किया है। **जो योग और सांख्यमतवालों ने मुक्ति के विषय में आत्मा की, उससे (मुक्ति से) प्रच्युति (पतन) सम्भव माना है,...** मुक्ति होकर फिर नाश होता है। अवतार धारण करे न... आता है न? अथवा मुक्त हो, इसलिए ज्ञान का नाश होता है। ज्ञान रहे तो उपाधि है, ऐसा कहते हैं। यह ऐसा नहीं है। वस्तु ज्ञानस्वभाव, शक्ति ज्ञानभाव, उसका वेदन आवे, वह ज्ञानभाव और शान्त वेदन। यह अचल स्थिति है, इसलिए वेदन भी अचल हो जाता है। आहाहा! ऐसी व्याख्या कैसी होगी? पोपटभाई! आहाहा!

वीतराग का दरबार है। वीतरागी भाव का वेदन, उसे आत्मा कहते हैं। आहाहा! जिसे अकेले राग का, द्वेष का, संकल्प, विकल्प, विकार का वेदन है, वह आत्मा नहीं। आहाहा! (इन्द्रिय) सुख का वेदनेवाला वह जीव नहीं है। अलिंगग्रहण में आता है न? आत्मा इन्द्रिय के विषय का भोक्ता नहीं। बारहवाँ बोल आता है। २०, कितने बोले हैं? २० हैं न? उनमें से १२वाँ है। अलिंगग्रहण। भगवान आत्मा इन्द्रिय के विषय का भोक्ता नहीं। आहाहा! इन्द्रिय के विषय को, राग को वेदे और आत्मा का वेदन न हो, वह जड़ है, ऐसा कहते हैं। शान्तिभाई! ऐसा कठिन मार्ग, भाई!

मुमुक्षु : भगवान की...

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान का विद्यालय है, बापू!....

कहते हैं, **जो योग और सांख्यमतवालों ने मुक्ति के विषय में आत्मा की,...** च्युति मानता है। फिर पतन मानता है। वहाँ से भ्रष्ट हो जाता है .... **उसके सम्बन्ध में (खण्डनस्वरूप) प्रमेयकमल-मार्तण्ड...** वह फिर ग्रन्थ का न्याय दिया। **न्यायकुमुदचन्द्र में मोक्षविचार प्रसङ्ग में विस्तार से कहा गया है।** यह ग्रन्थ हैं दो।

भावार्थ - जिन नर-नारकादि पर्यायों को (जीव) धारण करता है, उन पर्यायोंरूप अपने को मानता है। बस। हम दशाश्रीमाली बनिया, हम विशाश्रीमाली बनिया, हम

क्षत्रिय, हम ब्राह्मण। मूढ़ है, कहते हैं। समझ में आया ? जिस गति की जो पर्याय मिली, वही स्वयं मानता है। अरे ! इसने अपनी दया नहीं की। अपनी दया, अर्थात् ? कि जो अनन्त आनन्द और ज्ञान का स्वरूप है, जीवित ज्योति अन्दर, उसका स्वीकार न करके मैं राग और पुण्य और दया, दान के विकल्पवाला हूँ (-ऐसा माना), उसने अपनी दया नहीं पालन की। अपना जो जीवन जितना है, उतना न मानकर मैं रागवाला जीवन, द्वेषवाला जीवनवाला हूँ, यह आत्मा की उसने हिंसा की। अर्थात् कि उसने 'है', उसे 'नहीं' किया। आहाहा ! समझ में आया ? स्त्री, पुत्र, परिवार, पाँच-पाँच, पचास लाख की आमदनी हो, करोड़, दो करोड़, पाँच करोड़ रुपये हों। बँगले ४०-४० लाख के हों। हम सुखी हैं। भगवान ! तू आत्मा की हिंसा करता है। जिसमें आनन्द है, उसका तूने निषेध किया और जिसमें आनन्द नहीं, उसमें से आनन्द होता है, ऐसा तूने माना। आहाहा ! नर, नारक पर्याय को जीव धारण करे। वस्तु में नहीं। पर्याय में है।

उन पर्यायोंरूप अज्ञानी अपने को मानता है। जीव, वास्तव में उन पर्यायोंरूप नहीं है किन्तु वह स्वानुभवगम्य,... आहाहा ! आनन्दवाला, ज्ञानवाला, शान्तिवाला, आहाहा ! **स्वानुभवगम्य, शाश्वत...** है। वह अचल स्थितिवन्त है। नित्यानन्द है। ध्रुव आनन्द है। आहाहा ! उसका वेदन फिर ध्रुव के आनन्द का वेदन भी कायम टिक सकता है। मोक्षमार्ग में कायम टिक सकता है। मोक्ष में कायम रहते हैं न ! फिर वह कुछ बदलता नहीं, कहते हैं। अचल वस्तु है, और उसका अनुभव पूर्ण हुआ वह ऐसा का ऐसा रहेगा। जैसे द्रव्य शाश्वत्, गुण शाश्वत्; वैसे अब पर्याय शाश्वत् हो गयी। आहाहा ! समझ में आया ?

अनन्तानन्त ज्ञान-वीर्यमय है। अनन्त-अनन्त ज्ञान वीर्यमय है। यह तो सवेरे आया था न ? वीर्य आत्मा, वीर्य गुण, वीर्य पर्याय। अपने वीर्य आया न इसमें। उसमें पुरुषार्थ शब्द है। गुजराती में पुरुषार्थ है। गुजराती में। यह हिन्दी में वीर्य प्रयोग किया है। यह गुण है सही न। पुरुषार्थगुण ऐसा पृथक् किया नहीं। वीर्य को ही पुरुषार्थ कहा है। आहाहा ! वीर्य जो पुरुषार्थ आत्मा में गुण है, (वह) ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत् है। ऐसा जो वीर्यगुण द्रव्य में है, गुण में है और पर्याय में है। किसे ? जिसने द्रव्य और गुण की नित्यता स्वीकार की उसे। समझ में आया ?

...एक में आया था। विद्यानन्द को दिया न उपाध्याय पद? इसलिए उसके अन्दर... घर-घर में अब दीक्षा लोग लें, ऐसा करो। घर-घर में पण्डितों को मान दो, ऐसा था पहले। यह अब घर-घर में दीक्षा की बात करो। ऐसा कि लोग, जैसे लड़का न हो तो किसी का लेकर भी वंश रखते हैं। गोद बैठाते हैं न लड़के को? घर-घर में दीक्षा का कहो। अरे! प्रभु! पहले दीक्षा किसे कहना? भाई! समझ में आया? आहाहा! दीक्षा की शिक्षायें बहुत बड़ी हैं, भाई! शिक्षा, हों! शिक्षा नहीं। क्या कहा? यह शिक्षा-शिक्षा तो दण्ड है। और उसकी शिक्षा अर्थात् समझ। आहाहा! उस दीक्षा के स्वरूप को समझे नहीं, उसे शिक्षा है-दण्ड है। आहाहा! बापू! भगवान! तेरी महिमा का पार नहीं। ऐसी महिमा हाथ में आयी नहीं और चारित्र और समकित है, ऐसा मान लिया। आहाहा! समझ में आया?

भगवान परमानन्दस्वरूप अनन्त-अनन्त तत्त्व का पिण्ड है। उसके वेदन में, प्रतीति में, अनुभव में आया नहीं... आहाहा! और दीक्षा-चारित्र हो गया। भाई! ऐसा नहीं होता। उसमें ठगा जाएगा और फिर ऐसा काल मिलना मुश्किल है। भाई! आहाहा! पहले सम्यक्त्व क्या चीज़ है, उसे तो समझ। पहले तो यह करना है। आहाहा!

भरत चक्रवर्ती के घर में छियानवें हजार स्त्रियाँ थीं, छियानवें करोड़ सैनिक थे, छियानवें करोड़ गाँव थे। तथापि सम्यग्दर्शन अन्दर पूर्णानन्द का नाथ अखण्डानन्द शुद्ध चैतन्य हूँ, ऐसी अनुभव की दृष्टि थी। छियानवें हजार स्त्रियाँ उसके घर में रहो। राजपाट में बैठे। इन्द्र जिनके मित्र थे। भरत चक्रवर्ती ऋषभदेव का पुत्र। जिन्हें इन्द्र मित्र। कोई मेरे नहीं। मैं कहीं नहीं। यह सिंहासन में मैं नहीं, इन्द्रों के मित्रों में मैं नहीं, मैं विकल्प में नहीं। आहाहा! मैं तो मेरे शान्त द्रव्य-गुण और पर्याय निर्मल है, उसमें हूँ। आहाहा! समझ में आया?

अनन्तानन्त ज्ञान-वीर्यमय है। मुक्त अवस्था में (मोक्ष में), उसकी स्थिति अचल है;... मुक्तदशा होने पर उसकी स्थिति अचल हो जाती है। अर्थात् क्या कहा? कि जो द्रव्य और गुण अचल है, ऐसा उसका वेदन जहाँ अन्दर पूर्ण हो गया, वह भी अब कायम रहेगा। आहाहा! यह तो घड़ीक में बड़ा राजा और घड़ीक में नरक-नारकी। यहाँ

बड़ा राजा (हो)। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती। जिसके घर में ३२ हजार राजा चँवर ढोलते थे, जिसे सोलह हजार देव जिसकी सेवा करते थे। आहाहा! जिसे हीरा-रतन के... क्या कहलाते हैं वह? पलंग-पलंग। हीरा-रतन के पलंग में-शैय्या में सोता था। वह मरकर देह छूटा, सातवें नरक में गया। अभी सातवें नरक मैं है रव-रव नरक है। वहाँ अभी है। अभी तो थोड़े वर्ष हुए। अभी तो असंख्य-असंख्य अरबों वर्ष रहनेवाला है। आहाहा! ७०० वर्ष का चक्रवर्ती (पद)। ७०० वर्ष में बालपने में कहाँ था चक्रवर्ती? थोड़े वर्ष पद रहा ७०० वर्ष में। उसमें ३३ सागर की स्थिति रव-रव नरक में। सातवें नरक में। आहाहा! जिसमें एक श्वास में... पल्योपम कितना,यह हमारे... भाई कहते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ग्यारह हजार नौ सौ पिचहत्तर पल्योपम। सोहनलालजी! ऐसा आया है न? याद करते हैं। सात सौ वर्ष है न सात सौ? वह ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हुए न? ७०० वर्ष रहा चक्रवर्ती। तो ७०० वर्ष के एक श्वास। एक श्वास। एक श्वास के फल में कितने कहे? ग्यारह लाख छप्पन हजार पल्योपम का दु:ख। पल्योपम के एक पल्य में असंख्य अरब वर्ष जाते हैं। ऐसे ग्यारह लाख पल्योपम। ओहोहो! समझ में आया? एक श्वास यहाँ भोगा (सुख)-कल्पना का। उसके फल में सातवें नरक में रव-रव नरक में जाता है। पलंग से जहाँ ऐसे देह छूटा वैसे वहाँ। लोहे के तौलने का गोला पानी पर रखो तो नीचे जाता है। ... है? इसी प्रकार महापाप मिथ्यात्व के, अज्ञान के किये हुए। आहाहा! यह चौरासी लाख के अवतार में गहरा सातवें नरक में गया। यहाँ देखो तो देव सेवा करे। आहाहा! जिसके एक (मुख्य) रानी की हजारों देव सेवा करे। रानी रत्न... होती है। दूसरी रानियाँ छियानवें हजार। आहाहा!

अरे! इसने एक श्वास में सुख की कल्पना वेदन की, उसके फल में ग्यारह लाख पल्योपम का दु:ख। पोपटभाई! भारी कठिन बातें, बापू! भारी कठिन काम। यहाँ तो जरा कुछ ठीक मिले उसमें... आहाहा! मेरा क्या होगा? मैं कहाँ जाऊँगा? मेरा ठिकाना कहाँ होगा? इसे खबर नहीं होती। आहाहा!

कहते हैं, जिसे यह आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, उसकी अनुभव स्थिति स्वसंवेदन

दशा प्रगटी और पूर्ण हुई, वह तो शाश्वत अचल रहेगा। जैसा द्रव्य अचल, गुण अचल, वैसी दशा अचल रहेगी। आहाहा! **वहाँ से (मुक्ति से) उसका कभी भी पतन नहीं होता अर्थात् जीव, मुक्त होने के पश्चात् फिर कभी भी संसार में नहीं आता। योग और सांख्यमतवालों की मान्यता इससे भिन्न है।** वह सांख्यवाला फिर से वहाँ से आवे, नीचे उतरे, (ऐसा मानते हैं)। अरे! चना जो सिंकता है, वह फिर से उगता नहीं। यह चना नहीं होते? चना समझते हो? दालिया होती है न? सेंक डाला भूँज डाले, फिर वापस उगेंगे? एक बार अज्ञान और राग-द्वेष का नाश कर दिया और आनन्द की दशा जहाँ पूर्ण प्रगट हुई, उसे फिर से अवतार नहीं होगा। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मगसिर शुक्ल १४, शनिवार, दिनांक २८-१२-१९७४, श्लोक-८-९-१०, प्रवचन-१८

... ज्ञान है। उसे मानता नहीं। और यह शरीर मैं हूँ, ऐसा मानता है। यह देह जड़। जाननेवाला भिन्न, तथापि उससे भिन्न चीज़ है, उसे अपनी मानता है। यह मूर्खता अनादि की है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहो, पोपटभाई! आहाहा! है?

बहिरात्मा,... पहला शब्द है। बहिर् अर्थात् कि चैतन्यस्वभाव भगवान आत्मा शरीर, वाणी, मन से भिन्न है और वह कर्म से भी भिन्न है अन्दर। वास्तव में तो यह दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव होते हैं, वह भी एक विकल्प और आकुलता के विकारी भाव हैं। उनसे भगवान आत्मा अन्दर जरा भिन्न चीज़ है। समझ में आया? यह आत्मा का ऐसा स्वरूप है, ऐसा कभी इसने जाना, माना नहीं। आहाहा!

कहते हैं कि यह **बहिरात्मा, नर-नारकादि पर्यायों को...** नर अर्थात् यह मनुष्य, नारकी अर्थात् नीचे गति है नारकी की। यह माँस और शराब को सेवन करते हैं, वे मरकर नरक में जाते हैं। नीचे नरक योनि है। वहाँ अनन्त बार उपजा है। स्वयं क्या चीज़ है, उसके भान बिना। सम्यग्दर्शन बिना कहो या सम्यग्दर्शन में उसका विषय जो पूर्णानन्द प्रभु उसकी अस्ति के भान बिना, उसकी मौजूदगी के भान बिना... आहाहा! इसने इस शरीर को अपना माना। क्योंकि है तो चीज़ सही। अब जिस प्रकार है, उस प्रकार से ख्याल में न आयी, तब जो इसमें नहीं, उस चीज़ को मैं हूँ, ऐसा अपना अस्तित्व वहाँ स्वीकार किया। न्याय समझ में आता है? स्वयं आत्मा तो अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान है।....

इस देह में रहा हुआ तत्त्व जिसे चैतन्य कहते हैं, जीव कहते हैं, आत्मा कहते हैं, वह तो अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति वीर्य की और ज्ञान से भरपूर पदार्थ है। आहाहा! वह ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा है। ज्ञान का आनन्द और ज्ञान का सुख, उससे भरपूर यह आत्मतत्त्व है। इसकी जिसे अनादि से खबर नहीं वह, यह शरीर वह मैं - ऐसा वह मानता है। शरीर निरोगी तो कहे मैं निरोगी। शरीर रोगी तो कहे मैं रोगी। मोहनलालजी! कुछ पैसे हुए पाँच-पच्चीस लाख तो कहे मैं पैसेवाला। निर्धन हो, तब कहे, अरे! मैं तो

निर्धन। यह सब अज्ञानदशा से मानी हुई भ्रम की भ्रमणा की बातें हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं कि **नरनारकादि...** नर अर्थात् मनुष्य। यह देह है, वह जड़ है यह तो। यह तो मिट्टी है। यह कहीं आत्मा नहीं। आहाहा! इसी प्रकार नरक का शरीर है नारकी का, वह जड़ है। इसी प्रकार स्वर्ग का देव है, वह भी शरीर जड़ है और तिर्यंच तो दिखता है हाथी, घोड़ा शरीर है, वह तो मिट्टी जड़ है। परन्तु अपना अस्तित्व जिस प्रकार से है, उस प्रकार से सत्ता के स्वीकार में आया नहीं, इसलिए अपना अस्तित्व कहीं तो मानना पड़े इसे! न्याय समझ में आया? जिस प्रकार जिस स्वरूप से भगवान आत्मा, वह स्वयं आत्मा भगवान, हों! भगवान हो गये, वे भगवान में रहे। यह जिस प्रकार आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द अतीन्द्रिय सुख के भण्डार से भरपूर प्रभु है। आहाहा! अरे! कभी इसने सुना भी न हो। समझ में आया? ऐसे अस्तिवन्त—सत्तावन्त—होनेपनेरूप जिस प्रकार से आत्मा है, उस रीति के अज्ञान के कारण, यह मैं हूँ, ऐसा न मानकर शरीर, वाणी की क्रिया यह चालू है, बोलता हूँ, वह सब मेरी क्रिया है, ऐसा अज्ञानी मानता है। समझ में आया? आहाहा! यह तो १९वें श्लोक में आता है न? सवेरे सज्झाय आ गयी।

जो यह शरीर, जो यह उपदेश चलता है, वह तो वाणी का-जड़ का है। और जो विकल्प उठा है, वह राग है। कहते हैं कि जो कोई प्राणी उपदेश में मैं पर को उपदेश करता हूँ, वह मैं हूँ, (ऐसा मानता है)। क्योंकि वाणी है, वह जड़ है। वाणी तो जड़ आवाज है, वह कहाँ चैतन्य है? और अन्दर विकल्प उठा है राग, वह विकारभाव है। वह कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं है। वह विकार और उपदेश की क्रिया मैं उसे करता हूँ। आहाहा! शान्तिभाई! सूक्ष्म बात है, भगवान! यह तो दूसरी बात है अनादि काल से... तीर्थंकर परमेश्वर वीतराग केवलज्ञानी प्रभु ने जो आत्मा कहा, उसकी इसे खबर नहीं।

नर-नारकादि पर्यायों को ही अपनी सच्ची अवस्था मानता है। है? यह कथा नहीं है। इन शब्दों में कितना भरा हुआ है। समझ में आया? प्रभु चैतन्यद्रव्य का स्वभाव, यह कहेंगे अभी, उसे भूलकर अनादि अज्ञानी देव हों, नारकी हों, पशु हों,

सेठिया हों, अरबोंपति, वे सब अज्ञानी अनादि से ऐसा मान रहे हैं कि शरीर, वह मैं हूँ। उपदेश में तो यहाँ तक, भाई! लिया कि मैं पागल हूँ। ऐई! यह विकल्प और वाणी मैं हूँ तो यह मिथ्यात्व का पागलपन है। समझ में आया? परन्तु मिथ्यात्व का पागलपन न हो, वस्तु का भान हो कि मैं चैतन्य हूँ, तथापि उपदेश का विकल्प जो उठता है, कहते हैं... आहाहा! वह चारित्र दोष का पागलपन है। आहाहा! यह तो मिथ्यात्व का पागलपन अभी वर्णन करते हैं। समझ में आया? आहाहा!

देहदेवल में चैतन्य भगवान भिन्न तत्त्व पड़ा है। जिसमें पुण्य और पाप के विकल्प और राग की वृत्ति भी जिसमें नहीं। ऐसा चैतन्यबिम्ब प्रभु है अन्दर। आहाहा! उसकी जिसे खबर नहीं, वह शरीरादि की दशा को अपनी अवस्था मानता है। मैं जवान हूँ, मैं वृद्ध हो गया, मैं बाल हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ। पोपटभाई! ऐसा बहुत कठिन काम! उसका अस्तित्व तो चैतन्य भगवान अनन्त आनन्द से सम्पन्न है। वह तो सच्चिदानन्द-स्वरूप सिद्धस्वरूप है। जो सिद्ध भगवान हुए, वे कहाँ से हुए? वह दशा कहीं बाहर से आती है? अन्दर में आत्मा के स्वभाव में पूर्णानन्द और पूर्ण शुद्धता पड़ी है। आहाहा! उसका अन्तर में भान करके, एकाग्र होकर उस सिद्ध पर्याय की प्राप्ति वस्तु में है, उसमें से आती है। प्राप्त की प्राप्ति है। जो उसमें है, उसमें से आती है। उसे ऐसा न जानकर... आहाहा! इस शरीर की अवस्था, राग की अवस्था, उस वाला मैं हूँ, यह सब भ्रम और अज्ञान है। उसे परमात्मा बहिरात्मा, मिथ्यादृष्टि चार गति में भटकने के भाववाला (कहते) हैं। आहाहा! समझ में आया? पोपटभाई! क्या करना? यह सब छह लड़के, पैसे करोड़ों रुपये।

मुमुक्षु : लड़के लड़के में, पैसे पैसे में।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे पैसे में। यह तो अनुभव हो गया था न उस समय। आहाहा!

प्रभु! तू कौन है, भाई! तुझे खबर नहीं। तेरी जाति की जाति को तूने भात पाड़े बिना जो तुझमें नहीं, ऐसी कुजात यह शरीर, वाणी, मन, पुण्य और पाप के भाव, वे तेरी जाति में नहीं। आहाहा! वे तो भिन्न जाति की चीज़ है, भगवान! उसे मैं यह शरीर मेरा

और शरीर से काम करूँ, चौबीस घण्टे धन्धे में श्रम लेता हूँ, देह का बराबर सदुपयोग करता हूँ जड़ का। अरे! भगवान! यह शरीर जड़ है, इसका उपयोग तू क्या करेगा? आहाहा! इस शरीर की क्रिया मैं कर सकता हूँ, इस शरीर की अवस्था ही मैं हूँ, ऐसा अज्ञानी ने अनादि से मान रखा है। आहाहा! है?

आत्मा का वास्तविक स्वरूप उनसे भिन्न,... है। देह, यह मिट्टी की यह अवस्थायें, उनसे प्रभु अन्दर आत्मा की वास्तविक चीज़ तो इनसे भिन्न है। समझ में आया? घी का घड़ा होता है घड़ा, परन्तु उस घड़े से घी तो भिन्न चीज़ है। या दोनों एक हैं? इसी प्रकार यह (शरीर) मिट्टी का घड़ा है। प्रभु चैतन्यस्वरूपी आनन्दकन्द है, वह चीज़ इस देह के घड़े से अन्दर भिन्न है। उसे सुनने की गरज कहाँ है? मर गया अनादि काल से। वास्तविक चैतन्य के भान बिना चौरासी के अवतार में भटकता-रुलता कहीं कोई शरण नहीं। जहाँ शरण है, उसे पहिचानता नहीं। आहाहा!

कहते हैं, **आत्मा का वास्तविक स्वरूप उनसे...** देह की क्रिया यह हिलना, चलना, बोलना, यह सब, इनसे तो भिन्न है। यह तो जड़ है। **कर्मोपाधिरहित...** है। भगवान स्वरूप अन्दर है। जड़कर्म है, वह तो उसमें अभाव है। इस अँगुली में इस अँगुली का अभाव है, इस अँगुली में इस अँगुली का अभाव है। इस अँगुली में इस अँगुली का भाव है। इसी प्रकार आत्मा आत्मा के भाव से है, वह कर्म के भाव से रहित है। आहाहा! कैसे जँचे लोगों को? आहाहा! धर्म करो, धर्म करो। परन्तु क्या धर्म? कौन करे? धर्म कैसे होता है? समझ में आया?

कहते हैं **कर्मोपाधिरहित,...** चैतन्यदल शुद्ध। आहाहा! पानी का कलश होता है, उस कलश से पानी भिन्न है। या कलश और पानी दोनों एक है? इसी प्रकार चैतन्यरस आत्मा, समझण का पिण्ड प्रभु चैतन्यरस आत्मा और इन देह के रजकणों से तो अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! मोहनलालजी! कब भिन्न है? अभी। यह माना नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : देह भिन्न है, वह पृथक् होकर चला जाता है। वह तो मरते

समय, देह छूटकर हं... हं... होता। जाओ। परन्तु इससे देह और आत्मा एक है अभी? और इसलिए कहते हैं, मरते हुए भी कि यह जीव गया। शरीर गया, ऐसा कहते हैं? वापस गया। और यह काठियावाड़ी भाषा में कहते हैं। वापस दूसरा अवतार धरेंगे मरकर। अरेरे! जाति को जाने बिना यह जड़ की जाति को अपना मानकर उसका अहंकार करके, जो कर्म की उपाधि से रहित प्रभु अन्दर है... आहाहा! '**शुद्ध**' है, पवित्र है। भगवान आत्मा तो आनन्दस्वरूप है, ज्ञान की मूर्ति है, पवित्रता का पिण्ड है, वह शुद्ध है। आहाहा! पुण्य और पाप के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव पुण्य, वह अशुद्ध है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय भोग का इनका जो भाव, वह पापरूपी अशुद्धता है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव, वह पुण्यरूपी अशुद्धता है। आहाहा! दोनों अशुद्धता से प्रभु भिन्न है। इसमें धन्धे के कारण तो कुछ सूझा नहीं था, मोहनलालजी! कमाओ... कमाओ... दो, पाँच, पचास लाख हुए। धूल हुई, इसलिए मानो... ओहोहो! मानो मैंने कमाया। ऐ... पोपटभाई! आहाहा! है न यह मलूकचन्दभाई! नहीं जाडा बैठे? इनके पुत्र हैं मुम्बई में, तुमने नाम सुना है? पूनमचन्द मलूकचन्द। यह मोटे बैठे न पीछे? पूनमचन्द मलूकचन्द चार-पाँच करोड़ रुपये इनके पास हैं। इनके पुत्र के पास। मुम्बई में बड़े बाईस-बाईस मंजिल के मकान बनाते हैं। पूनमचन्द मलूकचन्द। यह मलूकचन्दभाई। इनका हक नहीं परन्तु, हों, वहाँ उसमें। आहाहा! अरे! किसका हक भाई? किस चीज़ में तू है, वह तेरा हक वहाँ लागू पड़े? समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि भगवान अन्दर देह की अवस्था को 'मैं' माने परन्तु वह तू नहीं, भाई! आहाहा! तुझसे भिन्न चीज़ पड़े, वह तेरी नहीं। बराबर है? लॉजिक से तो (कहा जाता है)। अब तो भिन्न पड़ जाते हैं। इसका नाश हो जाता है। आहाहा! और वास्तव में तो कर्म भी भिन्न पड़ जाते हैं। और वास्तव में तो पुण्य और पाप के मैल भाव भी भिन्न पड़ जाते हैं। आहाहा! भिन्न पड़े, वह तू नहीं और तू वे भिन्न पड़ें, उनमें आया नहीं। अरेरे! मूल की खबर नहीं होती और सर्वत्र हाँक रखे हैं। दुनिया के चतुर और दुनिया के होशियार। पोपटभाई! हसमुखभाई बहुत होशियार कहलाते हैं तुम्हारे घर में। इनके पुत्र चतुर है। अपने यह नहीं? यह अक्षर का... क्या कहलाता है? मशीन। इनका बड़ा पुत्र वहाँ इटली न? इटली। इटली गया था। छह लड़के करोड़ोंपति। एक लड़का

गया था और बीस हजार खर्च किये। २९ हजार की मशीन आयी है और १९ हजार के टाईप को यह सब मेहनत इसने की है। हों! बात की तो अपने को खबर भी नहीं। यह कहना 'ये लाये' यह भी व्यवहार की बातें हैं। यह चीज़ इस काल में स्वयं यहाँ आने की थी ही। समझ में आया? क्योंकि उस जड़ की चीज़ में वह क्रियावती नाम की शक्ति है कि जिसके कारण वह रूपान्तर होकर, बदलती हुई जहाँ जाना हो, वहाँ जाती है। आहाहा! कठिन काम, भाई!

यहाँ कहते हैं, भगवान तो शुद्धस्वरूप है न, प्रभु! वह तो चैतन्यरूप है न! **चैतन्यमय...** है। चैतन्यवाला, ऐसा नहीं। जाननमय, जाननमय। जैसे शक्कर मिठासमय। मिठासवाली, इसमें भेद पड़ जाता है। परन्तु शक्कर मिठासमय है। उसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्यवाला, ऐसा नहीं। चैतन्यमय है। समझ में आया? ऐसी बातें। यह कथा। ऐसी धर्म कथा। वे ऐसा कहें, दया पालो, व्रत पालो, अपवास करो, यह मन्दिर बनाओ। तुम्हारे भभूतभाई ने मन्दिर बनाया न? वहाँ आनेवाले हैं न, सोलह दिन रहनेवाले हैं। चैत्र शुक्ल त्रयोदशी का मुहूर्त है। आ गये। यहाँ आ गये हैं। भभूतभाई आ गये हैं। पहले... आये थे, तब उनको बुखार आया था। जुगराजजी आये। तब सब विनती करने के समय उन्हें बुखार आ गया। उनके छोटे भाई आये थे। और फिर स्वयं आ गये। फिर से आ गये। भभूतमल। आठ लाख डाले हैं उसमें-मन्दिर में। चार लाख जुगराजजी ने। जुगराजजी स्थानकवासी हैं। ... दिगम्बर मन्दिर बारह लाख का बनाया है, बैंगलोर। यहाँ से जानेवाले हैं। चैत्र शुक्ल तेरस का वहाँ मुहूर्त है। सोलह दिन वहाँ रहनेवाले हैं। वह यहाँ कहते हैं कि आठ लाख मैंने खर्च किये। वह तो जड़ है। मैंने मन्दिर बनाया, वह तो परवस्तु है। परवस्तु को कौन बनावे और कौन रचे? भारी गजब बातें, बापू! ऐसी। समझ में आया? क्योंकि वह तो चैतन्यमय वस्तु है। आत्मा तो चैतन्यमय है। वह जड़मय नहीं। जड़ से तो भिन्न है। समझ में आया?

टंकोत्कीर्ण, एक, ज्ञाता... आहाहा! आम जैसी चीज़ है, वैसी अन्दर शाश्वत् वस्तु है। **एक, ज्ञाता-दृष्टा है,...** जाननेवाला-देखनेवाला भगवान जगत की आँखें हैं। जगत, वह ज्ञेय है; भगवान आत्मा उसका ज्ञाता—जाननेवाला है। ज्ञेय से ज्ञाता चीज़ भिन्न है। ज्ञाता ज्ञेय में नहीं, ज्ञेय ज्ञाता में नहीं। आहाहा! ऐसा यह कैसा धर्म? बापू! तुझे

खबर नहीं धर्म की, भाई! यह आत्मा क्या चीज़ है, वह इस प्रकार जानी जा सकती है। अन्दर जाननेवाला-देखनेवाला, यह आत्मा है। वह एकरूप है, ऐसा कहना है। यह कहा न?

एक, ज्ञाता-दृष्टा है, अभेद्य है,... अर्थात् क्या कहा? वस्तु है अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति आदि स्वच्छता, शुद्धता चैतन्यमय। उसमें यह वस्तु और वस्तु की शक्तियाँ ज्ञान-आनन्द ऐसा भी भेद नहीं। अभेद वस्तु है। शक्कर में मिठास और सफेदी से शक्कर एकरूप है। शक्कर में मिठास और सफेदाई से शक्कर एकरूप है। इसी प्रकार भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानमय से एकरूप है। कभी सुना हो, मोहनलालजी! इसलिए सब... कोई भी कहाँ जगत की मजदूरी के कारण निवृत्ति कहाँ? निवृत्त कहाँ से? नहीं, बाबूभाई! मजदूरी-मजदूरी हम तो कहते हैं, बड़ी मजदूरी है। बड़े मजदूर यह सब करोड़पति और अरबोंपति। यह चौबीस घण्टे में दस घण्टे मेहनत करते हैं। ऐसा करो... ऐसा करो... ऐसा लाओ...कितने पैसे हुए? आवक कितनी हुई? उगाही कितनी है? पूँजी कितनी बाकी? ऐसे विकल्प के जाल करके जीव को चैतन्य को इसने मार डाला। अर्थात् क्या? इस प्रकार से चैतन्य है ज्ञानमय, शुद्धमय, अभेद, इस प्रकार उसका जीना अर्थात् टिकना है। ऐसा टिकना न मानकर, राग और शरीर की क्रिया मैं करता हूँ, इसलिए मैं टिक रहा हूँ, तो वह टिकते तत्त्व का निषेध किया तो वही उसकी हिंसा है। टकता भाषा समझते हो गुजराती? टिकता तत्त्व अर्थात्? जो है। यह तो भिन्न जाति है, बापू! दुनिया की कथा दया पालो और व्रत पालो, वह जिसे एकदम समझ में आये। इसमें कुछ है नहीं समझने का।

यहाँ तो कहते हैं कि वह दृष्टा और ज्ञाता अभेद चीज़। सत्ता महाप्रभु का स्वीकार नहीं करके, देह की क्रिया वह मैं, राग, वह मैं—उसके स्वीकार में यह परमानन्द की मूर्ति चैतन्य का टिकना जो अस्ति है, उसका इसने निषेध किया है। बस! निषेध किया, यही हिंसा। आहाहा! है, यह नहीं। नहीं, वह मैं। बात समझ में आती है कुछ? भारी सूक्ष्म बातें, बापू! यह तो लॉजिक से तो बात चलती है, परन्तु अब समझने का तो इसको है न? वस्तु है चैतन्यस्वरूप ज्ञानमय, आनन्दमय, शान्तमय वीतरागस्वरूप से विराजमान है। ऐसे तत्त्व की जो अस्तिवाली चीज़ है, वह मैं नहीं। अर्थात् इतना मैं नहीं,

अर्थात् उसका जो जीवन ऐसा पूर्ण है, वह नहीं। (ऐसा मानना) वही हिंसा है। वही मिथ्यात्व के भाव और जीव ने अन्दर में हिंसा की। आहाहा! पर की हिंसा कौन कर सकता है? पर की दया कौन पाल सकता है? बापू! यह बातें सूक्ष्म, भाई! समझ में आया? ऐसे जीव को इसने अभेद है, उसे नहीं माना। आहाहा!

अनन्त ज्ञान तथा अनन्त वीर्य से युक्त है... अनन्त जानना जिसका स्वरूप है, जानना जिसका स्वरूप है, उस स्वरूप की हद नहीं। जानना जिसका स्वभाव है, उस स्वभाव की मर्यादा नहीं। जिसका जानना स्वभाव, वह अनन्त है। आहाहा! **तथा अनन्तवीर्य...** वह पूर्णानन्द की अनन्त शक्तियों को टिका रखकर पूर्ण शुद्ध की रचना करे, ऐसा अनन्त वीर्य का नाथ आत्मा है। आहाहा! समझ में आया? सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ ने केवलज्ञान में इस आत्मा की चीज़ की इतनी महिमा देखी है। समझ में आया? आहाहा!

और अचल स्थितिरूप है... अचल स्थिति। ध्रुवपना है, वह कभी चलित नहीं होता। नित्यानन्द प्रभु, नित्यानन्द प्रभु, नित्य ज्ञानस्वरूपी प्रभु, उसका उसके स्वरूप में से कभी चलित होना नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! हमारे धर्म समझना है। परन्तु वह धर्म ऐसे होगा। धर्म करनेवाला, धर्म करना है तो दशा में-पर्याय में-अवस्था में, परन्तु वह करनेवाले का तत्त्व कैसा, कितना है? उसकी समझ बिना तू धर्म कहाँ करेगा? आहाहा!

कहते हैं, **अचल स्थितिरूप है—ऐसा भेदज्ञान (विवेकज्ञान) उसको नहीं होता;...** किसे? कि जिसे यह शरीर की अवस्था वह मैं, यह भाषा चलती है, वह मैं, ऐसी जिसकी श्रद्धा है और उससे भिन्न मेरा अनन्त ज्ञानमय तत्त्व है, ऐसा विवेक और भेदज्ञान उसे है नहीं। ध्यान रखना, भाई! यह तो शब्द शब्द तोलकर इतने होते हैं। आहाहा! जो यह शरीर को, वाणी को, मन को अपना माने, वह अवस्था-दशा मेरी है - ऐसा माने, उसे उस दशा से भिन्न अनन्त ज्ञान-दर्शनवाला तत्त्व, उसे भेदज्ञान से जानने में आता नहीं। यह उसे ही अपना मान रहा है। आहाहा! कहो, मलूकचन्दभाई! मुम्बई में तो झपाटा बजता हो। मोटरें चलती हों और कुत्ते की भाँति भौंकते हों। ऐई... ऐसा करो, ऐई... ऐसा करो। घोड़े की भाँति दौड़ना।

मुमुक्षु : एक रह गया, गधे की भाँति।

पूज्य गुरुदेवश्री : गधे की भाँति। आहाहा! मोहमयी नगरी कही है न?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बात सत्य। श्रीमद् ने कहा है न, मोहमयी नगरी। आहाहा! मोहमयी-मोहमयी। राग... राग... राग... द्वेष, उसमें ही तत्पर रहा है, यह जीव। ओहोहो! भगवान आत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने कहा, जाना और कहा, इसकी उसे खबर नहीं होती। जगत के चतुराई की बातें करे। मानो देव का पुत्र उतरा। इसका ऐसा होता है और इसका ऐसा होता है। आहाहा! परन्तु तू कौन है? कहाँ है? कैसे है? खबर है?

मुमुक्षु : अमुक का पुत्र है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इनका पुत्र, यह मेरी माँ, इसका मैं पिता, यह मेरी स्त्री, इसका मैं पति, यह मेरा मकान और इसका मैं स्वामी, यह मेरे पैसे और मेरे कमाये हुए। लो, यह मैं। आहाहा! प्रभु भूला है, यह दीवार भूला है, हों! देखना चाहिए बाहर, उसके बदले दीवार में ऐसा रास्ता देखा और वहाँ भागा। वहाँ दीवार आड़े आयी। चैतन्य भगवान शान्त का सागर है। पूर्ण ज्ञान से भरपूर पदार्थ है। उसने शरीर की, वाणी की अवस्था को अपनी मानकर, उससे भिन्न नहीं माना। वही मैं हूँ, ऐसा माना। आहाहा! **इस कारण वह संसार के परपदार्थों में...** संसार के परपदार्थों—शरीर, वाणी, कर्म, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, यह सब पर है यह तो । इसके कहाँ थे? आहाहा! **तथा मनुष्यादि पर्यायों में...** मनुष्यादि शरीर की अवस्थाओं में **आत्मबुद्धि करता है—उन्हें आत्मा मानता है।** लो! आहाहा!

जीव, जिस-जिस गति में जाता है,... जीव जिस-जिस गति में जाता है। मनुष्यगति में, नारकी की गति में, पशुगति यह घोड़ा, गाय और स्वर्गगति। **उस-उस गति के अनुकूल भिन्न-भिन्न स्वांग धारण करता है।** आहाहा! मनुष्य का स्वांग यह देह जड़ ऐसा, नारकी का शरीर ऐसे कुबड़ा, रोगी, दु:खी। यहाँ से मरकर राजा हो न बड़े? करोड़पति लोग और राजा मरकर वहाँ नरक में पार्लेलियामेंट घढ़ाता है। समझ में

आया? लोहे का गोला भारी हो और पानी ऊपर रखो तो कहाँ जाये? इसी प्रकार जिसने आत्मा के भान बिना बड़े पाप किये हों। हिंसा, माँस, शराब, शिकार ऐसे लम्पटी मरकर नीचे नरक में जाते हैं। वह नरक की गति में जाये, तब मैं नारकी हूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! मनुष्य की गति में आया तब मैं मनुष्य हूँ, ऐसा मानता है। देवगति में गया तब मैं देव हूँ, ऐसा मानता है। आहाहा! है?

उस गति के अनुकूल... अर्थात् उस गति के योग्य। **भिन्न-भिन्न स्वांग धारण करता है। वे स्वांग, अचेतन हैं...** शरीर, वाणी, मन सब अचेतन वेश है। वह कहीं चैतन्य का वेश नहीं। आहाहा! **जड़ है...** यह तो सब जड़ है। **क्षणिक है।** क्षण-क्षण में पलटती चीज़ आत्मा के सम्बन्ध बिना की चीज़ है यह तो। आहाहा! **उन स्वांगों को धारण करनेवाला जीव, उनसे भिन्न शाश्वत ज्ञानस्वरूप चेतनद्रव्य है। अज्ञानी को अपने वास्तविक स्वरूप का भान नहीं; इस कारण उस बाह्य स्वांग को ही जीव मानकर, तदनुसार वर्तन करता है।**

अब यह मोक्षमार्गप्रकाशक का पेरेग्राफ है न? मोक्षमार्ग। टोडरमलजी का कथन है। टोडरमलजी। मोक्षमार्गप्रकाशक पुस्तक है। मोहनलालजी! मोक्षमार्गप्रकाशक देखा है? नाम सुना नहीं होगा। मोक्षमार्गप्रकाशक टोडरमलजी की पुस्तक है। टोडरमल हो गये हैं। उन्होंने बहुत सरस पुस्तक बनायी है। मोक्षमार्गप्रकाशक। गृहस्थी थे। बहुत ही शास्त्रों में से दोहन करके, दोहन करके बनाया है। उसका आधार देते हैं।

'अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारक,... कहते हैं कि यह तो भगवान आत्मा तो अमूर्त है। उसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं है। अमूर्तिक प्रदेश। असंख्य प्रदेश हैं वे। साँकल होती है न? सोने की साँकल। साँकल में जैसे मकोड़ा होते हैं न मकोड़ा? हजार मकोड़े की साँकल। यह साँकल समझते हो? तुम्हारे क्या कहते हैं? साँकली हमारे तो कहते हैं। वह हजार मकोड़े की हो, उसी प्रकार आत्मा असंख्य प्रदेशी आत्मा है। जैसे हजार मकोड़े की पूरी साँकल और मकोड़ा मकोड़ा एक-एक भिन्न है, उसी प्रकार भगवान में असंख्य प्रदेश हैं, आत्मा में अन्दर। एक रजकण रखो, रजकण-पॉईन्ट यह अन्तिम टुकड़ा। यहाँ रखो, इतनी जगह को वहाँ प्रदेश कहते हैं।

यहाँ दूसरा प्रदेश, तीसरा प्रदेश, चौथा प्रदेश, ऐसे असंख्य प्रदेश आत्मा है। असंख्य प्रदेश–देशवाला आत्मा है, ऐसा कहते हैं। वह समझे नहीं, यह कहते हैं।

अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज,... श्रीमद् में आता है एक। 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन...' मुझे यहाँ अटकना है। यह तो सब खबर है न फिर। शुद्ध है भगवान आत्मा, बुद्ध है—ज्ञान की मूर्ति है और चैतन्यघन है। वह प्रदेश है। समझ में आया? आत्मसिद्धि देखी है? श्रीमद् राजचन्द्र की। आत्मसिद्धि देखी नहीं? ...याद नहीं होगी। वह गुजराती हुआ है। गुजराती में है। ३५ वर्ष पहले (संवत्) १९९५ में उसका व्याख्यान हुआ था। गुजराती में। बहुत सरस है। १९९५ में राजकोट चातुर्मास था न? तब गाँधीजी व्याख्यान में आये थे। मोहनलाल गाँधी, नहीं? कस्तूरबा, वे देसाई, उनके साथ इकट्ठा था न वह? महादेव देसाई। ये सब व्याख्यान में आये हुए हैं। (संवत्) १९९५ की बात है। ३५ वर्ष पहले, ३६ वर्ष पहले। उस समय का व्याख्यान लिखा हुआ है, बहुत सरस। पाँचेक हजार, छह हजार पुस्तकें प्रकाशित की हैं। थोड़ी रखी है। यह आत्मसिद्धि बनायी है श्रीमद् राजचन्द्र ने। १४२ श्लोक। उसमें यह श्लोक है।

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुखधाम,
दूसरा कितना कहें कर विचार तो पाम।

शुद्ध है, भगवान आत्मा पवित्र का पिण्ड है, भाई! उसमें मैल नहीं। आहाहा! पानी में मैल होता है, वह पानी नहीं। पानी में कादव का मैल दिखता है, वह पानी नहीं। पानी तो निर्मल है। उसी प्रकार भगवान आत्मा शुद्ध निर्मल है और बुद्ध है—ज्ञानस्वरूप है। चैतन्यघन है। घन अर्थात् असंख्य प्रदेश का पिण्ड है। यह प्रदेश कहे वे। यह सुना न हो। जय भगवान–नारायण। असंख्य प्रदेश क्या और यह क्या बोलते हैं? तत्त्व की बात ही पूरी गुम हो गयी है और थोथे ऊपर के रह गये। यह क्रिया और यह क्रिया और यह क्रिया। आहाहा!

कहते हैं कि **असंख्य प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध...** प्रसिद्ध है। आत्मा ऐसा, वह प्रसिद्ध है। **ज्ञानादि गुणों का धारक,...** जानना, आनन्दादि शक्ति का धारक। आहाहा! **अनादिनिधन...** अनादि अ–आदि, अ–निधन ऐसा शब्द लेना। अण–आदि, अ–निधन।

आदि नहीं और निधन अर्थात् मृत्यु नहीं-अन्त नहीं। अनआदि-अनिधन। निधन अर्थात् अन्त। अ-निधन। आदिरहित और अन्तरहित। समझ में आया?

एक व्यक्ति आया था। बड़ा व्यापारी था। २०-२५ लाख का आसामी था। उसे दुकान करनी होगी। आया था। यहाँ तो बहुत आते हैं न जवान-बुवान। उससे मैंने इतना पूछा, यह आयुष्य गिना जाता है ५०-६०-७० (वर्ष), वह शरीर का या आत्मा का? कि मुझे कुछ खबर नहीं। यह २५ लाख का आसामी। बड़ा धन्धा। जामनगर में दुकान है। यहाँ आया था। आवे तो सही, सब आते हैं। कहा, यह शरीर का आयुष्य कहलाता है, स्थिति कहलाती है कि ६० वर्ष का, ७० वर्ष की यह शरीर की या आत्मा की? आत्मा तो अनादि-अनन्त है। वह तो शरीर की स्थिति की बातें चलती है। ५० वर्ष का, ६० वर्ष का, धूल का। परन्तु दुनिया कमाने और भोग के कारण निवृत्त कहाँ है? क्या चीज़ है, उसे समझने के लिये निवृत्ति कहाँ मिले? मारने के कारण जीने की निवृत्ति कहाँ मिलती है इसे? आहाहा!

कहते हैं कि **अनादि-निधन, वस्तु आप (आत्मा) है...** आहाहा! तत्त्व है, पदार्थ है, वस्तु है। वस्तु अर्थात्? इसमें ज्ञान-दर्शन-आनन्द अनन्त गुण बसते हैं। आहाहा! वस्तु है। वस्तु अर्थात्? यह वास्तु लेते हैं न? किसमें ले? वृक्ष के ऊपर या मकान में? इसी प्रकार यह वस्तु प्रभु है। वस्तु अर्थात्? ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, कर्तृत्व, भोक्ता ऐसे-ऐसे अनन्त गुण जो स्वभाव-शक्ति उसमें बसी हुई है। इसलिए उसे वस्तु कहा जाता है। समझ में आया? समझ में आया, यह विश्राम का शब्द है। बोले इसमें कोई-कोई वाक्य होवे न ऐसे। समझ में आया? एक लड़का कहता था, पाँच-छह वर्ष का। कहाँ मुम्बई न? समझ में आया (बोलते हैं) वे महाराज कहाँ हैं? सुनने आया होगा। बारम्बार आवे न? यह वाक्य का विश्राम है। समझ में आया? क्योंकि अनन्त भव में कभी समझा नहीं। समझ में आया? साधु हुआ, क्रियाकाण्ड किये, पंच महाव्रत पालन किये, यह सब जड़ की क्रिया और राग की क्रिया, वह आत्मा की नहीं। चैतन्यघन भगवान आत्मा पर से अत्यन्त पृथक्। आहाहा! इस आत्मा को वस्तु कहते हैं।

तथा... अब यह आया यह। **मूर्तिक...** आत्मा अमूर्त, तब यह (शरीर) मूर्त।

दिखता है न? वर्ण, गन्ध, यह जड़ वर्ण दिखता है यह तो। **मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों का पिण्ड,...** जड़ रूपी पुद्गलों का पिण्ड **प्रसिद्ध ज्ञानादिरहित,...** दोनों में प्रसिद्ध रखा है। उसमें था न? भाई! **प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारक,...** यह **प्रसिद्ध ज्ञानादिरहित,...** प्रसिद्ध अर्थात् उसमें ज्ञान कहाँ है? इसे है ज्ञान इसमें? यह तो जड़ है।

नवीन जिनका संयोग हुआ है,... दूसरी गति में से आया तब इस शरीर का नया संयोग हुआ है। दूसरी गति में से आया न यहाँ? तब आत्मा को पुराना शरीर छूट गया। यह दूसरा संयोग नया हुआ। आहाहा! अभी पुनर्जन्म है, भटकता है, इसका भी ठिकाना नहीं। लो, तब पुनर्जन्म है। लो, मान ले नहीं। वस्तु है। अनादि अनन्त वस्तु है। वह नये-नये शरीर के संयोग धारण करके, धारण अर्थात् सम्बन्ध में आकर चौरासी में भटकता है। समझ में आया? यह कहते हैं।

नवीन जिनका संयोग हुआ है,... अर्थात् क्या कहते हैं? कि अन्दर आत्मा जो है, उसमें तो ज्ञान-दर्शन-आनन्द नवीन नहीं। वह तो वस्तुमय है। परन्तु इस शरीर का तो नया संयोग हुआ है। माता के गर्भ में आया दूसरे भव में से। समझ में आया? वीर्य का बिन्दु और ॠतु का बिन्दु दो इकट्ठे होकर उसमें उपजा, दूसरे में से आकर। आहाहा! शास्त्र में सब कथन है। सात दिन में यह होता है, पहले बिन्दु आवे, फिर सात दिन में जरा... होता है ... फिर महीने बाद जरा अवयव होते हैं। ऐसे करते-करते नौ महीने में शरीर का अवतार होता है, इस देह का। तब उसे ऐसा होता है कि मैं जन्मा। तू जन्मा? यह तो शरीर का संयोग नया हुआ। शरीर की उत्पत्ति हुई संयोग में। तेरी उत्पत्ति है उसमें? यह भी कहाँ खबर है? ऐसे का ऐसे अन्ध-अन्ध। अनादि से चैतन्य की जाति को जाने बिना अन्धा अन्ध पलाय (अर्थात्) अन्धा दिखलाये और अन्धा चले। गिरे खड्डे में। इसी प्रकार चैतन्य के भान बिना और करानेवाले भी यह कहे, यह करो... यह करो... यह करो। परन्तु चैतन्य कौन है, इसके ज्ञान बिना यह अन्धकार में भटक रहा है। आहाहा!

नवीन जिनका संयोग हुआ है, ऐसे शरीरादि... शरीर, वाणी, मन **पुद्गल, अपने से पर हैं; इन दोनों के संयोगरूप नाना प्रकार की मनुष्य...** नाना अर्थात् अनेक। **नाना**

प्रकार की मनुष्य-तिर्यञ्चादि पर्यायें होती हैं... कीड़ी, मकोड़ा, हाथी, यह सब देखो न! शरीर ऐसे हों नये-नये। आत्मा तो है, वह है अनादि का। भान नहीं होता, इसलिए भ्रमणा में नये पाप बाँधकर ऐसे शरीर नये-नये करता आता है। द्रव्यलिंगी साधु भी अनन्त बार हुआ है। नग्न मुनि पंच महाव्रतधारी। परन्तु वह पंच महाव्रत तो विकल्प है, राग है, आस्रव है। उसे इसने धर्म माना था। ऐसे वेश अनन्त बार धारण किये।

वहाँ तो ऐसी बात चलती थी कि ऐसे द्रव्यलिंग इतनी बार धारण किये कि द्रव्यलिंग से मरकर प्रत्येक क्षेत्र में अनन्त बार जन्मा और मरा है, बापू! आहाहा! तूने कोई क्षेत्र बाकी नहीं रखा। चौदह ब्रह्माण्ड में सर्वत्र एक-एक जगह अनन्त बार अवतरित हुआ और अनन्त बार वहाँ मरा। यह भ्रमणा-मिथ्यात्व के कारण। आहाहा! जो चीज़ है, उसके भान बिना जहाँ-तहाँ मान बैठा। आहाहा! दया की पर्याय दया के भाव आये तो कहे - मैंने धर्म किया। दया का भाव तो राग है। आहाहा! राग है, वह तो हिंसा है। ऐई! अपने स्वरूप का अस्तित्व जो है पूर्णानन्द, उसमें यह राग है, वह तो शान्ति का घात करता है। आहाहा! उसे अपना स्वरूप माना।

अपने से पर हैं; इन दोनों के संयोगरूप नाना प्रकार की मनुष्य-तिर्यञ्चादि पर्यायें होती हैं—यह मूढ़ जीव, उन पर्यायों में अहंबुद्धि धारण कर रहा है;... इस प्रकार अहं जो चाहिए अन्दर पूर्णानन्दस्वरूप में अहं वहाँ चाहिए, उसके बदले यहाँ 'मैं' ऐसा मान रहा है। **स्व-पर का भेद नहीं कर सकता।** राग और शरीर—दोनों भिन्न चीज़ है। भगवान भिन्न चीज़ है। भगवान अर्थात् आत्मा। आचार्यों ने भगवानरूप से बुलाया है। ७२ गाथा में। भगवान आत्मा। आहाहा! पामर को प्रभुरूप से बुलाया। उस रूप से नहीं। ७२ गाथा में ऐसा आता है, समयसार। भगवान आत्मा...! आहाहा!

पुण्य और पाप के भाव, वे अशुचि हैं। पुण्य—शुभ-अशुभभाव, वह अशुचि है, मैल है। भगवान आत्मा निर्मलानन्द है, ऐसा उसमें आता है। बहुत बार कहा गया है। यहाँ तो ४० वर्ष हुए। यह तो ४०वाँ वर्ष चलता है। फाल्गुन कृष्ण तीज को यहाँ ४० पूरे होंगे। आहाहा! समयसार १७ बार वाँचन हो गया है। वहाँ कहा है कि प्रभु! तू कौन है ? शरीर, वाणी, मन तो तू नहीं। परन्तु अन्दर शुभ-अशुभभाव दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा

का विकल्प उठे, वह भी अशुचि है, मैल है। और यह कमाने का, भोग का, कमाने का, ब्याज का भाव-पाप उपजे, वह पापभाव भी मैल है। वह अशुचि है। तब भगवान आत्मा निर्मलानन्द है। ऐसा लिया है। आहाहा! क्या कहे? एक व्यक्ति को भगवान कहने पर अरे! भगवान आत्मा! भाईसाहेब! हम तो पामर हैं। अब सुन न! भगवान होगा, वह भगवानपना आयेगा कहाँ से? सिद्ध हुए न भगवान? णमो सिद्धाणं। वे कहाँ से हुए? बाहर से हुए हैं? समझ में आया? आहाहा!

चौसठ पहरी पीपर में चरपराहट भरी है। छोटी पीपर। वह छोटी पीपर नहीं आती? छोटी पीपर कद में छोटी दिखती है और रंग में काली दिखती है, परन्तु अन्दर में चौसठ पहरी चरपराहट / चरपराई पड़ी है। घोंटते हैं न? घूंटकर बाहर आवे चौंसठ पहरी, वह कहाँ से आती है? पत्थर में से आती है? अन्दर है? इतनी छोटी, कद में छोटी, रंग में काली, तथापि उसमें चौसठ पहरी (चरपराहट भरी है)। चौसठ पहरी समझ में आता है? यह चौसठ पैसे का रुपया कहलाता था न। अभी तक तो? अब तुम्हारे सौ पैसे का रुपया हुआ। इसी प्रकार चौसठ पहर घूंटे, तब उसकी चरपराहट जो अन्दर है, वह बाहर आती है। उसमें है। एक बार तो चौसठ पहरी रुपया-रुपया पूरा चरपराई... चरपराई अर्थात् चरपरा रस है और हरा रंग है अन्दर। आहाहा!

इसी प्रकार भगवान आत्मा में पूरा-पूरा आनन्द और ज्ञान भरा है। अरे.. अरे! कैसे जँचे? समझ में आया? चौसठ पहर कहा न? चौसठ पैसा, सोलह-सोलह आना। रुपया। पूरा रस भरा है। इसी प्रकार भगवान आत्मा, पूर्ण आनन्द पड़ा है, भाई! इसे खबर नहीं। आहाहा! इस आत्मा को और इस शरीर को दोनों को एक मानता है, ऐसा कहते हैं। है न? **स्व-पर का भेद नहीं कर सकता।**

जो पर्यायें प्राप्त की हों,... पर्याय अर्थात् शरीर। **उसी में अपनापन मानता है;...** स्त्री का शरीर पाया तो कहे मैं स्त्री। पावैया-हिंजड़ा का शरीर मिले। यह हिंजड़े होते हैं न पावैया? तो कहे, हम हिंजड़े। अरे! आहाहा! बालक का शरीर तो कहे हम बालक हैं। बापू! वह तो शरीर की दशा है, भाई! वह तेरी चीज़ नहीं, तू ऐसा नहीं, तुझमें वह नहीं, इसमें वह नहीं, उसमें तू नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

तथा उस पर्याय में भी जो ज्ञानादि गुण हैं,... शरीर की पर्याय जहाँ-जहाँ भले हो, वहाँ **ज्ञानादि गुण हैं, वे तो अपने गुण हैं और रागादि हैं, वे...** पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं—दया, दान, व्रत, काम, क्रोध, यह आमदनी करना, कमाना, दुकान में बैठकर गद्दी पर, ऐसा करो... ऐसा करो... यह सब राग पापराग है। ...भाई! सत्य होगा यह ? ... **रागादि हैं, वे अपने को कर्मनिमित्त से औपाधिकभाव हुए हैं...** पुण्य-पाप का भाव, वह कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं है। कर्म के संग से उत्पन्न हुई मलिनदशा है। आहाहा!

तथा वर्णादिक हैं,... इस शरीर के रंग आदि। **परमाणुओं का नाना प्रकार पलटना होता है,...** रोग हो, रूपवान हो, जीर्ण हो, **वे सर्व पुद्गल की अवस्थाएँ हैं,...** जड़ की। **किन्तु उन सबको यह जीव अपना स्वरूप जानता है।** ज्ञान भी मैं, राग भी मैं, शरीर की अवस्था भी मैं। खिंचड़ा किया है, कहते हैं। समझ में आया ? यह टोडरमलजी ने लिखा है। **किन्तु उन सबको यह जीव अपना स्वरूप जानता है। उसको स्वभाव-परभाव का विवेक नहीं हो सकता।** इसलिए स्वभाव—स्व-भाव। स्व अर्थात् अपना आनन्द और ज्ञानभाव और परभाव—पुण्य-पाप के भाव और शरीरादि के परभाव, दोनों का विवेक नहीं करता। क्योंकि पर को अपना माना, इसलिए पर से भिन्न ज्ञान करता नहीं। आहाहा! यह सब बड़े एम.ए. पढ़े हुए हों, एल.एल.बी. के पूंछड़े लगाये हों। वह भिन्न होगा ? एल.एल.बी. की, एम.ए. की कोई कीमत रही नहीं अब। आहाहा!

कहते हैं कि ऐसी चीज़ जो है न ? जहाँ-जहाँ पर्याय शरीर की पावे, वहाँ-वहाँ शरीर की अवस्था पुद्गल की, रोगादि हों जड़ की, बोलना हो, वह जड़ का और स्वयं भगवान ज्ञानानन्दस्वभाव भिन्न है। तथापि ज्ञानस्वभाव को, दया, दान के विकल्प को और देह की अवस्था को। तीनों को अपनी मानता है। आहाहा! इसका नाम मिथ्यादृष्टि जीव। जिसकी दृष्टि असत्य और झूठी है, वह ऐसा मानता है। और उस झूठ का फल चार गति में भटकने का है। आहाहा! समझ में आया ?

श्लोक - १०

स्वदेहे एवमध्यसायं कुर्वाणो बहिरात्मा परदेहे कथंभूतं करोतीत्याह -

***स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्।**
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति॥ १०॥

व्यापारव्याहाराकारादिना स्वदेहसदृशं परदेहं दृष्ट्वा। कथम्भूतं? परात्मनाऽधिष्ठितं कर्मवशात्स्वीकृतं अचेतनं चेतनेन-संगतं मूढो बहिरात्मा परत्वेन परात्मत्वेन अध्यवस्यति॥१०॥

स्वदेह में ऐसा अध्यवसाय करनेवाला बहिरात्मा, परदेह में कैसा अध्यवसाय करता है? — वह कहते हैं —

जैसे निज की देह में, आत्म-कल्पना होय।
वैसे ही पर-देह में, चेतनता संजोय॥१०॥

अन्वयार्थ **- (मूढः) अज्ञानी बहिरात्मा, (परात्माधिष्ठितं) अन्य के आत्मा के साथ रहनेवाले, (अचेतनं) अचेतन—चेतनारहित, (परदेहं) दूसरे के शरीर को, (स्वदेह सदृशं) अपने शरीर समान (दृष्ट्वा) देखकर, (परत्वेन) अन्य के आत्मारूप से, (अध्यवस्यति) मानता है।**

टीका **- व्यापार, व्याहार (वाणी-वचन) आकारादि द्वारा परदेह को अपने देहसमान देखकर; कैसा (देखकर)? कर्मवशात् अन्य के आत्मा से अधिष्ठित-स्वीकृत अचेतन (पर के देह को) चेतनायुक्त देखकर, बहिरात्मा उसे (देह को) परपने रूप से अर्थात् पर के आत्मारूप मानता है।**

---

* **णियदेहसरिच्छं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण। अच्चेयणं पि गहिय झाइज्जइ परमभावेण॥**

अर्थात् मिथ्यादृष्टि पुरुष, अपनी देह के समान दूसरे की देह को देख करके यह देह अचेतन है, तो भी मिथ्याभाव से आत्मभाव द्वारा बड़ा यत्न करके पर की आत्मा ध्याता है अर्थात् समझता है।

(-श्री मोक्षप्राभृत, गाथा ९, कुन्दकुन्दाचार्यः)

स्वशरीरमिवान्विध्य पराङ्गं च्युतचेतनम्। परमात्मानमज्ञानी परबुद्ध्याऽप्यवस्यति॥

अर्थात् तथा वही बहिरात्मा अज्ञानी, जिस प्रकार अपने शरीर को आत्मा जानता है, उसी प्रकार पर के अचेतन देह को देखकर पर का आत्मा मानता है अर्थात् उसको पर की बुद्धि से निश्चय करता है।

(-श्री ज्ञानार्णव, गाथा ३२-१५, शुभचन्द्रः)

भावार्थ - जिस प्रकार बहिरात्मा अपने शरीर को, अपना आत्मा मानता है; उसी प्रकार अन्य के (स्त्री, पुत्र, मित्रादि के) अचेतन शरीर को, उनका आत्मा मानता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

जैसे - अपने शरीर का नाश होने पर, बहिरात्मा अपना नाश समझता है; वैसे ही स्त्री, पुत्र, मित्रादिक के शरीर का नाश होने पर, उनके आत्मा का नाश समझता है; इस प्रकार वह अपने शरीर में आत्मबुद्धि-आत्मकल्पना करके दुःखी होता है और अन्य भी शरीर की प्रतिकूलता के कारण दुःखी होते हैं — ऐसा मानता है॥१०॥

श्लोक - १० पर प्रवचन

स्वदेह में ऐसा अध्यवसाय करनेवाला बहिरात्मा, परदेह में कैसा अध्यवसाय करता है? वह कहते हैं— अब यह जरा लेंगे। क्या कहते हैं? कि इस देहादि को अपना माना, ऐसा ही स्त्री, पुत्र, परिवार की जो देह है, वह देह भी उसका—आत्मा का है, ऐसा यह मानता है। **स्वदेह में ऐसा अध्यवसाय...** अध्यवसाय अर्थात् निर्णय करता है, ऐसे **बहिरात्मा, परदेह में...** भी ऐसा अध्यवसाय करता है। यह उसका शरीर, यह स्त्री का शरीर, यह पुत्र का शरीर, यह .... इस शरीर को ही आत्मा मानता है। आहाहा! क्योंकि उसे पहिचान तो आँख से शरीर की है। उसका आत्मा जो है, उसका तो ज्ञान का भान नहीं इसे। आहाहा! समझ में आया? यह दसवीं गाथा है।

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति॥ १०॥

आहाहा! पहले अन्वयार्थ लेते हैं।

अन्वयार्थ - अज्ञानी बहिरात्मा,... मूढ़ की व्याख्या। **'परात्माधिष्ठितं' अन्य के आत्मा के साथ रहनेवाले, अचेतन—चेतनारहित, दूसरे के शरीर को, अपने शरीर समान देखकर,...** अपने शरीर समान दूसरों को देखकर, यह शरीर मेरा ऐसे, वह शरीर भी उसके आत्मा का है। ऐसे शरीर को ही आत्मा मानता है। आहाहा! बात तो सच्ची है। स्त्री-पुत्र को पहिचाने तो शरीर को ही पहिचानता है न। उनका आत्मा क्या है, यह कहाँ

(खबर है)। हें, मोहनलालजी! आत्मा कौन है अन्दर (इसकी खबर नहीं)। यह मेरी स्त्री और यह मेरा पुत्र, यह मेरे मकान। आहाहा! उसका आत्मा, अपने शरीर को जैसे स्वयं अपना मानता है, वैसे दूसरे के शरीर को भी वह आत्मा ही मानता है। उसका शरीर है, वह उसके आत्मा का है। आहाहा! बात तो बहुत अच्छी, समझ में आये ऐसी यह बात है। नौतमभाई! परन्तु कहाँ फँस गया है।

अन्य के आत्मारूप से, मानता है। यह दूसरे का आत्मा, ऐसा। यह शरीर उसका है और यह दूसरे का आत्मा, वह शरीर। आहाहा! उसका भगवान आत्मा अन्दर भिन्न है। शरीर तो अन्दर खोली एक भिन्न चीज़ है यह तो। म्यान और तलवार दोनों भिन्न चीज़ है। शरीर तो म्यान है और तलवार भगवान अन्दर रहा हुआ भिन्न चीज़ है। परन्तु म्यान को देखकर ही यह मानता है कि यह तलवार है। समझ में आया? आहाहा! शरीर, वाणी, मन की दशा जो अपनी मानता है, वह उसे आत्मा मानता है। उसी प्रकार पर के शरीर को ही (आत्मा मानता है)। स्त्री का, पुत्रों का, परिवार का, अरे! नौकरों का उनका शरीर, वह सब आत्मा। आहाहा!

टीका - व्यापार, व्याहार (वाणी-वचन) आकारादि द्वारा परदेह को... पर का व्यापार देहादि का **अपने देहसमान देखकर; कैसा (देखकर) ? कर्मवशात् अन्य के आत्मा से अधिष्ठित-स्वीकृत अचेतन (पर के देह को) चेतनायुक्त देखकर,...** चेतनायुक्त देखकर। यह सचेत वनस्पति नहीं कहते? सचेत वनस्पति। परन्तु वनस्पति जड़ शरीर है और वह चेतन तो भिन्न चीज़ है। आता है न?...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मगसिर कृष्ण १, रविवार, दिनांक २९-१२-१९७४, श्लोक-१०-११-१२, प्रवचन-१९

समाधितन्त्र। विशेष।

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति॥ १०॥

जैसे - अपने शरीर का नाश होने पर, बहिरात्मा अपना नाश समझता है;... यह तो शरीर पर जड़ है। उसका नाश होने पर मेरा नाश हुआ ऐसा अज्ञानी मानता है। क्योंकि शरीर से भिन्न चीज़ हूँ, आनन्द, सच्चिदानन्दस्वरूप की तो इसे खबर नहीं। तो शरीर के नाश के समय, अरे! अब मैं जाता हूँ, मर जाता हूँ। इस प्रकार अज्ञानी शरीर के नाश को अपना नाश मानता है। **वैसे ही स्त्री, पुत्र, मित्रादिक के शरीर का नाश होने पर, उनके आत्मा का नाश समझता है;...** उनका शरीर नाश होने पर वह आत्मा मर गया, ऐसा मानता है। अपने को ऐसा मानता है और पर के लिये (भी ऐसा ही) मानता है। **इस प्रकार वह अपने शरीर में आत्मबुद्धि-आत्मकल्पना करके दुःखी होता है...** किस प्रकार दुःखी होता है, यह कहते हैं।

अपने शरीर में आत्मबुद्धि-आत्मकल्पना करके दुःखी होता है और अन्य भी शरीर की प्रतिकूलता के कारण दुःखी होते हैं — ऐसा मानता है। देखा! अपने को शरीर मैं, शरीर की होती दशा मैं, ऐसा मानकर आत्मबुद्धि की कल्पना पर में करके दुःखी होता है। ऐसे दूसरे जीव भी शरीर की प्रतिकूलता के कारण दुःखी हैं, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! समझ में आया? दुःखी प्रतिकूलता के कारण नहीं है। अपने स्वरूप के अभान के कारण अन्दर अज्ञान और राग-द्वेष के कारण दुःखी है। ऐसा न मानकर शरीर की पीड़ा में मुझे पीड़ा हुई, शरीर के रोग से रोग मुझे आया, शरीर का नाश होने पर मैं नाश हो गया, ऐसा बहिरात्मा मानता है। अर्थात् कि बहिर् चीज़ जो उसमें नहीं है, उसे अपनी मानता है, इसलिए उसमें आत्मबुद्धि कल्पना करके दुःखी होता है। और दूसरे कुटुम्बियों को भी ऐसा वह मानता है। स्त्री, पुत्र। ...है न?

स्त्री, पुत्र, मित्रादिक के शरीर का नाश होने पर,... भी शरीर की प्रतिकूलता के

कारण दुःखी होते हैं — ऐसा मानता है... परन्तु उसमें आत्मबुद्धि कल्पित की है, इसलिए दुःखी होता है, ऐसा वह मानता नहीं। समझ में आया? यहाँ जैसे शरीर को अपना माना है कि जिससे शरीर में प्रतिकूलता होने पर इसने आत्मबुद्धि कल्पित की है कि यह मैं हूँ। ऐसी आत्मबुद्धि कल्पित करने से यह दुःखी है। शरीर की प्रतिकूलता से नहीं। वह तो ज्ञेय है। परन्तु भान में ऐसा है कि यह मैं हूँ। इसलिए इसने आत्मबुद्धि-कल्पना की और शरीर में ऐसा हुआ, ऐसा करके स्वयं दुःखी होता है। इसी प्रकार स्त्री, पुत्र को भी ऐसा मानता है। उसे शरीर की प्रतिकूलता है, इसलिए दुःखी होता है। आहाहा! कहो, समझ में आया? ऐसा नहीं है।

वह पर वस्तु को, अपनी चीज़ को न जानता हुआ, पर को अपनी माना है, आत्मबुद्धि की है, इसलिए दुःखी होता है। समझ में आया? भारी सूक्ष्म बातें, भाई! कहते हैं, **अन्य भी शरीर की प्रतिकूलता के कारण दुःखी होते हैं — ऐसा मानता है।** अज्ञानी। हों! ११ गाथा।

श्लोक - ११

एवंविधाध्यवसायात्किं भवतीत्याह -

***स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्।**
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः॥ ११॥

विभ्रमो विपर्यासः पुंसां वर्तते। किं विशिष्टानां? अविदि-तात्मनां अपरिज्ञातात्म-स्वरूपाणां। केन कृत्वाऽसौ वर्तते? स्व-पराध्यवसायेन। क्व? देहेषु। कथम्भूतो विभ्रमः? पुत्रभार्यादि-गोचरः। परमार्थतोऽनात्मीयमनुपकारकमपि पुत्रभार्याधनधान्या-दिकमात्मीयमुषकारकं च मन्यते। तत्सम्पत्तौ संतोषं तद्वियोगे च महासन्ताप-मात्मवधादिकं च करोति॥ ११॥

* सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं। सुयदाराईविसए मणुयाणं बड्ढए मोहो॥

अर्थात् इस प्रकार देह में, स्व-पर के अध्यवसाय (निश्चय) के द्वारा मनुष्यों के सुत, दारादिक जीवों में मोह प्रवर्तता है कैसे हैं - मनुष्य जिन ने पदार्थ का स्वरूप (अर्थात् आत्मा), नहीं जाना है, ऐसे हैं। *(श्री मोक्षप्राभृत, गाथा १०, कुन्दकुन्दाचार्यः)*

इस प्रकार के अध्यवसाय से क्या होता है ? वह कहते हैं —

कहै देह को आत्मा, नहीं स्व-पर पहचान।
विभ्रमवश तन में करे, सुत-तियादि का ज्ञान॥ ११॥

अन्वयार्थ - (अविदितात्मनां पुंसा) आत्मा के स्वरूप से अज्ञात पुरुषों को, (देहेषु) शरीरों में, (स्वपराध्यवसायेन) अपनी और पर की आत्मबुद्धि के कारण से, (पुत्रभार्यादिगोचर) पुत्र-स्त्री आदि के विषय में, (विभ्रम वर्तते) विभ्रम वर्तता है।

टीका - पुरुषों को विभ्रम अर्थात् विपर्यास (मिथ्याज्ञान) वर्तता है। कैसे पुरुषों को ? आत्मा से अनजान-आत्मस्वरूप को नहीं जाननेवाले पुरुषों को। किस कारण से वह (विभ्रम) वर्तता है ? स्व-पर के अध्यवसाय से। (विभ्रम) कहाँ होता है ? शरीर के विषय में। कैसा विभ्रम होता है ? पुत्र-भार्यादिक विषयक (विभ्रम होता है)। परमार्थ से (वास्तव में) पुत्र, स्त्री, धन, धान्यादि आत्मीय (अपने) उपकारक नहीं होने पर भी, वह (विभ्रमित पुरुष) उन्हें आत्मीय तथा उपकारक मानता है, उनकी सम्पत्ति में (उपस्थिति में) वह संतोष तथा उनके वियोग में महासंताप और आत्मबधादि करता है।

भावार्थ - जिन पुरुषों को आत्मस्वरूप का यथार्थज्ञान नहीं है, वे अपने शरीर में, अपने आत्मा की और पर के शरीर में, पर के आत्मा की कल्पना करके, स्त्री-पुत्रादि के विषय में विभ्रान्त रहते हैं अर्थात् अपने शरीर के साथ, स्त्री-पुत्रादि के शरीर सम्बन्ध को ही अपने आत्मा का सम्बन्ध मानते हैं।

बहिरात्मा, स्त्री-पुत्र-मित्रादि अनात्मीय अर्थात् पर होने पर भी, उन्हें आत्मीय मानता है और अपने को अनुपकारक होने पर भी, उन्हें उपकारी मानकर उनकी रक्षा का प्रयत्न करता है; उनके संयोगादि से सुखी होता है और उनके वियोगादि से महासंताप मानता है तथा आत्मबध भी करता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

'........तथा शरीर का संयोग होने और छूटने की अपेक्षा जन्म-मरण होता है, उसे अपना जन्म-मरण मानकर, मैं उत्पन्न हुआ, मैं मरूँगा — ऐसा मानता है।

तथा शरीर की अपेक्षा अन्य वस्तुओं से नाता मानता है। जिसके द्वारा शरीर की

उत्पत्ति हुई, उन्हें अपने माता-पिता मानता है; जो शरीर को रमण कराये, उसे अपनी रमणी मानता है; जो शरीर से उत्पन्न हुआ, उसे अपना पुत्र मानता है; जो शरीर को उपकारी हो, उसे अपना मित्र मानता है; जो शरीर का बुरा करे, उसे शत्रु मानता है — इत्यादिरूप मान्यता होती है। अधिक क्या कहें? जिस-तिस प्रकार से अपने को और शरीर को एक ही मानता है।[१] '

'तथा जैसे जहाँ वह पागल ठहरा था, वहाँ मनुष्य, घोड़ा, धनादि कहीं से आकर ठहरे, वह पागल उन्हें अपना जानता है। वे तो उन्हीं के अधीन कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमित होते हैं; वह पागल उन्हें अपने आधीन मानता है, उनकी पराधीनक्रिया हो, तब खेद-खिन्न होता है। उसी प्रकार यह जीव, जहाँ पर्याय धारण करता है, वहाँ स्वयमेव पुत्र, घोड़ा धनादि कहीं से आकर प्राप्त हुए, यह जीव उन्हें अपना मानता है। वे तो उन्हीं के आधीन कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं; यह जीव उन्हें अपने आधीन मानता है और उनकी पराधीनक्रिया हो तब खेद-खिन्न होता है॥११॥[२] '

श्लोक - ११ पर प्रवचन

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्।
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः॥ ११॥

इसमें कहाँ है ? नहीं ? इसमें यह डाला नहीं, नहीं ? गुजराती। अपने गुजराती हो गया है। इसमें डाला नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरी बार होगा तो डालेंगे।

टीका - पुरुषों को विभ्रम अर्थात् विपर्यास (मिथ्याज्ञान) वर्तता है। आत्मा को विभ्रम-विपर्यास-विपरीत बुद्धि क्यों वर्तती है ? इसका स्पष्टीकरण। **कैसे पुरुषों को ?**

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, चतुर्थ अध्याय, पृष्ठ-८१
२. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, तृतीय अध्याय, पृष्ठ-५१

यह विभ्रम बुद्धि होती है, वह कैसे पुरुषों को? **आत्मा से अनजान-...** भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी, आनन्दस्वरूपी है, उसके अनजान को-उसे नहीं जाननेवाले को—ऐसे पुरुषों को मिथ्याज्ञान वर्तता है। आहाहा! अर्थात्? कि चैतन्यस्वरूप जो ज्ञानानन्द है, उसके जो अनजान हैं, उन्हें 'शरीर मैं हूँ' ऐसा विभ्रम होता है। पोपटभाई! आहाहा!

किस कारण से वह (विभ्रम) वर्तता है? स्व-पर के अध्यवसाय से। आत्मा और शरीर दोनों एक है, ऐसा माननेवाले को। आहाहा! बात बहुत संक्षिप्त है परन्तु मुद्दे की है। शरीर और आत्मा, स्व और पर, स्व ज्ञायकस्वरूप और पर राग और शरीरस्वरूप, इन दोनों के एकपने के अध्यवसाय की बुद्धि के कारण इसे विभ्रम उत्पन्न होता है। आहाहा! यहाँ ऐसा नहीं कहा कि दर्शनमोह के कर्म के कारण विभ्रम (उत्पन्न) होता है। आहाहा! वास्तव में तो दर्शनमोह का जो उदय है, वह जड़ की दशा है और यह मिथ्यात्व है, वह चैतन्य की विपरीत मान्यता है। दो के बीच तो अत्यन्त अभाव है। समझ में आया? दर्शनमोह के कारण मिथ्यात्व होता है, यह बात सच्ची नहीं है। इस शरीर को अपना मानता है, स्व-पर की एकता मानता है, इस मान्यता के कारण उसे दुःख होता है। विभ्रम उत्पन्न होता है। आहाहा! अब ऐसी बात आवे वहाँ लोगों को ऐसा होता है, नहीं, कर्म के कारण भ्रमणा होती है। दर्शनमोह के कारण भ्रमणा होती है। यह उसकी मान्यता अत्यन्त विपरीत है। पर को एकत्व माननेवाला है, इसलिए उसे ऐसी बुद्धि होती है। समझ में आया?

शरीर के विषय में। कैसा विभ्रम होता है? पुत्र-भार्यादिक विषयक... स्त्री, कुटुम्ब, परिवार विषयक अर्थात् पर के ऊपर उसका लक्ष्य है न? इस कारण उसे विभ्रम उत्पन्न होता है। आहाहा! **परमार्थ से (वास्तव में) पुत्र, स्त्री, धन, धान्यादि आत्मीय (अपने) उपकारक नहीं होने पर भी,...** शरीर में विभ्रम कैसे होता है? कि पुत्र, स्त्री आदि विषय पर हैं, उसका—भ्रम का, यह परमार्थ से पुत्र, स्त्री आदि को अपना मानता है। **उपकारक नहीं होने पर भी,...** उनका उपकार यहाँ नहीं। आहाहा! **वह (विभ्रमित पुरुष) उन्हें आत्मीय तथा उपकारक मानता है,...** यह सब मेरे उपकारी हैं। मेरे शरीर के पोषक हैं, शरीर के रक्षक हैं। आहाहा! यह शरीर है, वह मैं हूँ और इस शरीर के सब रक्षक हैं, ऐसा उनका उपकार मानकर विभ्रम उत्पन्न करता है। कहो, समझ में आया?

माँ-बाप बालक को बढ़ा करे। उसे पढ़ावे, उसे व्यापार के रास्ते चढ़ावे। ऐसा नहीं करते? नहीं, नहीं। कुछ नहीं करते। समझ में आया? आहाहा! परद्रव्य की कुछ भी पर्याय को यह करता है, मैंने इसका उपकार किया, बड़े किये, इसलिए वृद्धावस्था में हमारी सेवा तो इसे करनी चाहिए न? ऐई! पोपटभाई! मानता है या नहीं ऐसा? पूरी दुनिया भ्रम में पड़ी है इसमें। आहाहा! हमने इसे पाल-पोसकर बढ़ा किया, पाप से पैसे पैदा किये थे, इसके लिये खर्च किये, विवाह किया। अब हम वृद्ध हो गये तो हमने इसका यह उपकार किया, यह हमारा करेगा। ऐसा अज्ञानी को भ्रम हो गया है। समझ में आया? ऐसा नहीं होगा? कान्तिभाई!

उनकी सम्पत्ति में... अर्थात् क्या? अज्ञानी अपना स्वभाव और परभाव दो की भिन्नता के भान बिना दो की एकताबुद्धि से, अध्यवसाय से यह दुःखी होता है। तथापि वह ऐसा मानता है कि इस स्त्री-कुटुम्ब की आबादी रहे। इसके पास लक्ष्मी रहे, सम्पदा रहे, अच्छे धन्धे में चढ़े, आमदनी करे। उसकी **(उपस्थिति में) वह संतोष...** मानता है। कहो, लड़के कमाते हैं ठीक से... करके। नहीं? पाँच-पाँच लाख रुपये आमदनी करे, रास्ता निकाल ले बुद्धि से, उसकी सम्पत्ति यह हो, ऐसा मानकर... कहते हैं न? आबादी। इसकी आबादी रहे। इसकी स्त्री, स्वयं, इसकी सम्पत्ति, इसकी इज्जत, इसके कारखाने।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कारखाने नहीं थे तो दूसरा व्यापार होगा। आहाहा!

उनकी सम्पत्ति में (उपस्थिति में) वह संतोष तथा उनके वियोग में महासंताप... आहाहा! **और आत्मबधादि करता है।** आत्मा का वध करता है। स्वयं अपना वध करता है। आहाहा! परन्तु कुदरत में ऐसा होगा या नहीं? लड़के हों अच्छे सब अच्छी स्थिति में हों, तो प्रसन्नता माने। नहीं?

मुमुक्षु : इसके बिना रह सके?

पूज्य गुरुदेवश्री : ...रह सकते हैं। देखो! पैसा, तथापि रहता है। इनके भाई की बात करते हैं। आहाहा! किसे कहना? धूल? आहाहा! भाई! तुझे खबर नहीं। आराम

तो आतमराम में आराम है। आहाहा! सवेरे थे? दास। सवेरे नहीं थे? दोपहर में आये। समझ में आया? आहाहा!

अपने को सुख कब होगा? कि सुखस्वरूप आत्मा है। भगवान आत्मा में आनन्द है, उसके गुण में आनन्द है। ऐसे आनन्द का भाव, वह मुझमें है। ऐसा माननेवाले को पर्याय में आनन्द होता है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु पर की लक्ष्मी और सम्पदा को देखकर आबादी माने और उससे प्रसन्न हो तो वह मिथ्यात्व को सेवन करता है... आहाहा! सूक्ष्म बातें। वीतराग का मार्ग-सर्वज्ञ का, मार्ग बहुत सूक्ष्म है। समझ में आया?

अपने अतिरिक्त शरीर, वाणी, राग को अपना माने, उसकी कल्पना से वह दु:खी है। ऐसा दूसरे को भी उसकी सम्पदा अनुकूल रहे तो ठीक, ऐसा विभ्रम करके वह भी दु:खी होता है। उसकी सम्पत्ति लुट जाती है। लड़के निर्धन हो जाये, स्त्री मर जाये, शरीर में क्षय रोग लागू पड़े। हाय... हाय! बेचारे दु:खी हैं। परन्तु उसकी अनुकूलता से इसे सुख लगता है, यह अपनी कल्पना से लगता है और उसकी प्रतिकूलता हो तो दु:खी है, वह अपनी कल्पना से मानता है। आहाहा! गजब!

शरीर के साथ स्त्री-पुत्र के शरीर के सम्बन्ध को। शरीर के सम्बन्ध को। आत्मा के सम्बन्ध की तो खबर नहीं। आहाहा! यह मेरी पुत्री, यह मेरा पुत्र, यह मेरी स्त्री। ऐसे उस शरीर को देखता है न! आत्मा अन्दर है, उसे कभी नहीं देखा। आहाहा! उसकी प्रतिकूलता देखकर इसे दु:ख होता है। इस शरीर की। समझ में आया? क्योंकि स्वयं भी पर में आत्मा कल्पित किया है, वह भी आत्मा शरीर में ही उसे मानता है। अपनी भाँति पर को मानता है। **स्त्री-पुत्रादि के शरीर सम्बन्ध को ही अपने आत्मा का सम्बन्ध मानते हैं।**

बहिरात्मा... बहिरात्मा की व्याख्या यह कि... पहले आ गया है। वास्तव में तो शरीर, वाणी, मन यह बाहर है-बहिर् है—उसे अपना मानता है। राग-द्वेष और दया, दान के भाव हों, वह भी बहिर् है—बाहर है। अन्तर का स्वरूप नहीं वह। उसे अपना माने। इसके अतिरिक्त वास्तव में तो बहिर्तत्त्व। कहा था तुमने, नहीं? ऊपर। ३८वीं गाथा (नियमसार)। **'जीवादिबहित्तच्चं हेयम्'**। देखो! कहा। ३८ गाथा। आयी है इस ओर।

जीवादि बहिर्तत्त्व की व्याख्या कि जीव का ध्रुवस्वरूप है, उसे छोड़कर, उसकी एक समय की जो अवस्था है, वह बहिर्तत्त्व है। राग, शरीर, वाणी, कुटुम्ब वह तो बहिर्तत्त्व है। आहाहा! परन्तु भगवानस्वरूपी ध्रुव चैतन्य पूर्णानन्द प्रभु, ऐसे अन्तर तत्त्व की–अन्तर स्वभाव की–अपेक्षा से एक समय की दशा को भी बहिर्तत्त्व कहा जाता है। आहाहा! इस बहिरतत्त्व को अन्तर तत्त्व मानता है कि यह मैं हूँ। समझ में आया? पैसा, लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब वह तो बाह्य पृथक् बहिर्तत्त्व है। रागादि भी पर्याय में बहिर्तत्त्व है। आहाहा! परन्तु आत्मा की एक समय की पर्याय व्यक्त है। अनन्त गुण की प्रगट एक समय की अवस्था जो व्यक्त है, वह भी वास्तव में अन्तरात्मा पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण स्वरूप भगवान की अपेक्षा से तो एक समय की पर्याय भी बहिर्तत्त्व कही गयी है। आहाहा! जगत को... बहिर्तत्त्व हेयं। ऐसा आया है न? पढ़ा था, वहाँ? पढ़ा था न? कलकत्ता में पढ़ा था इसने ३८वीं गाथा। सभा सभा प्रसन्न.. प्रसन्न हो गयी। यह १६ वर्ष का लड़का है। तुम्हारे कितने हुए। ६१। ३८वीं गाथा पढ़ी उसने वहाँ सभा में, कलकत्ता। उसे तो .... बहिर्तत्त्वं हेयं। आहाहा! अन्तरंग तत्त्व उपादेयं। एक पद के दो शब्द हैं। है न ३८?

जिसे अपनी पर्याय के अंश में स्वयं (है, ऐसा) माना है तो दूसरे के उसके अंश में वह आत्मा है और वह शरीर में आत्मा है, ऐसा उसने माना है। समझ में आया? दूसरे के आत्मा में भी पर्याय में ज्ञान का क्षयोपशम देखकर यह आत्मा है, ऐसा मानता है। आहाहा! यह तो आ गया था न पहले? इन्द्रिय द्वारा बाह्य पदार्थ का ज्ञान होता है। यह गाथा आ गयी है। इन्द्रिय के मुख से... यह पाँच इन्द्रियाँ, अरे..! खण्ड–खण्ड इन्द्रिय, इसके द्वारा बाह्य पदार्थ का ज्ञान होता है। उसके द्वारा अन्तर का नहीं होता। आहाहा! इसी प्रकार वर्तमान पर्याय में जो कुछ ग्यारह अंग का शास्त्र का पठन, नौ पूर्व का पठन (हो), वह बहिर्तत्त्व है। क्योंकि इन्द्रियों द्वारा उस प्रकार का विकास है। आत्मा द्वारा नहीं। आहाहा! समझ में आया? बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! आत्मा की बात। वीतराग तत्त्व, उसमें भी दिगम्बर तत्त्व। दिगम्बर अर्थात् कि राग की वृत्ति बिना का भगवान, ऐसा आत्मा। आहाहा!

प्रभु आत्मा में, कहते हैं, अपनी पर्याय में जहाँ ज्ञान का कुछ क्षयोपशम बढ़ा

अर्थात् इसे ऐसा हो गया कि मैं बढ़ा। उस पर्याय को ही आत्मा माना है। समझ में आया? इसने बाह्य तत्त्व को ही आत्मा माना है। आहाहा! अन्त:तत्त्व पूर्णानन्दस्वभाव अन्त:तत्त्व। यह आता है न, भाई! नहीं? नियमसार में चौथी गाथा न? नहीं? बहिर्तत्त्व और अन्त:तत्त्व, उसे माने वह व्यवहार समकित है। दोनों इकट्ठे हुए न? क्या कहा? नियमसार में आता है, हों! नौ तत्त्व अथवा अन्त:तत्त्व परमात्मा और बहिर्तत्त्व पर्याय आदि। दो को माने वह अभी व्यवहार समकित, वह विकल्प है। समझ में आया?

अन्तरात्मा पूर्णानन्दस्वरूप। है न यहाँ? **तत्त्व बहि:तत्त्व और अन्त:तत्त्वरूप परमात्मतत्त्व ऐसे (दो) भेदवाला है।** आहाहा! अन्त:तत्त्व परमात्मस्वरूप अपना, और बहि:तत्त्व पर्याय आदि। वह बहि:तत्त्व पर्यायादि आस्रव इत्यादि। अन्तरतत्त्व परमात्मा। दोनों को मानना, इसका नाम अभी विकल्प और व्यवहार समकित है। आहाहा! यह किसे? जिसे अन्त:तत्त्व जो शुद्ध चिदानन्द ध्रुव प्रभु, उसकी जिसे दृष्टि हुई है, अन्त:तत्त्व की दृष्टि हुई है, उसे परमात्म स्वरूप की दृष्टि हुई है। उसे निश्चय समकित है। उसे वह परमात्मतत्त्व और बहिर्तत्त्व दोनों की श्रद्धा करे, वह विकल्प और व्यवहार है। आहाहा! समझ में आया? शान्तिभाई! ऐसी वस्तु है ऐसी बहुत सूक्ष्म। भाग्यशाली भाई यह तो सुनने के लिये (आये)। आहाहा!

महा प्रभु अन्तर परमात्मा पूर्णानन्द का नाथ अन्त:तत्त्व तो परमात्मस्वरूपी ही अन्त:तत्त्व है। आहाहा! ऐसे अन्त:तत्त्व का अकेला अनुभवदृष्टि, इसका नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है और इसके साथ अन्त:तत्त्व और बहि:तत्त्व पर्याय आदि की मान्यता का भाव, वह विकल्प है, राग है। आहाहा! अकेले को मानना, वह निर्विकल्प समकित है। आहाहा! और अकेले इकट्ठे दो को मानना, वह शुभराग है, वह व्यवहार समकित है; वह वास्तविक समकित नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह कहा न?

बहि:तत्त्व और अन्त:तत्त्वरूप परमात्मतत्त्व ऐसे (दो) भेदवाला है अथवा जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ऐसे भेदों के कारण सात प्रकार के हैं। ऐसी जो श्रद्धा वह व्यवहार समकित है। अर्थात् सच्चा समकित नहीं। आहाहा! सत्य समकित नहीं। गजब बात है! भगवान आत्मा पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... गुण से

पूर्ण स्वभाव से... ऐसी अन्तर में अन्त:तत्त्व में जहाँ दृष्टि पड़ी, तब अकेला निश्चय समकित उसे कहा जाता है। समझ में आया? यह जो अकेले अन्त:तत्त्व को छोड़कर, यह है और रागादि पर्याय है, ऐसा दोनों को माने एक साथ... आहाहा! अकेला छोड़कर दोकले के साथ उसे माने, कहते हैं। आहाहा! गजब बात है। तो भी वह व्यवहार समकित अर्थात् समकित नहीं ऐसा। आहाहा! कैसी बात करते हैं!

पूर्णानन्द प्रभु जिसकी शक्ति का सामर्थ्य अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त बल, अनन्त वीर्य, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता, अनन्त विभूता, अनन्त प्रमेयता, अन्दर प्रमाणता... आहाहा! ऐसी अनन्त शक्तियों का एकरूप अन्त:तत्त्व, उसमें दृष्टि जाना। क्योंकि उसमें सम्यग्दर्शन-श्रद्धा त्रिकाल पड़ी है, उसमें। समझ में आया? उसमें दृष्टि पड़ने से। आहाहा! उसका ऐसा ध्रुव नित्य स्वभाव परमात्मस्वरूप, उसका अन्तर में पर्याय में स्वीकार होने पर निश्चय सच्ची दृष्टि, सम्यक्‌दृष्टि, सच्चा तत्त्व उसे दृष्टि में आया। आहाहा! बाबूभाई! बातें बहुत कठिन, हों! जगत को लगती हैं। बाहर से मान लेते हैं कि देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, वह समकित। अब करो व्रत। धूल भी नहीं अब, सुन न! आहाहा! समझ में आया? जयन्तीभाई! सामायिक की होंगी या नहीं? की है। आहाहा! कहाँ सामायिक थी, भाई! अभी अन्त:तत्त्व वीतरागमूर्ति एकरूप वस्तु, उसके पक्ष में चढ़े बिना राग और पर्याय के पक्ष में खड़े रहकर जो कुछ करे, वह सब मिथ्यात्व की क्रिया है। आहाहा! यह तो जरा और याद आया। बहि: का अर्थ मात्र स्त्री-पुत्र, ऐसा नहीं। आहाहा! पड़ाव होवे न ऐसा सब।

कुण्डला में एक बार गये थे। फिर एक काठी है वहाँ, काठी। उसे कुछ होगा २०-२५ हजार की आमदनी। उस समय, हों! ७२-७३ के वर्ष। दो-तीन रानियाँ होंगी। किसी ने पूछा कि आपा! तुम्हारी रानी कितनी? तो कहे, मुझे खबर नहीं। कामदार को पूछो। गृहस्थ व्यक्ति और जो कुछ दे। २५ हजार की आदमनी तब तो बहुत कहलाती थी न? अब तो साधारण है। ... हो उपज। थोड़ी ...भले उसकी ६० वर्ष की उम्र हो, परन्तु ... रोटियाँ तो मिलेगी ठीक से। अब दो-तीन रानी रखते। उसे पूछे। हम निकलेगी तो पैर लगेंगी। महाराज! कुछ खबर नहीं मिलती। रानियाँ कितनी, इसके अंक की खबर नहीं होती।

मुमुक्षु : राजा किसके लिये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मूर्ख के। कामदार को पूछो, ऐसा कहे। इसी प्रकार इसे पूछे कि तू कौन है ? कहाँ है ? कि मुझे कुछ खबर नहीं। ऐसा यह मूर्ख है। शोभालालभाई ! ... समझ में आया ? आहाहा ! तू कहाँ है ? कौन है ? कैसे है ? मुझे कुछ खबर नहीं। आहाहा ! उसको रानियों की खबर नहीं, इसे घर की खबर नहीं।

प्रभु चैतन्यमूर्ति महा अतीन्द्रिय आनन्द के सागर का छलाछल भरा हुआ पदार्थ, ऐसा पदार्थ कौन है ? कहे, मुझे खबर नहीं। आहाहा ! ऐसे अन्त:तत्त्व के अनजान अज्ञानी बहिर्तत्त्व को अपना मानकर विभ्रम अर्थात् मिथ्यात्व को उत्पन्न करते हैं। समझ में आया ?

अन्तिम पेरेग्राफ है न ? **बहिरात्मा, स्त्री-पुत्र-मित्रादि अनात्मीय अर्थात् पर होने पर भी,...** आहाहा ! अज्ञानी मूढ़ जीव, स्त्री-पुत्र-मित्र आदि अथवा एक समय की पर्याय, वह निश्चय से तो अनात्मा है। आत्मा तो उसे कहते हैं, निश्चय त्रिकाल आनन्दकन्द प्रभु, वस्तु परमात्मस्वरूप विराजमान उसे आत्मा कहते हैं। आहाहा ! ऐसे आत्मा को आत्मारूप से न मानकर, न जानकर बहि:तत्त्व, वह मैं हूँ। आहाहा ! पर्याय की दशा, वह वास्तव में वह भी व्यवहार आत्मा है। व्यवहार आत्मा अर्थात् ? ग्यारह अंग का ज्ञान हुआ हो, नौ पूर्व का लब्धि का ज्ञान हुआ हो। आहाहा ! विभंग हुआ हो। सात द्वीप और समुद्र जाने। वह पर्याय भी अनात्मा है। समझ में आया ? उसे मिथ्यादृष्टि (मानता है) कि मैं यह हूँ। इतना मैं हूँ। ऐसा माननेवाला मिथ्यात्व खड़ा करता है। आहाहा !

उन्हें आत्मीय मानता है और अपने को अनुपकारक होने पर भी,... आहाहा ! वास्तव में तो बाह्य के लक्ष्य से होता क्षयोपशमभाव... आहाहा ! वह भी बहिर्तत्त्व है। इन्द्रियों से जो कुछ ज्ञान हुआ, वह सब बहिर्तत्त्व है। आहाहा ! उसमें जिसकी आत्मबुद्धि है, वह उपकार हुआ नहीं, तो भी उसने मुझे उपकार किया है, (ऐसा मानता है)। आहाहा ! समझ में आया ? **उन्हें उपकारी मानकर... अपने को अनुपकारक होने पर भी,...** आहाहा ! कुन्दकुन्दाचार्य, उनका तत्त्व। समझ में आया ? पाठ में ही ऐसी गहराई भरी है।

भगवानस्वरूप आत्मा पूर्ण, अन्तर आत्मा जिसे कहते हैं, निश्चय आत्मा, वह आत्मा है। यह (नियमसार) ३८ गाथा में आता है। उस आत्मा को आत्मारूप से न जानकर एक समय की परसन्मुख के झुकाव में क्षयोपशमभाव... यह तो वहाँ कहा था। क्षयोपशमभाव वह आत्मा नहीं, वह तो कहा था। ४९ गाथा। '**अरसमरूवम्**' क्षयोपशमभाव से जाने, वह नहीं। आहाहा! उसके ओर के झुकाव से जो जाने, वह आत्मा नहीं, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? पर्यायबुद्धि से जानता है। आहाहा! उसे दिशा पलटने के लिए बहुत जोर चाहिए। समझ में आया?

उनकी रक्षा का प्रयत्न करता है;... आहाहा! राग को रखने का और स्त्री-पुत्र को रखने का और बाह्य की ओर के क्षयोपशमज्ञान को रखने का प्रयत्न करता है। आहाहा! **उनके संयोगादि से सुखी होता है...** स्त्री, पुत्र, परिवार अनुकूल, शरीर ठीक, संयोग और बाहर की रुचि होने से ज्ञान होता है, वह भी संयोगी ज्ञान है। राग जैसे संयोगी भाव है, राग संयोगी कहा है न? इन्द्रिय द्वारा होने वाला ज्ञान, वह संयोगी ज्ञान है। क्योंकि वह टिकता नहीं। नाश हो जायेगा। आत्मा उनसे रहित हो जायेगा। आहाहा! ऐसे ज्ञान में ज्ञान की रक्षा और प्रयत्न करता है। आहाहा! **उनके संयोगादि से सुखी होता है और उनके वियोगादि से महासंताप मानता है तथा आत्मवध भी करता है।** अपना वध करता है। आहाहा!

विशेष :- शरीर का संयोग होने और छूटने की अपेक्षा जन्म-मरण होता है, उसे अपना जन्म-मरण मानकर, मैं उत्पन्न हुआ,... मेरे जन्म का यह दिन है। आहाहा! जन्म-जयन्ती करते हैं न? यह मेरा जन्मदिन। तेरा है? तेरा जन्म है? यह तो शरीर का हुआ। आहाहा! इस जन्म को अपना जन्म मानता है। आहाहा! **मैं उत्पन्न हुआ, मैं मरूँगा—ऐसा मानता है। तथा शरीर की अपेक्षा अन्य वस्तुओं से नाता मानता है।** शरीर की अपेक्षा वही (इसके) साथ सम्बन्ध है, इसके आत्मा के साथ सम्बन्ध है? मर जाये अर्थात् शरीर में अरेरे! मेरा भाई मर गया, मेरा पिता (मर गया)। उसका आत्मा मर कर कहाँ गया, उसे पुकारता है कोई? कि यह बापू मर गये, वे कहाँ गये होंगे? पाप करके गया हो तो नरक में गया होगा। अन्यत्र कहाँ जाये? बहुत पाप न किये हो तो पशु में जाये। बहुत से तो पशु में जानेवाले हैं। पशु-पशु। यह पूछते हैं न कि मेरे पिता कहाँ

गये होंगे? मेरे पिता की सुविधा की असुविधा गयी, उसे वह रोता है। समझ में आया? अथवा भाई हो, लो न! भाई की सुविधा जो थी वह गयी, उसे वह रोता है। भाई मरकर कहाँ गया उसका आत्मा? कौन रोता है? आहाहा!

कहते हैं, वह स्वयं शरीर उपजने पर मैं उत्पन्न हुआ, शरीर के जाने से मैं मरूँगा। **शरीर की अपेक्षा अन्य वस्तुओं से नाता मानता है।** देखा! **जिसके द्वारा शरीर की उत्पत्ति हुई, उन्हें अपने माता-पिता मानता है;...** आत्मा को माता-पिता कैसे? इसमें तो सब संसार उड़ा देना पड़े। पोपटभाई! परन्तु अब बापूजी... बापूजी करे। छह-छह लड़के बैठे हों और दुकान में आमदनी अच्छी हो। आहाहा! उसकी आबादी से आबादी है, ऐसा माने। गजब बातें हैं यह तो, बापू! उनके अभाव में कि यह दुःखी होता है, शरीर की कल्पना से, यह स्वयं दुःखी मानता है। आहाहा! वह इस प्रकार दुःखी होता है, ऐसा मानता है। स्वयं इस प्रकार मानता है न?

जिसके द्वारा शरीर की उत्पत्ति हुई, उन्हें अपने माता-पिता मानता है; जो शरीर को रमण कराये, उसे अपनी रमणी मानता है;... यह मेरी जड़-धूल इसे स्त्री रमणी। रमणी कहलाती है न? इसे रमावे भोग और विषय में। आहाहा! भगवान तो अन्दर भिन्न रह गया। शरीर के साथ रमे, उसे अपनी रमणी मानता है। आहाहा! और प्रवचनसार में आता है न? दीक्षा जब लेनी होती है। अपना भान हुआ है कि मैं तो चैतन्य हूँ। मैं ज्ञायक आनन्द हूँ। अब मुझे आनन्द को साधने के लिये वनवास चाहिए है। आहाहा! रमणी को कहता है कि हे इस शरीर को रमानेवाली रमणी! ऐसा पाठ है। प्रवचनसार में तीसरे (अधिकार में)। शरीर को रमानेवाली रमणी! तू मुझे रमण नहीं कराती। शरीर का रमण है। मैं अब मेरी अनादि आनन्दरूपी अनुभूति रमणी के पास जाता हूँ। आहाहा!

अतीन्द्रिय आनन्द का जहाँ भान हुआ है सम्यग्दर्शन-ज्ञान में... आहाहा! वह अब अतीन्द्रिय आनन्द की रमणी में रमने के लिये कहता है, स्त्री! मुझे आज्ञा दे। आहाहा! हमारी अनादि आनन्द अनुभूति की रमणी, उसके पास जाता हूँ। आहाहा! उसे उग्र प्रगट करने के लिये मेरा प्रयत्न है। समझ में आया? इस प्रकार अज्ञानी अपने शरीर को उपजानेवाले माता-पिता, शरीर को रमावे उसे रमणी मानता है।

शरीर से उत्पन्न हुआ, उसे अपना पुत्र-पुत्री मानता है;... यह मेरा पुत्र है। शरीर

तो निमित्त था। हुए हैं तो उसके कारण से। उनके जन्म का काल शरीर का, उसके आत्मा और उसके शरीर के रजकण उसके कारण से वहाँ हुए हैं। यह मेरा पुत्र, यह आज्ञाकारी परिवार, ऐसा कहते हैं न? काठियावाड़ में ऐसा कहते हैं। महामूर्ख है, कहते हैं। बहिरात्मा है। आहाहा! जो चीज़ तुझमें नहीं, उसे तेरी मानता है और उससे तू प्रसन्नता में रमता है। आहाहा! विभ्रम है, मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व किसे कहना, यह लोगों को खबर नहीं। यह तो यह जरा अपने कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र को नहीं मानना और सच्चे देव मानना, यह समकित। धूल भी नहीं, सुन न!

यहाँ तो कहते हैं, **शरीर को रमण कराये, उसे अपनी रमणी मानता है; जो शरीर से उत्पन्न हुआ, उसे अपना पुत्र-पुत्री मानता है; जो शरीर को उपकारी हो, उसे अपना मित्र मानता है;...** शरीर को उपकारक। दुःख के काल में आकर खड़े रहें मित्रादि। किसे? इसे। भाई! मित्र है न! वह तो काम ही करे न! मित्र तो दुःख टालने में मददगार होता है। किसका दुःख परन्तु बापू! किसका? शरीर में दुःख के (टालने) लिये अनुकूल लगे, उसे मित्र माने। छोटे लड़कों को मित्र बहुत होते हैं। न बने फिर कट्टी करे। कट्टी ही है। पर के साथ सम्बन्ध था कब? यह तो स्वतन्त्र दूसरा आत्मा है। वह इसे उपकारी मानकर अपना मित्र मानता है।

जो शरीर का बुरा करे, उसे शत्रु मानता है... आहाहा! शरीर पर चोट मारे, बिच्छु कटावे, डण्डा मारे। यह मेरा शत्रु है। भ्रमणा है, भाई! आहाहा! अरे! इसे कब आत्मा हाथ आवे? समाधि का अधिकार है न? यह सब असमाधि है। शरीर का बुरा करे, वह शत्रु। **इत्यादिरूप मान्यता होती है।** ऐसी मान्यता अज्ञानी की। फिर करता हो सामायिक, प्रौषध और प्रतिक्रमण। अज्ञान में है सब। सामायिक भी नहीं, प्रतिक्रमण भी नहीं और प्रौषध भी नहीं। आहाहा! मिथ्यात्व को घोंटता है। बराबर है यह? **अधिक क्या कहें? जिस-तिस प्रकार से अपने को और शरीर को एक ही मानता है।** है न यह? मोक्षमार्गप्रकाशक गुजराती आवृत्ति पृष्ठ-८५ में से लिया। नीचे है। उसमें से लिया हुआ है। अभी दूसरा भाग आयेगा। ५४ पृष्ठ का।

तथा जैसे जहाँ वह पागल ठहरा था,... एक पागल मनुष्य बाहर जाकर कहीं

बैठा था। **वहाँ कोई अन्य मनुष्य आकर ठहरे,...** आये। दस बजने का समय हुआ और कोई निकला इसलिए वहाँ बरात ने पड़ाव डाला। हाथी हों, घोड़े हों,... कुछ पानी है नदी में पियेंगे और अपने खायेंगे, इकट्ठे पकवान लेकर आये हों। **मनुष्य, घोड़ा, धनादि कहीं से आकर ठहरे,...** गहने, जेवर आदि हों, लो न! **वह पागल उन्हें अपना जानता है।** नदी के किनारे गये, फिर बड़ा पत्थर हो, ऐसे बैठा। उसमें दस-साढ़े दस का टाईम। हाथी आये, घोड़े आये। राजा निकाल हो। आहाहा! देखो! मेरा राजा आया, देखो! मेरा हाथी आया। देखो! मेरा यह आया। ....

वे तो उन्हीं के अधीन कोई आते हैं, कोई जाते हैं,... पड़ाव डालकर करे जरूरत पड़ी हो न दूसरे गाँव चले गये हों कितने ही। **कोई अनेक अवस्थारूप परिणमित होते हैं; वह पागल उन्हें अपने आधीन मानता है, उनकी पराधीनक्रिया हो, तब खेद-खिन्न होता है।** आहाहा! कैसे चले जाते हो? हमारे यहाँ आये हो न? हमारे हो न? **उसी प्रकार यह जीव, जहाँ पर्याय (शरीर) धारण करता है, वहाँ स्वयमेव पुत्र,...** आया। मरकर कहीं से आया हो? पशु में से आया हो। पुत्र मरकर ढोर में से आया हो, स्वयं मरकर ढ़ोर में से आया हो। अरे.. अरे! गजब!

पुत्र, घोड़ा धनादि कहीं से आकर स्वयं प्राप्त हुए,... देखा! आकर स्वयं प्राप्त होते हैं। उसके कारण से उसके परिणमन से वहाँ आये हैं। तेरे कारण से आये नहीं। तेरे होकर वे आये नहीं, तेरे होकर वे रहे नहीं। **वे तो उन्हीं के आधीन कोई आते हैं,...** जन्मे, ऐसा। आवे इसलिए। कि पैसा आवे। **कोई जाये...** मर जाये कोई और लक्ष्मी जाये। आहाहा! यह सब पर की चीज़ें आती और जाती है। तुझे उसके साथ सम्बन्ध है नहीं। परन्तु अज्ञानी को नहीं... नहीं... अरेरे! हमारा पुत्र गया, अब हमारा जीवन गया। एक बार कुछ लिखा था नहीं? उस कापड़िया ने। दर्शन कापड़िया। कैसा कापड़िया? मूलचन्द कापड़िया। पुत्र एक ही था न? मर गया। यह...! ऐसी कुछ भाषा लिखी। मेरा सब गया। फिर दूसरे को लिया है न, गोद लिया है डाह्याभाई को। खबर है। आहाहा! मर जाये। अरे रे! आज मेरा सब लुट गया। इकलौता लड़का हो बीस वर्ष का। पति भी जब पत्नी मरती हो, तब ऐसा मानता है कि यह हमारा घर गया। घर मानता है न? और पत्नी भी पति मरे तब कहे, अब हम दु:खी मर गये। हाय... हाय..! निराधार हो गये।

कौन पति और कौन पतिव्रता! कुछ खबर नहीं होती पर को। आहाहा! तूने अज्ञान से खड़ा किया हुआ सम्बन्ध अज्ञान से टूट जाता है, इसमें क्या है?

कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं;... कोई जन्मे, कोई मरे और अस्ति में अन्य अवस्था करे। वह रहे वहाँ अनेक अवस्था हो। वह सब पर के कारण है। तेरे कारण कहाँ थी वह? आहाहा! **यह जीव उन्हें अपने आधीन मानता है और उनकी पराधीनक्रिया हो, तब खेद-खिन्न होता है।** अन्तर में दाह, अन्तर में जलन। कोई नया जन्मे, नये पैसे आवें। नये अर्थात् एकदम नये पैदा करे, होवे। उसमें से कोई मरे, होवे उसमें से कोई जाये, होवे उसमें से कोई अन्य अवस्था वर्तमान रहकर हो। उन सबको मेरे कारण होता है, सब मेरी है। आहाहा! **उन्हें अपने आधीन मानता है और उनकी पराधीनक्रिया हो, तब खेद-खिन्न होता है।** आहाहा!

श्लोक - १२

एवंविधविभ्रमाच्च किं भवतीत्याह -

***अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः।**
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते॥ १२॥

तस्माद्विभ्रमाद् बहिरात्मनि संस्कारो वासना दृढोऽविचलो जायते। किन्नामा? अविद्यासंज्ञितः अविद्यः संज्ञाऽस्य संजातेति ''तारकादिभ्य इतच्।'' येन संस्कारेण कृत्वा लोकोऽविवेकि-जनः। अंगमेव शरीरमेव। स्वं आत्मानं। पुनरपि जन्मान्तरेऽपि। अभिमन्यते॥१२॥

* मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो। मोहोदएण पुणरवि अंगं सम्मण्णए मणुओ॥

अर्थात्, यह मनुष्य मोहकर्म के उदय से (उदय के वश होकर) मिथ्याज्ञान के द्वारा मिथ्याभाव से भाया हुआ फिर आगामी जन्म में इस अंग (देह) को अच्छा समझकर चाहता है।

(श्री मोक्षप्राभृत, गाथा-११, कुन्दकुन्दाचार्यः)

इस प्रकार के विकल्प से क्या होता है? वह कहते हैं :—

इस भ्रम से अज्ञानमय, जमते दृढ़ संस्कार।
यों मोही भव-भव करें, तन में निज निर्धार॥ १२॥

अन्वयार्थ - (तस्मात्) इस विभ्रम से, (अविद्यासंज्ञितः) अविद्या नाम का (संस्कारः) संस्कार, (दृढ़ः) दृढ़-मजबूत (जायते) होता है, (येन) जिस कारण से (लोकः) अज्ञानी जीव, (पुनः अपि) जन्मान्तर में भी (अंगम् एव) शरीर को ही (स्वं अभिमन्यते) आत्मा मानता है।

टीका - उस विभ्रम से बहिरात्मा में संस्कार अर्थात् वासना दृढ़ — अविचल होती है। किस नाम का (संस्कार)? अविद्या नाम का (संस्कार), जिसकी अविद्या संज्ञा है वह; जिस संस्कार के कारण अविवेकी (अज्ञानी) जन, अंग को ही, अर्थात् शरीर को ही फिर से भी अर्थात् अन्य जन्म में भी अपना आत्मा मानता है।

भावार्थ - इस जीव के अज्ञानजनित अविद्या संस्कार अनादि काल से है। स्त्री-पुत्रादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करने से ये संस्कार मजबूत होते हैं और इनके कारण, अन्य जन्म में भी जीव, शरीर को ही आत्मा मानता है।

अनादि अज्ञान के कारण यह जीव, जो पर्याय (शरीर) उसे प्राप्त होते हैं, उसे अपना आत्मा समझ लेता है और उसका यह अज्ञानात्मक संस्कार, जन्म-जन्मान्तरों में भी बना रहने से दृढ़ होता जाता है। जैसे - रस्सी के घर्षण से कुएँ के पत्थर पर निशान अधिक से अधिक गहरा होता जाता है; वैसे ही अज्ञानी जीव में अविद्या के संस्कार भी अधिक से अधिक गहरे उतरते जाते हैं।

अविद्या के संस्कारों से प्रेरित यह जीव, शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करता है; स्वयं को पर का कर्ता-भोक्ता मानता है; पर के प्रति अहंकार-ममकारबुद्धि और एकत्वबुद्धि करता है; इस कारण से इसको राग-द्वेष होते हैं और राग-द्वेष से इसका संसारचक्र चलता ही रहता है॥१२॥

श्लोक - १२ पर प्रवचन

इस प्रकार के विकल्प से क्या होता है? ऐसी भ्रमणा करने से क्या होता है? आहाहा!

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते॥ १२॥

इसका अन्वयार्थ लेते हैं। **इस विभ्रम से, अविद्या नाम का संस्कार, दृढ़-मजबूत होता है,...** मिथ्यात्व के संस्कार दृढ़ होते हैं। **जिस कारण से अज्ञानी जीव, जन्मान्तर में भी...** यह संस्कार लेकर मर जाये, वहाँ वह **शरीर को ही आत्मा मानता है।** आहाहा! चैतन्यमूर्ति है, ज्ञायकस्वभाव है, उसकी इसे अस्ति की खबर नहीं, इसलिए जहाँ यह मेरे... मेरे... मानकर संस्कार दृढ़ किये। वह मरकर आँख बन्द हुई, जहाँ दूसरा जन्मा, वहाँ यह संस्कार थे तो यह शरीर मेरा, इस शरीर के उपजानेवाले माता-पिता मेरे। इस शरीर को रमानेवाली स्त्री मेरी, इस शरीर को दुःख देनेवाले शत्रु, वे मेरे शत्रु हैं। और शरीर के उपकारक हों, वे मेरे मित्र हैं। ऐसा अज्ञानी के संस्कार वहाँ भी वापस काम करते हैं।

टीका - उस विभ्रम से बहिरात्मा में संस्कार अर्थात् वासना दृढ़—अविचल होती है। आहाहा! **अविचल होती है।** ऐसे संस्कार पड़ते हैं कि हटते नहीं। यह शरीर ही मैं, वाणी मैं, कर्म मैं, राज मैं, यह मेरे मित्र, माता-पिता मेरे, यह मेरा शत्रु... आहाहा! ऐसे मिथ्यात्व के संस्कार लेकर अन्यत्र जन्में वहाँ वापस इन संस्कार से पर को ही अपना मानता है। आहाहा!

किस नाम का (संस्कार)? इतना साधारण ... **अविद्या नाम का (संस्कार),...** अज्ञान। **जिसकी अविद्या संज्ञा है वह; जिस संस्कार के कारण अविवेकी (अज्ञानी) जन, अंग को ही, अर्थात् शरीर को ही फिर से भी अर्थात् अन्य जन्म में भी अपना आत्मा मानता है।** यह मैं। यह दिखता है वह मैं। देखनेवाला भी है, उसकी तो खबर नहीं होती। मेरे ज्ञान में जिसका अस्तित्व दिखता है और वह जाननेवाला टिक रहा है

इससे मैं हूँ। ऐसा सब तो भाई जाये कब? जंगल में जाये और बाबा हो तब। वह कहता था, अमृतलाल है न? प्रश्न नारद। ऐसा सब तुम कहते हो, वह तो हम जंगल में जायें तो यह सब हो। सबमें रहकर हमको ऐसा माना जाये? कहाँ है परन्तु सबमें? तूने माना है कि मैं सबमें हूँ। तू सबमें है नहीं। तू तुझमें है। आहाहा! शिवलालभाई! आहाहा!

तुझे सत्य श्रद्धा चाहिए हो तो जहाँ होगी वहाँ से मिलेगी न? स्त्री, पुत्र, परिवार, देव-गुरु-शास्त्र वहाँ है श्रद्धा? समझ में आया? सत्य श्रद्धा, वह तो तेरे द्रव्य-गुण में है। तत्त्व रुचे, श्रद्धा, वह तो तेरे गुण में है। सत्‌रूप से श्रद्धा, वह द्रव्य में है। उसे अन्दर में शोध तो सत् श्रद्धा होगी। समझ में आया? विभ्रम टले और भ्रमणा जाये और भगवान जगे। आहाहा! दूसरे से सम्यक् श्रद्धा कहीं से यहाँ है... यहाँ है..? आहाहा! यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि देव-गुरु और शास्त्र जो है, वह परपदार्थ है। और पर को मेरा मानना, वह धर्म नहीं है। पर है वह। आहाहा! इस प्रकार के जो संस्कार लेकर जन्मे तो वह संस्कार जो भविष्य में भी वापस वही अपने को मानेगा। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मगसिर कृष्ण २, सोमवार, दिनांक ३०-१२-१९७४, श्लोक-१२-१४, प्रवचन-२०

१२वीं गाथा का भावार्थ। समाधितन्त्र।

भावार्थ - इस जीव के अज्ञानजनित अविद्या संस्कार... अर्थात् कि चैतन्यस्वरूप पूर्णानन्द हूँ, उसके भान बिना, बाह्य शरीर, स्त्री, पुत्रादि मेरे हैं और मैं उनका हूँ, उनका अस्तित्व तो स्वीकार करना पड़े न? स्वयं सच्चिदानन्द शुद्ध... कैसे आज लड़के नहीं आये? गये? अविद्यारूप संस्कार। जो चीज़ उसमें नहीं, उसकी नहीं, उसे अपनी माने। शरीर, वाणी, मन यह सब मैं हूँ। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार यह सब मेरे अंग हैं। शरीर जैसे अंग है, वैसे यह सब मेरे अंगित हैं, ऐसा मानकर अविद्या अज्ञान को सेवन करता है। मूल पूरी मान्यता पर अन्तर है, इस बात की लोगों को खबर नहीं पड़ती। बाहर के आचरण क्रिया और उसका त्याग, उसे माने। मूल गाँठ जो है, वह श्रद्धा की विपरीत है। आहाहा! राग की क्रिया है, वह भी मेरी है और मैं करता हूँ, यह अज्ञान है। आहाहा! समझ में आया? इस शरीर में कुछ रोग हो तो इसे ऐसा (लगता है) कि मुझे हुआ है। आहाहा!

इस प्रकार **स्त्री-पुत्रादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करने से...** अर्थात् कि वह मैं हूँ, वे मेरे हैं, और वह मैं हूँ। अहं—मम। आहाहा! **ये संस्कार मजबूत होते हैं और इनके कारण, अन्य जन्म में भी जीव, शरीर को ही आत्मा मानता है।** वहाँ जाये तो उसमय है। शरीर यह... यह... यह... इसकी नजर वहाँ है। यह आ गया इसमें। मोक्षप्राभृत में यह आ गया?

मिच्छाणाणे सुरओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो।
मोहोदयेण पुणरवि अंगं सम्मणणए मणुओ॥११॥

कुन्दकुन्दाचार्य की। यह आ गया अन्दर।

शरीर में कुछ होने पर मुझे हुआ है। रोग होने पर मुझे रोग हुआ। आहाहा! यह मूढ़ दशा, अज्ञानदशा। इसके संस्कार दृढ़ होने से फिर से जहाँ जन्मेगा, वहाँ वापस इस शरीर को ही (आत्मा) मानेगा। आहाहा!

अनादि अज्ञान के कारण यह जीव, जो पर्याय (शरीर) उसे प्राप्त होते हैं, उसे

अपना आत्मा समझ लेता है... यह ही मैं हूँ। दूसरा कौन है ? **और उसका यह अज्ञानात्मक संस्कार, जन्म-जन्मान्तरों में भी बना रहने से दृढ़ होता जाता है। जैसे - रस्सी के घर्षण से...** रस्सी के घिसावट से यह कुएँ में आता है ? स्कूल में आता था। **रस्सी के घर्षण से कुएँ के पत्थर पर निशान अधिक से अधिक गहरा होता जाता है; वैसे ही अज्ञानी जीव में अविद्या के संस्कार भी अधिक से अधिक गहरे उतरते जाते हैं।** मरने के समय भी इस प्रकार के संस्कार हैं तो उन संस्कार में असमाधि करके मरकर जाये... गति करे (तब) आहाहा!

अविद्या के संस्कारों से प्रेरित यह जीव, शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करता है; स्वयं को पर का कर्ता-भोक्ता मानता है;... यहाँ अधिक लिया। शरीर की क्रिया, वाणी की क्रिया का मैं कर्ता हूँ और उस क्रिया का भोक्ता मैं हूँ। ऐसा **पर के प्रति अहंकार-ममकार...** यह मैं, ये मेरे - ऐसा। यह मैं, ये मेरे - ऐसी **बुद्धि और एकत्वबुद्धि करता है;...** अहंकार-ममकार बुद्धि और एकताबुद्धि करता है। **इस कारण से इसको राग-द्वेष होते हैं...** आहाहा! **और राग-द्वेष से इसका संसारचक्र चलता ही रहता है।** आहाहा! मनुष्य मरकर पशु, पशु मरकर नारकी, नारकी में से ढोर, ढ़ोर मरकर एकेन्द्रिय। आहाहा!

जो चीज़ है ज्ञाता-दृष्टा, उसे अपनी न मानकर,... उसे माने तब तो पर से उदास हो जाये न ? परन्तु यह उदास नहीं, प्रेरक है पर का। आहाहा! मेरी प्रेरणा से देह की क्रिया होती है। मेरी प्रेरणा से। मैं ध्यान रखता हूँ तो शरीर में निरोगता रहती है। समझ में आया ? एक वृद्ध था, वह ऐसा चलता धीरे-धीरे। शरीर निरोगी। मैंने कहा, यह क्या चलता है ? फिर मैंने पूछा नहीं परन्तु दूसरे ने पूछा। त्रिभुवन विठ्ठल, लाठी। त्रिभुवन... विठ्ठल। तुमने नहीं देखा होगा। वृद्ध। शरीर बहुत अच्छा। मैंने कहा, इसे कुछ श्वास नहीं, कफ में रोग नहीं। और यह कैसे चलता है ? तब किसी ने पूछा। मुझे ऐसा कि... धीरे-धीरे चलने से शरीर को ठीक रहे। था निरोगी शरीर। त्रिभुवन विठ्ठल (की) कपड़े की दुकान थी न बाजार में! बाजार में। रतिलाल त्रिभुवन नहीं ? रतिलाल... मर गया न ? यहाँ रहा था। शरीर में जो धीरे चलते हैं तो श्वास का दबाव नहीं होता। ऐसा.. ऐसा... तो आयुष्य बढ़ता है। टूटता नहीं। अरेरे! मार डाला। उस समय ऐसा कहा जाता

था, हों! श्वास जैसे कम लिये जायें, वैसे आयुष्य बढ़े। कहा, नारकी का श्वास बहुत है। तब की बात है। यह तो (संवत्) १९७१ की बात है। नारकी का श्वास तो बहुत है, तो भी मरता नहीं। ३३-३३ सागर रहता है। आहाहा! श्वास-धमणे और उलझन... उलझन... उलझन... कहीं श्वास ली जाये नहीं ऐसी दशा। ऐसे-ऐसे तो असंख्य भव, असंख्य वर्ष का एक पल्योपम। ऐसे-ऐसे दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम। ऐसे ३३-३३ सागर में अनन्त बार रहा। आहाहा! उसके श्वास का पार नहीं। श्वास के कारण रहे तो ३३ सागर जा आया है तू! श्वास तो बहुत आती है। समझ में आया? परन्तु शरीर के साताशीलिया ऐसे होते हैं न! यह सब वहाँ ही उसका ध्यान होता है शरीर में। ऐसे रखूँ। यह शरीर की एकत्वबुद्धि के लक्षण हैं, यह सब। मिथ्यात्व के। आहाहा! समझ में आया? यह सब फिर मरकर जानेवाले हैं पशु में, पशु होनेवाले हैं। पशु मरकर नरक में जायेगा। निश्चिन्तता से जायेगा फिर बहुत काल रहेगा। आहाहा! अरे! तू कौन? भाई! तुझे खबर नहीं, बापू!

कहते हैं **इसका संसारचक्र चलता ही रहता है।** है न अन्तिम शब्द? आहाहा!

श्लोक - १३

एवमभिमन्यमानश्चासौ किं करोतीत्याह -

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनं॥ १३॥

देहे स्वबुद्धिरात्मबुद्धिर्बहिरात्मा किं करोति? आत्मानं युनक्ति सम्बद्धं करोति देहिनं दीर्घसंसारिणं करोतीत्यर्थः केन? एतेन देहेन। निश्चयात् परमार्थेन। स्वात्मन्येव जीवस्वरूपे एव आत्मधीरन्तरात्मा। निश्चयाद्वियोजयति असम्बद्धं करोति॥१३॥

इस प्रकार मानकर वह क्या करता है? यह कहते हैं —

देहबुद्धिजन आत्म का, तन से करें सम्बन्ध।
आत्मबुद्धि नर स्वात्म का, तन से तजे सम्बन्ध॥ १३॥

अन्वयार्थ - (देहे स्वबुद्धि) शरीर में आत्मबुद्धि करनेवाला बहिरात्मा, (निश्चयात्) निश्चय से (आत्मानं) अपने आत्मा को (एतेन) उसके साथ / शरीर के साथ (युनक्ति) जोड़ता है / सम्बन्ध करता है अर्थात् दोनों को एकरूप मानता है परन्तु (स्वात्मनि एव आत्मधीः) अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि करनेवाला अन्तरात्मा, (देहिनं) अपने आत्मा को (तस्मात्) उससे / शरीर से (वियोजयति) पृथक् / भिन्न करता है।

टीका - शरीर में[१] स्वबुद्धि-आत्मबुद्धि करनेवाला बहिरात्मा क्या करता है? वह (अपने) आत्मा को, (शरीर के साथ) जोड़ता है-(उसके साथ) सम्बन्ध करता है; उसको दीर्घ संसारी करता है — ऐसा अर्थ है। किसके साथ (जोड़ता है) ? निश्चय से अर्थात् निश्चित उस शरीर के साथ (जोड़ता है), किन्तु आत्मा में ही-जीवस्वरूप में ही आत्मबुद्धिवाला अन्तरात्मा, निश्चय से उसे (आत्मा को), उससे (शरीर से) पृथक् करता है-(शरीर के साथ) असम्बद्ध करता है ॥१३॥

भावार्थ - अज्ञानी बहिरात्मा, अपने शरीर में स्वबुद्धि-आत्मबुद्धि करता है अर्थात् शरीर और आत्मा को एकरूप मानता है; जबकि ज्ञानी अन्तरात्मा, अपने आत्मा को, शरीर से भिन्न समझता है।

'यह जीव, उस शरीर को अपना अंग जानकर, अपने को और शरीर को एकरूप मानता है, किन्तु शरीर तो कर्मोदय के आधीन कभी कृश होता है, कभी स्थूल होता है, कभी नष्ट होता है और कभी नवीन उत्पन्न होता है — इत्यादि चरित्र होता है। इस प्रकार उसकी पराधीनक्रिया होने पर भी, जीव उसको अपने आधीन मानकर, खेद-खिन्न होता है......।[२]'

मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा, देहाभ्यास से शरीर को ही आत्मा मानता होने से, उसे नये-नये शरीरों का सम्बन्ध होता रहता है और इसी कारण वह अनन्त काल तक इस

---

१. पाटन जैन भण्डार की प्रति के आधार से समाधिशतक की टीका अनुवाद में श्रीयुत मणिलाल नमुभाई त्रिवेदी ने निम्न अनुसार लिखा है — 'बहिरात्मा को देह में ही आत्मबुद्धि होती है और वह आत्मा को परमानन्द न हो पाने देकर, देह में ही बाँधकर रखता है अर्थात् दीर्घ संसार ताप में डाल देता है।'

२. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, तृतीय अध्याय, पृष्ठ-५०-५१

गहन संसार वन में भटकता फिरता है तथा सदा संसार के तीव्र ताप से जलता रहता है।

अन्तरात्मा को शरीरादि में आत्मबुद्धि नहीं होती, किन्तु अपने ज्ञान-दर्शनस्वरूप आत्मा में ही उसकी आत्मबुद्धि होती है; इस कारण वह शरीर को अपने चैतन्यस्वरूप से भिन्न पुद्गल का पिण्ड समझता है। वह भेदज्ञान के बल से ध्यान द्वारा-स्वरूपलीनता द्वारा, अपने आत्मा को शरीरादि के बन्धन से सर्वथा पृथक् करता है और सदा के लिये मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार दृष्टिभेद के कारण बहिरात्मा, पर के साथ एकत्वबुद्धि करके, संसार में परिभ्रमता है, जबकि अन्तरात्मा, पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर तथा स्व के साथ सम्बन्ध जोड़कर, अन्ततः संसार के दुःखों से परिमुक्त होता है।

अनादि काल से शरीर को आत्मा मानने की भूल, जीव ने स्वयं ही अपने अज्ञान से की है और वही आत्मज्ञान के द्वारा अपनी भूल को सुधार सकता है।

'शरीरादि में आत्मबुद्धिरूप विभ्रम से उत्पन्न हुआ दुःख, आत्मज्ञान से ही शान्त होता है ॥१३॥[१]'

श्लोक - १३ पर प्रवचन

इस प्रकार मानकर वह क्या करता है? यह कहते हैं — १३ वीं गाथा।

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनं॥ १३॥

टीका - शरीर में स्वबुद्धि... यहाँ कुछ लिखा है। एकड़ा। **पाटन जैन भण्डार की प्रति के आधार से समाधिशतक की टीका अनुवाद में श्रीयुत मणिलाल नमुभाई त्रिवेदी ने निम्न अनुसार लिखा है—'बहिरात्मा को देह में ही आत्मबुद्धि होती है और वह आत्मा को परमानन्द न हो पाने देकर,...** आहा! भगवान आत्मा में परम अतीन्द्रिय आनन्द है। उसे न पाने देकर यहाँ अटककर खड़ा है। आहाहा! देह के आचरण में, देह

---

१. श्री समाधितन्त्र, श्लोक-४१

की क्रिया में रुककर और परमानन्द का पाना होता नहीं। है ? इसलिए असमाधि होती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! देह के रक्षण की बुद्धि और यह मेरा, इसकी सम्हाल (उसमें) अकेली असमाधि उत्पन्न होती है, ऐसा कहते हैं। वह असमाधि है। आहाहा! पोपटभाई! आहाहा!

देह में ही बाँधकर रखता है... क्या कहते हैं ? **आत्मा को परमानन्द न हो पाने देकर,...** अर्थात् ? कि शरीर, वाणी, मन की क्रिया में उसे रुकने से यह मैं हूँ और इसका मुझे ध्यान रखना चाहिए, ऐसी आत्मबुद्धि उस आत्मा के परमानन्द को पाने नहीं देता। आहाहा! **देह में ही बाँधकर रखता है अर्थात् दीर्घ संसार ताप में डाल देता है।** दीर्घ संसारताप। ओहोहो! गजब बात है! ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती। सोलह हजार देव सेवा करे। ३२ हजार राजा चँवर ढाले। एक स्त्री की हजार देव सेवा करे, स्त्री रतन, वह ऐसे हीरा के पलंग में सोता था। पलंग में। हीरा के पलंग में, हों! एक-एक हीरा करोड़ का, ऐसा पूरा पलंग। सात सौ वर्ष का आयुष्य पूरा हुआ। मरकर ३३ सागर (नरक) में गया। आहाहा!!

मुमुक्षु : यहाँ सात सौ और वहाँ ३३।

पूज्य गुरुदेवश्री : ३३। भाई ने कहा न, ११ लाख पल्योपम। एक श्वास में... एक श्वास, इतने में उसने अनुकूल माना शरीर में। ग्यारह लाख पल्योपम का दुःख वहाँ है। गजब है न! आहाहा! ग्यारह लाख पल्योपम किसे कहते हैं ? बहुत तीव्रता देह में, वाणी में... साताशीलिया जिसे कहते हैं। पर में-शरीर में साता के स्वभाववाले। उस अनुकूलता के स्वभाववाले। आहाहा! उसे एक श्वास का दुःख। यहाँ श्वास का सुख। उसके फल में ११ पल्योपम का दुःख। पल्योपम कहा। समझ में आया ? आहाहा! एक पल्य के असंख्यवें भाग में असंख्य अरब वर्ष जाते हैं। एक पल्य के असंख्यवें भाग में असंख्य अरब वर्ष जाते हैं। ऐसा एक पल्योपम। ऐसे दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम, ऐसे ३३ सागर। आहाहा! पड़ा है अभी नरक में। रव-रव नरक में पड़ा है। आहाहा!

भगवान चैतन्यदेह मेरा है, आनन्ददेह मेरा है, उसे भूलकर... आनन्द शरीर, वह मैं हूँ—ऐसा न मानकर, देह के दुःख से दुःखी, सुख से सुखी, ऐसी मान्यता से उसे चार

गति में भटकना पड़ता है। आहाहा! भले त्यागी हो, साधु हुआ हो परन्तु अन्दर में वह राग की क्रिया, वास्तव में वह कार्मणशरीर है, उस कार्मण का फल है, उसे अपना मानकर उसमें रुक गया है। आहाहा! इससे उसे चैतन्य, देह और राग से भिन्न उसका भान नहीं होने से, उसमें मैं हूँ, ऐसी मान्यता से चार गति के भवों का चक्कर अनादि से करता है। आहाहा!

टीका - शरीर में स्वबुद्धि-आत्मबुद्धि करनेवाला बहिरात्मा... बहिर् है न बाह्य? राग, वह बाह्य है, शरीर बाह्य है, वाणी बाह्य है, स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब-मकान-इज्जत-कीर्ति-पैसा यह सब बाह्य चीज़ें हैं। आहाहा! इन बाह्य चीज़ों में **(शरीर के साथ) जोड़ता है...** आहाहा! पाठ यह है न? देखो न! स्वबुद्धि। **'युनक्ति' 'युनक्ति' 'युनक्ति'** अर्थात् जोड़ता है। जो भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसमें न जुड़कर राग और शरीर की क्रिया में जुड़कर एकाकार हो गया है। आहाहा! समझ में आया? दोनों को एकरूप मानता है। **उसको दीर्घ संसारी करता है...** आहहा! शरीर, वाणी, मन वहाँ आत्मा जुड़ता है। जो इसके बिना का है, तो भी उसमें जुड़कर एकत्वबुद्धि मानकर... आहाहा! बहुत संक्षिप्त में सब न्याय दिये हैं। **दीर्घ संसार...** चार गति में भटकने का दीर्घ संसार खड़ा करता है। ओहोहो! **ऐसा अर्थ है।**

किसके साथ (जोड़ता है)? निश्चय से अर्थात् निश्चित उस शरीर के साथ (जोड़ता है),... सवेरे उठे, एकदम आँखें रगड़ना ऐसे हो वह सब... फिर (आँखों का) चिकनापना निकाले, फिर दाँतुन करे, मुँह साफ करे। मुँह साफ करे, फिर चाय पीवे। फिर खाखरा खाये। क्यों खाखरा कहते हैं न? सवेरे खाखरा खाये। उसमें फिर आम का अचार हो तो आम की फाँक के साथ खाखरा खाये। आहाहा! क्या कहते हैं यह? वहाँ जुड़ गया है, ऐसा कहना है। और फिर और कंघी करे वापस थोड़ा। ऐसे नहीं करते? इस ओर के बाल ऐसे उतारे, इस ओर के बाल ऐसे उतारे। फिर ऐसे दर्पण में इस तरह करके देखे। तिलक लगाने को। पागल है। आहाहा! ....कोळी था? कौन था? कोळी था वह? यहाँ काम करता था वह। हरिजन था? चमार। यह काम करता था। यहाँ बैठा रहता था। मस्तिष्क फिर गया था। आज आये हैं। मनो हरिजन। यह... किया तब से काम करता था वह ठेठ तक। कोई कामकाज न हो तो बैठा रहे। हम जायें

तब देखें कि बैठा है। पूरे दिन काम न हो इसलिए बैठे। फिर तो मस्तिष्क फिर गया था। लोग लाये थे, चरण वन्दन के लिये, यहाँ तो बाह्य से मस्तिष्क फिर गया। वह अन्तर मस्तिष्क फिर गया है अनादि का। आहाहा!

शरीर में साता से सुखी माने, शरीर में असाता से दुःखी माने। यह सब आ गया है। आयेगा। शरीर का स्थूलपना वह भी मैं। वस्त्र का दृष्टान्त देंगे न, पतलापन वह मैं, रूपवानपना-गोरापन वह मैं। गेहूँवर्ण रंग शरीर का, वह मैं। मैं काला हूँ, आहाहा! भाई! तेरा अस्तित्व कहाँ है ? तू भूला। दीवार को भूला, बापू! ऐसी चीज़ में से निकल जाना चाहिए और भगवान आत्मा में वास होना चाहिए। शरीर, वाणी, मन के संग में से छूटकर आत्मा आनन्दस्वरूप में प्रभु! तेरा वास चाहिए, तेरी चीज़ में वास चाहिए। उसे छोड़कर पर के वास में बसे... आहाहा! कहते हैं, यह चार गति में शरीर के साथ जोड़कर शरीर किया ही करता है। अब सुलटा।

किन्तु आत्मा में ही-जीवस्वरूप में ही आत्मबुद्धिवाला अन्तरात्मा,... समझ में आया ? आहाहा! भगवान आत्मा राग से रहित है। आत्मा में है न! शरीर की कोई भी पर्याय की क्रिया से एकदम अत्यन्त अभाव है। अरे..! यह तो ठीक परन्तु राग का विकल्प जो है, उससे भी अत्यन्त अभावस्वभावस्वरूप है भगवान। आहाहा! परद्रव्य के अभावस्वभावस्वरूप तो है परन्तु इस राग के भाव से भी अभावस्वभावस्वरूप है। आहाहा! वहाँ इसकी दृष्टि होनी चाहिए, ऐसा कहते हैं। आहाहा! परन्तु बहुत कठिन काम! आहाहा!

कहते हैं, भाई! **जीवस्वरूप में ही आत्मबुद्धिवाला...** है न ? वह पर स्वरूप में आत्मबुद्धिवाला। आहाहा! **अन्तरात्मा, निश्चय से उसे (आत्मा को), उससे (शरीर से) पृथक् करता है...** आहाहा! अन्तर आत्मा और वह बहिरात्मा। वस्तु में राग और शरीरादि, वाणी आदि नहीं है। नहीं, उसके साथ जुड़ान करता है, वह संसार में भटकता है-रुलता है। आहाहा! और आत्मा में अन्तर स्वरूप में, जो अन्तरात्मा में जोड़ता है जीव को—स्वयं को। **(शरीर के साथ) असम्बद्ध करता है।** अस्ति-नास्ति की है। वह शरीर और राग के साथ सम्बन्ध करता है। सं-बन्ध। यह आत्मा और यह चैतन्यस्वरूप

की दृष्टि से शरीर के साथ असम्बन्ध रखता है। आहाहा! नारियल का गोला जैसे अन्दर पृथक् रहता है। भले वह काचली में पड़ा दिखाई दे, परन्तु है काचली से पृथक्। इसी प्रकार शरीर में आत्मा हो, तथापि वह राग और शरीर से भिन्न तत्त्व है। आहाहा! इस प्रकार वास रखता है आत्मा का। उसे यहाँ अन्तरात्मा कहते हैं। आहाहा! ऐसी कोई क्रिया करे तो अन्तरात्मा, ऐसा नहीं कहा। व्रत पाले, भक्ति करे, पूजा करे तो वह अन्तरात्मा है, (ऐसा नहीं कहा)। आहाहा!

यह विकल्प और राग और शरीर, मन और वाणी, सबसे भिन्न पड़कर... आहाहा! जिसका आत्मा आत्मा में दृष्टि से बसता है। आहाहा! उस अन्तरात्मा ने शरीर का सम्बन्ध छोड़ दिया है। अर्थात् भविष्य में भी उसे शरीर मिलेगा नहीं। आहाहा!

भावार्थ - अज्ञानी बहिरात्मा, अपने शरीर में स्वबुद्धि-आत्मबुद्धि करता है अर्थात् शरीर और आत्मा को एकरूप मानता है; जबकि ज्ञानी अन्तरात्मा, अपने आत्मा को, शरीर से भिन्न समझता है। ... शरीर को एकरूप। शरीर को अपना अंग जानकर। अंगीत जानकर। ऐसा नहीं कहते कि यह हमारे अंगत व्यक्ति हैं। गुप्त बात करनी हो तो इनसे हम करते हैं। अंगीत हैं हम। धूल भी नहीं अंगीत अब, सुन न! आहाहा! तेरे अंग तो ज्ञान-दर्शन अंगी तो तू है। उसमें अंग यदि हो तो ज्ञान-दर्शन और आनन्द, वह तेरे अंग हैं। आहाहा! उन्हें छोड़कर...

'यह जीव, उस शरीर को अपना अंग जानकर, अपने को और शरीर को एकरूप मानता है, किन्तु शरीर तो कर्मोदय के आधीन कभी कृश होता है,... कर्म के उदय प्रमाण किसी समय रोग हो जाये, पतला पड़ जाये। आहाहा! **कभी स्थूल होता है, कभी नष्ट होता है... .... कभी नवीन उत्पन्न होता है—इत्यादि चरित्र होता है। इस प्रकार...** आचरण शरीर में होते हैं। आहाहा! **इस प्रकार उसकी पराधीनक्रिया होने पर भी,...** वह पराधीन होता है न? शरीर कृश, निर्बल, यह कहाँ उसके (आत्मा के) आधीन है? आहाहा! **जीव उसको अपने आधीन मानकर, खेद-खिन्न होता है...** मोक्षमार्गप्रकाशक का है यह। पृष्ठ २४ है न।

मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा, देहाभ्यास से... देह के अध्यास से... 'छूटे देहाध्यास

तो...' आता है न? '(छूटे) देहाध्यास तो नहीं कर्ता तू कर्म, नहीं भोक्ता तू उनका यही धर्म का मर्म।' यह **देहाभ्यास से मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा, देहाभ्यास से शरीर को ही आत्मा मानता होने से, उसे नये-नये शरीरों का सम्बन्ध होता रहता है और इसी कारण वह अनन्त काल तक इस गहन संसार वन में...** आहाहा! लाखों वृक्ष हों, लगातार बीच में अन्तर भी थोड़ा हो। उसमें जा चढ़ा हो और फँस गया हो, निकलना कैसे इसमें से? इसी प्रकार यह चौरासी के अवतार में शरीर में फँस गया है। संसार बड़ा वन। अनेक शरीर की उत्पत्ति के क्षेत्र में स्वयं फँस गया है। संसार, इस जाति का चारित्र है यह।

उसे नये-नये शरीरों का सम्बन्ध होता रहता है और इसी कारण वह अनन्त काल तक इस गहन संसार वन में भटकता फिरता है तथा सदा संसार के तीव्र ताप से जलता रहता है। खेदखिन्न... आकुलता... आकुलता... आकुलता। भगवानस्वरूप, शान्तस्वरूप, शान्त अकषायस्वरूप। अकषाय द्रव्य, अकषाय गुण, अकषाय पर्याय। आहाहा! उसे अपना न मानकर यह शान्त... शान्त... शान्त... अकषाय स्वभाव वही मुझमें विस्ताररूप से पड़ा है। रागादि, शरीर मैं हूँ, ऐसा इसने माना है। आहाहा! भले धर्म का नाम देकर क्रिया करे, परन्तु वह सब अज्ञान की क्रियायें हैं। आहाहा!

अन्तरात्मा को शरीरादि में... दो बात थी न इसलिए पहले यह कहा। **शरीरादि में आत्मबुद्धि (ममत्वबुद्धि) नहीं होती,...** शरीर में, वाणी में, मन में, राग में वह मेरे हैं, (ऐसा नहीं), हम तो उनसे पृथक् हैं। आहाहा! **किन्तु अपने ज्ञान-दर्शनस्वरूप आत्मा में ही उसकी आत्मबुद्धि होती है;...** यह आया, देखो! शरीर का अंग अज्ञानी अपना मानता है, तब (ज्ञानी) उसे अपना अंगी ऐसा आत्मा, उसके ज्ञान-दर्शन, उसके अंग उसे मानता है। आहाहा! पहला सम्यग्दर्शन धर्म की क्रिया में पहला प्रधान तो यह है। उसे छोड़कर दूसरी बातें करे... आहाहा! उसका संसार नहीं टलता। कोई स्वर्गादि मिले तो वह तो वह का वही है।

इस कारण वह शरीर को अपने चैतन्यस्वरूप से भिन्न पुद्गल का पिण्ड समझता है। आहाहा! प्रवचनसार में आया है न? शरीर का मैं कर्ता नहीं। शरीर का योजक-योजना करनेवाला मैं नहीं। कि इसका ऐसा रखना, इसका ऐसा रहना। आहाहा! शरीर का मैं अनुमोदन (करनेवाला) नहीं। शरीर की होनेवाली क्रिया में मेरा कारण

नहीं। वाणी आदि होती क्रिया में मेरा कारण नहीं। निमित्तकारण तो है न? वह कारण ही नहीं। आहाहा! है? शरीरादि को पुद्गल का पिण्ड समझता है। शरीर को सदुपयोग में लगाना, ऐसा कहते हैं। भाई आये थे न, ढेबरभाई। शरीर का सदुपयोग। सदुपयोग क्या? ... शरीर से अच्छे काम करना। दूसरे को... शरीर से करता है? आहाहा!

इस कारण वह शरीर को अपने चैतन्यस्वरूप से भिन्न पुद्गल का पिण्ड समझता है। वह भेदज्ञान के बल से ध्यान द्वारा-स्वरूपलीनता द्वारा, अपने आत्मा को शरीरादि के बन्धन से सर्वथा पृथक् करता है और सदा के लिये मुक्त हो जाता है। वह (बहिरात्मा) संसार चक्र में बढ़ जाता है भटकने। यह मुक्त हो जाता है। (पर के साथ) सम्बन्ध तोड़कर, स्व के साथ सम्बन्ध जोड़कर अन्त में संसार के दुखों से सर्वथा मुक्त होता है। इस गाथा के दो भाव किये।

अनादि काल से शरीर को आत्मा मानने की भूल, जीव ने स्वयं ही अपने अज्ञान से की है... समझ में आया? कर्म ने करायी है, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं। ... है वहाँ। **वही आत्मज्ञान के द्वारा अपनी भूल को सुधार सकता है।** यह दो बात है। बहुत संक्षिप्त कर दिया यह। अनादि काल से शरीर, वाणी और मन तथा उन्हें अपने मानने की भूल जो स्वयं अपनी अज्ञानता से है, कर्म से नहीं। ओहोहो! कर्म का उदय और राग के बीच तो अत्यन्त अभाव है। कर्म के कारण राग नहीं। आहाहा! राग और आत्मा के स्वभाव के बीच भी अत्यन्त अभाव है। भले उसकी पर्याय में है तो अस्ति है उसकी, समझ में आया? परन्तु उस राग को और स्वभाव चैतन्यघन को, दोनों के बीच तो अत्यन्त अभाव है। समझ में आया? इस प्रकार धर्मी जानता हुआ, अनुभवता हुआ... आहाहा! **आत्मज्ञान के द्वारा अपनी भूल को सुधार सकता है।** यह भूल है, वह कोई क्रिया करे, व्रत करे, तप करे और सुधर सके—ऐसा नहीं है। आहाहा! बहुत कठिन बात है।

शरीरादि में आत्मबुद्धिरूप विभ्रम से उत्पन्न हुआ दुःख, आत्मज्ञान से ही शान्त होता है। समाधि उत्पन्न करता है यह... श्लोक आगे आयेगा। नीचे है न? १४।

श्लोक - १४

देहेष्वात्मानं योजयतश्च बहिरात्मनो दुर्विलसितोपदर्शनपूर्वकमा-चार्योऽनुशयं कुर्वन्नाह -

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं! जगत्॥ १४॥

जाताः प्रवृत्ताः। काः ? पुत्रभार्यादिकल्पनाः। क्व ? देहेषु। कया ? आत्मधिया। क्व ? देहेष्वेव। अयमर्थः- पुत्रादिदेहं जीवत्वेन प्रतिपद्यमानस्य मत्पुत्रो भार्येत्यादि-कल्पना विकल्पा जायन्ते। ताभिश्चानात्मनीयाभिरनुपकारिणीभिश्च। सम्पत्तिं पुत्र-भार्यादिविभूत्यतिशयं आत्मनो मन्यते जगत्कर्तृस्वरूपाद् बहि-र्भूतं जगत् बहिरात्मा प्राणिगणः हा हतं नष्टं स्वस्वरूप-परिज्ञानाद्॥१४॥

शरीर में आत्मा का सम्बन्ध जोड़नेवाले बहिरात्मा के निन्दनीय व्यापार को बतलाकर खेद प्रगट करते हुए आचार्य कहते हैं —

जब तन में निज कल्पना, 'मम सुत-तिय' यह भाव।
परिग्रह माने आपनो, हाय! जगत् दुर्भाव॥ १४॥

अन्वयार्थ - (देहेषु) शरीरों में (आत्मधिया) आत्मबुद्धि के कारण से, (पुत्र-भार्यादि कल्पनाः जाताः) मेरा पुत्र, मेरी स्त्री इत्यादिक कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं। (हा) खेद है कि (जगत्) बहिरात्मस्वरूप प्राणिगण, (ताभिः) उन कल्पनाओं के कारण से, (सम्पत्तिम्) स्त्री-पुत्रादि की समृद्धि को, (आत्मनः) अपनी समृद्धि (मन्यते) मानते हैं। इस प्रकार यह जगत (हतं) घाता जा रहा है।

टीका - उत्पन्न हुई-प्रवर्ती। क्या (प्रवर्ती) ? पुत्र-स्त्री आदि सम्बन्धी कल्पनाएँ। किसके विषय में ? शरीरों में। किस कारण से ? आत्मबुद्धि के कारण से। किसमें आत्मबुद्धि ? शरीरों में ही। तात्पर्य यह है कि पुत्रादि के देह को जीवरूप माननेवाले को, 'मेरा पुत्र, मेरी स्त्री'—ऐसी कल्पनाएँ-विकल्प होते हैं। अनात्मरूप और अनुपकारक, ऐसी उन कल्पनाओं से पुत्र-भार्यादिरूप विभूति के अतिशयस्वरूप सम्पत्ति को जगत अपनी मानता है। अरे! स्वस्वरूप के परिज्ञान से रहित, बहिरात्मरूप जगत-प्राणिगण घाता जा रहा है॥१४॥

भावार्थ - देह में आत्मबुद्धि के कारण, आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित बहिरात्माएँ, स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धों में अपनेपन की कल्पनाएँ करते हैं और उनकी समृद्धि को, अपनी समृद्धि मानते हैं, इस प्रकार यह जगत घाता जा रहा है—यह खेद की बात है।

जब तक जीव को शरीर में आत्मबुद्धि रहती है, तब तक उसको अपने निराकुल निजानन्दरस का स्वाद नहीं आता और वह अपनी अनन्त चतुष्टयरूप सम्पत्ति से अनजान रहता है। वह स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादि बाह्य सम्पत्तियों को अपनी मानकर, उनके संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद करता है। जिसके फलस्वरूप उसका संसार-परिभ्रमण चालू रहता है; अतः आचार्य खेद दर्शाते हुए कहते हैं कि, 'हाय! यह जगत मारा गया! नष्ट हुआ! इसको अपना कुछ भी भान नहीं रहा!'

विशेष स्पष्टीकरण -

'.......तथा किसी समय किसी प्रकार अपनी इच्छानुसार परिणमन देखकर यह जीव, उन स्त्री-पुत्रादिक में अहंकार-ममकार करता है और उसी बुद्धि से उनको उपजाने की, बढ़ाने की तथा रक्षा करने की चिन्ता द्वारा निरन्तर आकुल रहता है; नाना प्रकार के दुःख वेदकर भी, उनका भला चाहता है......'[१]

''मिथ्यादर्शन द्वारा यह जीव, किसी समय बाह्यसामग्री का संयोग होने पर, उसको भी अपनी मानता है। पुत्र, स्त्री, धन, धान्य, हाथी, घोड़ा, मन्दिर (मकान) और नौकर-चाकरादि जो स्वयं से प्रत्यक्ष भिन्न हैं, सदा काल अपने अधीन नहीं — ऐसा स्वयं को ज्ञात हो तो भी उनमें ममकार करता है।[२] *पुत्रादि में 'यह है, वह मैं ही हूँ' — ऐसी भी किसी समय भ्रमबुद्धि होती है। मिथ्यादर्शन से शरीरादि का स्वरूप भी अन्यथा ही भाषता है॥१४॥*[३]*''*

---

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ८२

२. वपु गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः। सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते॥

अर्थात् जिसके चित्त में क्षोभ नहीं है (अर्थात् जिसके चित्त में राग-द्वेषादि विकारी परिणतिरूप क्षोभ-विक्षेप नहीं है) तथा जो तत्त्व में (आत्मस्वरूप में) भले प्रकार स्थित है — ऐसे योगी को सावधानीपूर्वक (अर्थात्, आलस, निद्रादि के परित्यागपूर्वक) एकान्त स्थान में अपने आत्मतत्त्व का अभ्यास करना। *(-श्री इष्टोपदेश, कलश ८)*

३. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ९२

श्लोक - १४ पर प्रवचन

शरीर में आत्मा का सम्बन्ध जोड़नेवाले बहिरात्मा के निन्दनीय व्यापार को बतलाकर... उसके निन्दनीय व्यापार को बताकर **खेद प्रगट करते हुए आचार्य कहते हैं—**

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं! जगत्॥ १४॥

'हा हतं जगत्' अरे रे! जगत घाता गया है। आचार्य कहते हैं, देखो! हा! हा! जगत। अरे रे! अपनी जाति को राग से और पर से भिन्न न मानकर, राग, शरीर और वाणी की क्रिया एक मानकर, अरे रे! आचार्य कहते हैं, **'हा हतं जगत्'** जगत घाता जा रहा है। आहाहा!

टीका - उत्पन्न हुई-प्रवर्ती। क्या (प्रवर्ती) ? पुत्र-स्त्री आदि सम्बन्धी कल्पनाएँ। किसके विषय में ? शरीरों में। किस कारण से ? आत्मबुद्धि के कारण से। आहाहा! **किसमें आत्मबुद्धि ? शरीरों में ही। तात्पर्य यह है कि पुत्रादि के देह को जीवरूप माननेवाले को,...** आहाहा! मेरा पुत्र, मेरी स्त्री, मेरी पुत्री। आहाहा! उसके शरीर को ही मानता है, हों! **देह को जीवरूप माननेवाले को, 'मेरा पुत्र,...** शिक्षा बहुत प्राप्त करे तो कहे, यह मेरा पुत्र है। इसका उसे मान (होता है)। आहाहा! पुत्री बहुत पढ़ी हुई हो एम.ए. और एल.एल.बी. उसका इसे मान। आहाहा! यह मेरे हैं। देखो! कैसे बढ़े हैं!

आत्मबुद्धि के कारण से। किसमें आत्मबुद्धि ? शरीरों में ही। 'मेरा पुत्र, मेरी स्त्री'—ऐसी कल्पनाएँ-विकल्प होते हैं। आहाहा! ऐसी यह मेरी पाठशालायें, मेरे मन्दिर, हमारे घर, हमारे शिष्य, हमारा संघ। आहाहा! **अनात्मरूप और अनुपकारक, ऐसी उन कल्पनाओं से...** कल्पना है, वह अनात्मरूप है, जड़ राग। अनुपकारक है। वह आत्मा को कुछ उपकार करनेवाली नहीं है। **ऐसी उन कल्पनाओं से...** आहाहा! **पुत्र-भार्यादिरूप विभूति के अतिशयस्वरूप सम्पत्ति को...** पुत्र, स्त्री, सात-आठ लड़के हों, लड़कियाँ हों, दामाद हों, विवाह का प्रसंग हो और इकट्ठे बैठे हों। ओहोहो! मानो

चक्रवर्ती बैठा हो! यह सब मेरी सम्पदा और यह मेरा सब। आहाहा! भाई! तू कहाँ गया? तुझमें से हटकर तू कहाँ तेरा मानता है! आहाहा! जिस तत्त्व का तुझमें अभाव है, उस तत्त्व का मुझमें भाव है... आहाहा! ऐसा विपरीत बुद्धि से ये कल्पनायें अनात्मरूप अनुपकारक। उपकारक है, यह विकल्प है?

ऐसी उन कल्पनाओं से पुत्र-भार्यादिरूप विभूति के अतिशयस्वरूप सम्पत्ति को... देखो! इसे सम्पत्ति कहा। **जगत अपनी मानता है। अरे! स्वस्वरूप के परिज्ञान से रहित,...** राग के विकल्प और शरीरादि की क्रियायें या अवस्थायें या शरीर, इनसे भिन्न ऐसा भगवान... आहाहा! **स्वरूप के परिज्ञान से रहित, बहिरात्मरूप जगत-प्राणिगण घाता जा रहा है।** जगत घाता जा रहा है अर्थात् प्राणीगण, ऐसा। अरेरे! प्राणियों का समूह घाता जा रहा है। '**हतं**' खेद है। अपनी सम्पदा को भूलकर बाहर की सम्पदाओं के सम्बन्ध में मैं हूँ... आहाहा! अरे रे! जगत घाता गया है। देखो करुणा! आहाहा! पाठ है न, देखो न! '**हा हतं जगत्**' आहाहा! जगत अर्थात् प्राणीगण कहा न? जगत दूसरी क्या चीज़ है? प्राणियों के झुण्ड घाते जा रहे हैं। आहाहा!

भावार्थ - देह में आत्मबुद्धि के कारण, आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित बहिरात्माएँ,... बहिर् वस्तु को अपनी माननेवाले बहिरात्मा मूढ़-मिथ्यादृष्टि, **स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धों में अपनेपन की कल्पनाएँ करते हैं और उनकी समृद्धि को,...** पुत्र रूपवान हो, पुत्रियाँ रूपवान हों, स्त्री रूपवान हो, मकान अच्छे हों, पैसे ठीक हों... आहाहा! **उनकी समृद्धि को,...** अर्थात् उनकी समृद्धि। शरीर की, वाणी की, पैसे की। **अपनी समृद्धि मानते हैं,...** अरे! **इस प्रकार यह जगत घाता जा रहा है...** बहुत समाधि की बात है न यह तो। असमाधि से घात हो रहा है। समाधि और असमाधि दो की बात है। आहाहा!

पर वस्तु के प्रेम में, आकुलता में... अरे! जगत घाता जा रहा है। अपना भगवान आत्मा जिसके साथ प्रेम और एकत्व होना चाहिए, उसे छोड़कर, अरे! यह जगत घाता जा रहा है। यह खेद की बात है। आहाहा! तुम किसलिए खेद करते हो? भाई! यह विकल्प आवे करुणा का। 'करुणा उपजे जोई', नहीं आता? श्रीमद् में नहीं आता? 'कोई क्रिया जड़ हो रहे, शुष्कज्ञान में कोई, माने मार्ग मोक्ष का (करुणा उपजे जोई)...'

यह करुणा अकषाय है, वह विकल्प है। आता है। 'कोई क्रिया जड़ हो रहे।' यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम में धर्म मानकर चिपटे हैं। कोई शुष्क ज्ञान की बातें करे, परन्तु राग से भिन्न आत्मा को जाने नहीं। आहाहा! 'कोई क्रिया जड़ हो रहे, शुष्क ज्ञान में कोई, माने मार्ग मोक्ष का...' इस देह में मोक्ष का मार्ग है, ऐसा मानता है। करुणा उपजे जोई।

जब तक जीव को शरीर में आत्मबुद्धि रहती है, तब तक उसको अपने निराकुल निजानन्दरस का स्वाद नहीं आता... एक न्याय से तो ऐसा कहा कि आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं तो कहीं इसका स्वाद रुक गया है। आहाहा! इसे राग का स्वाद आता है। जड़ का तो स्वाद नहीं (आता), इसे अपना मानने में मिथ्यात्वभाव का इसे स्वाद आता है। इसे आत्मा के आनन्द के स्वाद का अभाव है। आहाहा! कहते हैं कि बहिरात्मपने का स्वरूप क्या? बाह्य अपने माने, यह बात रही परन्तु यह कैसे? कहते हैं। आहाहा! यह भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु... आहाहा! जिसे आनन्द का अन्तर में स्वाद का अभाव है, वह यह सब असमाधि के स्वाद को अनुभव करता है। समाधि-असमाधि है सही न? आहाहा! समझ में आया?

जब तक इसे पर में अपनेपने की बुद्धि है, तब तक इसे अपने निराकुल निजात्म रस का स्वाद आता नहीं। **और वह अपनी अनन्त चतुष्टयरूप सम्पत्ति से अनजान रहता है।** पर को अपना मानने में रुका हुआ आकुलता का वेदन करता है। निजानन्द के स्वरूप का इसे स्वाद नहीं; इसलिए इसे अनन्त चतुष्टय जो भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य-पुरुषार्थ स्वभाव का इसे अज्ञान है। अपना स्वरूप बेहद अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य मुख्य। यह अनन्त चतुष्टय का स्वरूप हूँ, उसका यह अज्ञान है, अज्ञात है। आहाहा! मेरी अस्ति और मैं, वह तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, वीर्य, वह मैं। इसका अज्ञान और अज्ञात होने से... आहाहा! ऐसे अनन्त चतुष्टयस्वरूप भगवान आत्मा को न जानने से **वह स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्यादि बाह्य सम्पत्तियों को...** देखा! अन्तर सम्पत्ति को न जानने से। ऐसा।

अनन्त ज्ञानस्वभाव है न? स्वभाव है, उसे हद क्या? मर्यादा क्या? अपूर्णता

क्या ? आहाहा ! ऐसा आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त दर्शन— ऐसे अनन्त चतुष्टयस्वरूप आत्मा का अनादि अज्ञानी अज्ञात है। आहाहा! समझ में आया ? और **बाह्य सम्पत्तियों को अपनी मानकर,...** आहाहा! ऐसी चीज़ अन्दर है, उसकी इसे खबर नहीं। इसलिए अपनी सम्पत्ति का अज्ञात और परसम्पत्ति में मैंपना मानकर बैठा है। आहाहा ! **बाह्य सम्पत्तियों को अपनी मानकर, उनके संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद करता है।** अनुकूल संयोग हो तो हर्ष, प्रतिकूल संयोग हो तो द्वेष। यह तो सब बाह्य सम्पत्ति है। यह कहीं तेरी नहीं है। आहाहा !

सुखी हैं अभी। लड़के काम में लग गये हैं। हमारी उम्र ६० वर्ष की हुई परन्तु २५-२५ वर्ष के लड़के... व्यापार-धन्धे में लग गये हैं। अभी हम सुखी हैं। ऐसा कहते हैं न ? कहते हैं ? लड़के काम में लग गये हैं। दो-तीन लड़के काम में लगे। एक-दो हैं, वे छोटे हैं, वे पढ़ते हैं। परन्तु सब चलता है। अभी दो वर्ष से। यह तो अभी कहते थे, नहीं ? यह मर गये न लड़के ? रमणीक। सूरत, उसका मामा कहता था। मैंने कहा, यह लड़का किसका है ? तो कहे ... वर्ष, दो वर्ष में तैयार हो जायेगा। दुकान-बुकान जाने को। ऐसा कहते थे। वर्ष-दो वर्ष में तैयार हो जायेगा। क्या तैयार हुआ उसमें ? वह ४२ वर्ष का मर गया न यह ? हमारे फावाभाई के लड़के का लड़का। फावाभाई की लड़की का लड़का। आहाहा ! मैंने कहा, यह क्या बोलता है ?

मुमुक्षु : गिनती कितनी लम्बाये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कितनी गिनती ? ऐसे २५-३० लाख रुपये लड़के के पास हैं। मनहर-मनहर। उसकी बहिन का लड़का मर गया ४२ वर्ष का। कुछ रोग नहीं, हों! डॉक्टर जान नहीं सके। आठ दिन कुछ निमोनिया हो गया। परन्तु वह कहीं जान नहीं सके। जीव उड़ गया। उसका लड़का आवे... लड़का... दो लड़के तैयार हैं। बैठते हैं न दुकान में। वर्ष, दो वर्ष में दुकान शुरु हो जायेगी। कहो, पोपटभाई ! ऐसा चलता है या नहीं ? ऐसा ही चलता है। आहाहा !

संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद करता है। परन्तु ५० वर्ष में लड़का आया। भाई ! नाम रखा। नहीं तो हमारा वंश चला जाता। यह दस लाख की पूँजी ले जाते कोई। देवर का लड़का ले जाता। अब लड़का हुआ है, अब तो... स्त्रियों को भी ऐसा बहुत होता

है। अपने भी पूँजी इतनी दस लाख की और लड़का कोई नहीं। यह देवर का लड़का है। अब हक तो इसे लागू पड़ेगा और यह ५०-५५ वर्ष हो गये हैं। आहाहा! अरे! भगवान! यह लक्ष्मी कहाँ तेरी? बापू! तू कहाँ? आहाहा! और कोई ले जायेगा और किसी को नहीं रहे और यह लड़का है, उसे रहेगी। क्या लगायी है तूने यह? आहाहा! तूने कर्मजाल माँडी है। मछलियाँ जैसे पकड़ में आती है न? क्या कहलाती है वह? जाल में। इसी प्रकार यह अज्ञान की जाल। आहाहा! पकड़ा गया, भाई! तू अपने आप पकड़ा गया है।

कहते हैं कि अरेरे! ऐसे फलस्वरूप **जिसके फलस्वरूप उसका संसार-परिभ्रमण चालू रहता है; अतः आचार्य खेद दर्शाते हुए कहते हैं कि, 'हाय! यह जगत मारा गया!** आहाहा! प्राणीगण मारे गये हैं। **नष्ट हुआ! इसको अपना कुछ भी भान नहीं रहा!** अरेरे! मैंने क्या किया? मैं कहाँ जाऊँगा? मैं कहाँ हूँ और कहाँ जाऊँगा? कुछ भान नहीं होता। इसी इस घूँटण में। आहाहा! ...चक्कर एक शरीर जाये और दूसरा मिले। दूसरा टले और तीसरा मिले। आहाहा! अरहट... अरहट होता है न? निचले में पानी भरे और ऊपर के खाली हों। अरहट। आहाहा! इसी प्रकार एक शरीरादि का संयोग जाये, मूढ़ है, चैतन्य की तो खबर है नहीं। आहाहा! दूसरे शरीर का भराव आवे। यह खाली हो और वह आवे... खाली हो और आवे। भगवान को संयोग-वियोग हुआ करे। आहाहा! यह कुछ भी भान रहा नहीं। आहाहा!

विशेष -' ...तथा किसी समय किसी प्रकार अपनी इच्छानुसार परिणमन देखकर यह जीव, उन स्त्री-पुत्रादिक में अहंकार-ममकार करता है... अपने विचारानुसार लड़के चलें। देखो, बापू! कैसे हमारे लड़के! हमारी आज्ञा चलती है। **इच्छानुसार परिणमन देखकर यह जीव, उन शरीर...** देखा! हमारा है, बापू! हमने फैलाया है। **और उसी बुद्धि से उनको उपजाने की,...** फिर वही बुद्धि उसे उपजाने की **बढ़ाने की तथा रक्षा करने की चिन्ता द्वारा निरन्तर आकुल रहता है; नाना प्रकार के दुःख वेदकर भी, उनका भला चाहता है।** आहाहा! दुकान में गन्दे वस्त्र पहनकर, ...होवे कारीगर बारीगर तो धन्धा करे... करे। यह मजदूरी कर-करके मर जाता है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मगसिर कृष्ण ३, मंगलवार, दिनांक ३१-१२-१९७४, श्लोक-१४-१५, प्रवचन-२१

शरीरादि का तो आ गया है। परन्तु यह पुत्र, स्त्री, धन, लक्ष्मी और धान्य। अनाज के कोठार भरे हों, खेती जरा हो तो अनाज बहुत पके। यह हमारा है, हमारे गेहूँ हैं, हमारा बाजरा है, हमारी खेती है। हमारी जमीन है। ऐसे अज्ञानी जो उसकी चीज़ नहीं, उसे अपनी मानता है, यह मिथ्यादर्शन-उल्टी श्रद्धा का यह परिणाम है। ऐसा सब करना है ? छोड़े तो ज्ञानी कहलाये। छोड़ा हुआ पड़ा ही है। छोड़ना था कब ? यह चैतन्यस्वरूप मैं पूर्णानन्द का नाथ सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ, ऐसी जिसे स्वभाव की दृष्टि का भान नहीं, वह इस पुण्य और पाप के कारण से प्राप्त सामग्री, वह मेरी है। हाथी, राजा हो तो हाथी आदि हों। हमारे हाथी, हमारे घोड़े, हमारे मकान। हमारे बाप-दादा से दस दुकानें हैं, घर-मकान किराये से देते हैं। यह सब हमारे हैं, ऐसा अज्ञानी मानता है। मिथ्याश्रद्धा महापाप। जिसका कसाईखाने से भी अनन्तगुणा पाप है।

मुमुक्षु : मिथ्यात्व का पाप।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्व का पाप। समझ में आया ?

नौकर-चाकर आदि। अच्छे नौकर मिले हों। चाकर... यह सब हमारे हैं, हमारे हैं। यह नौकर-चाकर मिले नहीं वहाँ ? रसोईया मिले। हमारा यह नौकर हमारा है। कहाँ से लाया तेरा ? आहाहा! विपरीत मान्यता के कारण जो चीज़ इसमें नहीं और बाहर से आयी है, उसे भी यह अपने में मानता है।

स्वयं से प्रत्यक्ष भिन्न हैं,... ऐसा कहते हैं। है ? **पुत्र, स्त्री, धन, धान्य, हाथी, घोड़ा, मन्दिर (मकान) और नौकर-चाकरादि जो स्वयं से प्रत्यक्ष भिन्न हैं,...** भिन्न चीज़ है, वह कहाँ इसमें आ गयी है ? **सदा काल अपने अधीन नहीं...** वह सब चीज़ें इसके आधीन है कहीं ? किसी समय इसका माने भी नहीं, बिखर जाये। स्त्री जरा वह हो जाये। आहाहा! समझ में आया ? वहाँ ऐसे दिशा में निकले तब स्त्री से वह लड़ता होगा थोड़ा। स्त्री कहती है कि अधिक बोलना नहीं। नहीं तो उसका फल दूसरा आयेगा, ऐसा बोलती थी। आहाहा! अधिक हमको-स्त्रियों को छंछेड़ना नहीं तुम्हारे। ...सम्हालना नहीं तो ... हाय-हाय।

वहाँ राजा की रानी थी एक गाँव में। नाम नहीं देना। रानी को उस दरबार राजा ने कुछ जरा सताने लगा, थोड़ा साधारण दबाने लगा। रानी कहे, दरबार! हम रानी जमींदार की बेटी हैं। बहुत छंछेड़ना नहीं। उसके पति को–राजा को कहे। नहीं तो हम नागिन हैं, काली नागिन। हम डंसेंगे तो तुम्हें मुश्किल पड़ेगा। हाय-हाय! वह राजा (को) कहे। आहाहा!

सदा काल अपने अधीन नहीं... उसका माने तब भी वह उसके आधीन नहीं। वह तो उसे ठीक लगे तो माने। ठीक न लगे तो न माने। इसका कहाँ है वह माने? **ऐसा स्वयं को ज्ञात हो तो भी उनमें ममकार करता है। पुत्रादि में...** अरे! परन्तु पुत्र तो मेरा है न। आहाहा! **'यह है, वह मैं ही हूँ'—ऐसी भी किसी समय भ्रमबुद्धि होती है।** वह होवे न? व्यक्ति मर गया हो और जाये। स्वयं फुरसत में न हो, तू जा न! मैं हूँ वह तू, जा न। क्या कहलाता है यह? अन्तिम संस्कार में जाना। ऐसा कहते हैं। तू जा न। मैं हूँ, जा न। मूर्खाई, वह भी कम है कहीं? आहाहा! कैसे होगा? मलूकचन्दभाई! बराबर होगा? आहाहा! **ऐसी भी किसी समय भ्रमबुद्धि होती है। मिथ्यादर्शन से शरीरादि का स्वरूप भी अन्यथा ही भासता है।** यह शरीर भी हमारा, हम ध्यान रखते हैं तो रहे। ऐसा है, वैसा है। आहाहा! यह सब मिथ्यादर्शन के लक्षण हैं। यह मोक्षमार्गप्रकाशक, इसमें पृष्ठ ८५ से चलता है, उसमें का है।

श्लोक - १५

इदानीमुक्तमर्थमुपसंहृत्यात्मन्यन्तरात्मनोऽनुप्रवेशं दर्शयन्नाह -

मूलं संसारदुःखस्य देहे एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः॥ १५॥

मूलं कारणं। कस्य? संसारदुःखस्य। काऽसौ? देह एवात्मधीः देहः कायः स एवात्मधीः। यत एवं ततस्तस्मात्-कारणात्। एनां देह एवात्मबुद्धिं। त्यक्त्वा अन्तः प्रविशेत् आत्मन्यात्मबुद्धिं कुर्यात् अन्तरात्मा भवेदित्यर्थः। कथंभूतः सन्? बहिरव्यापृतेन्द्रियः बहिर्बाह्यविषयेषु अव्यापृतान्यप्रवृत्ता-नीन्द्रियाणि यस्य॥१५॥

अब, कहे हुए अर्थ का उपसंहार करके, आत्मा में अन्तरात्मा का अनुप्रवेश दर्शाते हुए कहते हैं —

जग में दुःख का मूल है, तन में निज का ज्ञान।
यह तज विषय-विरक्त हो, लो निजात्म में स्थान॥ १५॥

अन्वयार्थ - (देहे) शरीर में (आत्मधीः एव) आत्मबुद्धि होना, वही (संसार दुःखस्य) संसार के दुःख का (मूलं) कारण है; (ततः) इसलिए (एनां) शरीर में आत्मबुद्धि को (त्यक्त्वा) छोड़कर तथा (बहिरव्यापृतेन्द्रियः) बाह्यविषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोककर, (अन्तः) अन्तरङ्ग में-आत्मा में (प्रविशेत्) प्रवेश करो।

टीका - मूल अर्थात् कारण। किसका ? संसारदुःख का। वह (कारण) क्या ? देह में ही आत्मबुद्धि अर्थात् देह-काया, वही आत्मा — ऐसी बुद्धि (मान्यता), वह। इस कारण इसका अर्थात् देह में ही आत्मबुद्धि का त्याग करके, अन्तर में प्रवेश करना—आत्मा में आत्मबुद्धि करना-अन्तरात्मा होना — ऐसा अर्थ है। कैसा होकर ? बाह्य में अव्यावृत्त इन्द्रियोंवाला होकर अर्थात् बाह्यविषयों में जिसकी इन्द्रियाँ अव्यावृत्त-अप्रवत्त-हुई हैं (रुक गयी हैं-अटक गयी हैं)। वैसा होकर।

भावार्थ - शरीर में आत्मबुद्धि होना ही संसार का मूलकारण है; अतः उसे छोड़कर तथा इन्द्रियों की बाह्यविषयों में होनेवाली प्रवृत्ति को रोककर, आत्मा में प्रवेश करना, अर्थात् पर की ओर से हटकर, स्वसन्मुख होना।

संसार में जितना दुःख है, वह सब शरीर में एकत्वबुद्धि के कारण ही होता है। जब तक जीव की बाह्यपदार्थों में एकत्वबुद्धि रहती है, तब तक आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध रहा करता है और इस कारण उसे संसार में घोर दुःख भोगने पड़ते हैं।

जब जीव को शरीरादि परपदार्थों के प्रति ममत्वभाव छूट जाता है, तब उसको बाह्यपदार्थों में अहंकार-ममकारबुद्धि नहीं होती। वह पर से मुख मोड़कर, स्वसन्मुख ढलता है और आत्मिक आनन्द का अनुभव करता है; इस कारण ग्रन्थकार ने, समस्त दुःखों का मूलकारण जो शरीर में आत्मबुद्धि है, उसका त्याग करके, अन्तरात्मा होने की प्रेरणा दी है, जिससे जीव इन घोर सांसारिक दुःखों से परिमुक्त होकर, सच्चे निराकुल सुख को प्राप्त कर सके।

विशेष स्पष्टीकरण -

'.......इस जीव को पर्याय में अहंबुद्धि होती है, इससे वह अपने को और शरीर को एक जानकर प्रवर्तता है। इस शरीर में अपने को रुचे — ऐसी इष्ट अवस्था होती है, उसमें राग करता है तथा अपने को अरुचिकर — ऐसी अनिष्ट अवस्था में द्वेष करता है। शरीर की इष्ट अवस्था के कारणभूत बाह्यपदार्थों में राग करता है तथा उनके घातक पदार्थों में द्वेष करता है....... कोई बाह्यपदार्थ, शरीर की अवस्था के कारणरूप नहीं, तथापि उनमें राग-द्वेष करता है।[1]'

''अपना स्वभाव तो दृष्टा-ज्ञाता है, सो स्वयं केवल देखनेवाला-जाननेवाला तो रहता नहीं, किन्तु जिन-जिन पदार्थों को देखता-जानता है, उनमें इष्ट-अनिष्टपना मानता है और उससे रागी-द्वेषी होता है। किसी का सद्भाव तथा किसी का अभाव चाहता है किन्तु उनका सद्भाव या अभाव, इस जीव का किया होता नहीं है क्योंकि कोई द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य का कर्ता है ही नहीं[2], किन्तु सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमते हैं। यह जीव, व्यर्थ ही कषाय करके आकुलित होता है।

तथा कदाचित् स्वयं चाहे, उसी प्रकार पदार्थ परिणमित हो, तब भी वह अपने परिणमाने से तो परिणमा नहीं है किन्तु जैसे चलती गाड़ी को धक्का देकर बालक ऐसा मानता है कि 'मैं इस गाड़ी को चलाता हूँ' — इस प्रकार वह असत्य मानता है।....''

अतः शरीरादि मेरे हैं और मैं उनकी क्रिया कर सकता हूँ — ऐसी शरीर में आत्मबुद्धि, वह अज्ञानचेतना है। उसका त्याग करके 'आत्मा ही मेरा है' — इस प्रकार आत्मा में ही आत्मबुद्धिरूप ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन करके, अन्तरात्मा होने का उपदेश आचार्यदेव ने अज्ञानी जीव के लिये किया है॥१५॥

श्लोक - १५ पर प्रवचन

अब, कहे हुए अर्थ का उपसंहार करके, आत्मा में अन्तरात्मा का अनुप्रवेश दर्शाते हुए कहते हैं — १५ (श्लोक)

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ४, पृष्ठ ९२
२. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ४, पृष्ठ ९३

मूलं संसारदु:खस्य देहे एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः॥ १५॥

यह अर्थ में आ जाता है अन्वयार्थ में।

टीका - मूल अर्थात् कारण। किसका? संसारदु:ख का। है न? **मूल अर्थात् कारण। किसका? संसारदु:ख का। वह (कारण) क्या? देह में ही आत्मबुद्धि अर्थात् देह-काया, वही आत्मा—ऐसी बुद्धि (मान्यता), वह।** वह महा संसार में दु:ख का- भटकने का कारण है। आहाहा! निगोद और नरक। देह मिट्टी, जड़, धूल अजीव जगत की। यह तो अजीवतत्त्व है। यहाँ आकर खड़ा हुआ, जड़ का। आहाहा! उसमें आत्मबुद्धि वह संसार में भटकने का कारण है।

इस कारण इसका अर्थात् देह में ही आत्मबुद्धि का त्याग करके,... इसलिए धर्मी जीव। आहाहा! **अन्तर में प्रवेश करना...** भाषा देखो! शरीरादि मेरे नहीं, रजकण मेरे नहीं, मैं तो आत्मा हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ, उसमें प्रवेश करना। आहाहा! कहो, इसका नाम धर्म है। **आत्मा में आत्मबुद्धि करना-अन्तरात्मा होना—ऐसा अर्थ है।** ज्ञायक स्वभाव से विराजमान आत्मा वह मैं, ऐसे आत्मसन्मुख होकर आत्मा को अपना मानना; शरीरादि का मेरापन छोड़ देना। शरीर का मेरापन छोड़कर फिर बाह्य तकलीफ कहाँ रही वहाँ? समझ में आया?

कैसा होकर? बाह्य में अव्यावृत्त इन्द्रियोंवाला होकर अर्थात् बाह्यविषयों में जिसकी इन्द्रियाँ अव्यावृत्त-अप्रवत्त-हुई हैं... क्या कहते हैं? कि यह इन्द्रियाँ हैं न? उसके द्वारा जो बाह्य में प्रवृत्ति का लक्ष्य जाता है, वह सब मिथ्यादर्शन, वह मेरा मानकर किया हुआ मिथ्यादर्शन। आहाहा! यह परवस्तु सब, इसके द्वारा बाह्य पदार्थ को जानते हुए उसका लक्ष्य कहाँ रहता है। आहाहा! इसलिए इन्द्रियातीत चीज़ है, उसे भूल जाता है। तो जिसे अब इन्द्रियों द्वारा जानना है... आहाहा! उसे छोड़कर। बात ऐसी है, भाई! **बाह्य में अव्यावृत्त इन्द्रियोंवाला होकर अर्थात् बाह्यविषयों में जिसकी इन्द्रियाँ अव्यावृत्त-अप्रवत्त-हुई हैं (रुक गयी हैं-अटक गयी हैं)। वैसा होकर।** आहाहा! इन्द्रियों द्वारा पर को देखना-जानना और जानते हुए यह मेरे, ऐसा मानना, वह सब मिथ्यादर्शन, अज्ञान

पाप है। उसे छोड़कर अन्तर चिदानन्दस्वरूप में प्रवेश करके अर्थात् अन्तरात्मा की दृष्टि करके... है तो सादी भाषा। सवेरे जरा सूक्ष्म था। अभी तो यह सब सादी भाषा है।

भावार्थ - शरीर में आत्मबुद्धि होना ही संसार का मूलकारण है;... आहाहा! सवेरे से यह शाम तक शरीर को यह और यह और यह। किया ही करता है। मिथ्यात्व का लक्षण है न। समझ में आया? शरीर की अनुकूलता-प्रतिकूलता में इसकी बुद्धि वहाँ रुक गयी है। भगवान अन्दर चैतन्यस्वरूप का अनादर होकर, यह सब शरीर की चेष्टाओं में रुक गया है। समझ में आया? **इन्द्रियों की बाह्यविषयों में होनेवाली प्रवृत्ति को रोककर, आत्मा में प्रवेश करना, अर्थात् पर की ओर से हटकर, स्वसन्मुख होना।** बहुत भाषा सादी की है। आहाहा! सूक्ष्म बातें बहुत कठिन। परसन्मुख से हटकर स्वसन्मुख जाना। परन्तु यह क्या है? जो चीज़ है प्रभु आत्मा सच्चिदानन्द शाश्वत् ज्ञान और आनन्द। आहाहा! इनकी ओर अन्तरात्मा होना हो, उसे इनकी ओर जाना। बहिरात्मा का त्याग करके कहा न? समझ में आया?

अन्तरात्मा में अन्तर वस्तु चैतन्यमूर्ति, वहाँ इसे दृष्टि लगाना, ऐसा कहते हैं। शरीर के ऊपर से लक्ष्य छोड़कर अन्तर में जाना, इसका अर्थ कि राग से भी लक्ष्य छोड़कर... आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव, वह राग है, बन्ध का कारण है। उसके ऊपर से भी लक्ष्य छोड़कर चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा में दृष्टि करना, वह इसने आत्मा में प्रवेश किया, ऐसा कहने में आता है।

स्वसन्मुख होना। अपने स्वभाव से विमुख है, वह परसन्मुख है। उस परसन्मुख से विमुख होकर... आहाहा! चैतन्य भगवान के सन्मुख होना। यह धर्म की दृष्टि है। आहाहा! इस क्रिया से यह शरीर होता है, ऐसा होता है, इससे यह होता है, यह सब मिथ्यात्वभाव है। शरीर की क्रिया से धर्म हो... स्वाहा... पूजा करते हुए नहीं बोलते? ...द्रव्य। वह द्रव्य मैं छोड़ता हूँ और स्वाहा करता हूँ। वह तो सब जड़ की क्रिया है, परद्रव्य की है। आहाहा! उस परद्रव्य का लक्ष्य छोड़कर स्वद्रव्य के स्वभावसन्मुख होना। आहाहा!

संसार में जितना दुःख है, वह सब शरीर में एकत्वबुद्धि के कारण ही होता है।

आहाहा! जरा बुखार आवे चार और छह डिग्री, वहाँ खलबलाहट हो जाती है। क्या है परन्तु अब? वह तो जड़ में आया है। तुझे कहाँ बुखार आता है? आत्मा को बुखार आता है? बुखार शरीर को आता है। आहाहा! बहुत गर्मी सिर में चढ़ गयी है। सिर में गर्मी चढ़ गयी है। तो क्या करना है? पानी के ठण्डे पोता रखो, ठण्डा पानी लाओ। पोपटभाई! करते हैं या नहीं?

मुमुक्षु : उसमें कोल्ड वाटर डालकर लाना।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें कोल्ड वाटर डालना। अधिक ठण्डा हो। आहाहा!

जितने दुःख हैं, वे सब शरीर में एकताबुद्धि के कारण से हैं। क्योंकि उसमें एकताबुद्धि तो पर के साथ एकताबुद्धि है। उसका संयोग और वियोग होने पर उसे राग और द्वेष हुए बिना रहेंगे नहीं। आहाहा! **जब तक जीव की बाह्यपदार्थों में एकत्वबुद्धि रहती है, तब तक आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध रहा करता है और इस कारण उसे संसार में घोर दुःख भोगने पड़ते हैं।** आहाहा! यहाँ बड़ा राजा और सेठिया हो। वह मरकर नरक में, निगोद में जाये। यहाँ से जैसा गया वैसा वहाँ। आहाहा! क्योंकि आत्मा जड़ से भिन्नता का अनुभव और भान तो नहीं है। समझ में आया? और पुण्यादि के परिणाम भी ऐसे होते नहीं। पाप के परिणाम के जोर में पड़ा हो। आहाहा! कहते हैं, उसे बाह्य पदार्थों में... आहाहा!

जब जीव को शरीरादि परपदार्थों के प्रति ममत्वभाव छूट जाता है,... जीव को। वह न छूटे तब तक संसार के घोर दुःख भोगना पड़ते हैं। **तब उसको बाह्यपदार्थों में अहंकार-ममकारबुद्धि नहीं होती। वह पर से मुख मोड़कर,...** पर से दृष्टि को छोड़कर अर्थात् मुख मोड़कर। ऐसा। **स्वसन्मुख ढलता है...** मैं जहाँ हूँ, वहाँ यह जाते हैं, ऐसा कहते हैं। मैं चैतन्यमूर्ति आत्मा हूँ, वहाँ यह दृष्टि जाती है। भारी कठिन काम। कुछ सामायिक करे, प्रौषध करे, प्रतिक्रमण करे तो कुछ करे, ऐसा होगा? सामायिक कहाँ थी? अज्ञानी की सामायिक कब थी? आहाहा! जो अन्दर विकल्प उठे कि यह करूँ, वह भी विकार और विभाव और पर है। आहाहा! उसके सन्मुख की दृष्टि है, उसे स्वसन्मुख करना। आहाहा! ऐसी बात है। तब उसे सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा!

आत्मिक आनन्द का अनुभव करता है;... वह दुःख था न? उसमें है। देहादि को मेरा मानकर चार गति के दुःख को वेदता और अनुभव करता है। तब देहरहित मैं हूँ... आहाहा! मेरी चीज़ है इसमें तो पुण्य-पाप के भाव भी नहीं। आहाहा! ऐसे आनन्द स्वरूप का अनुभव होने पर, उसे अपना मानने से उसे अतीन्द्रिय आनन्द आता है। आहाहा! है? **आत्मिक आनन्द का अनुभव करता है;...** आहाहा! बारम्बार स्वसन्मुख होने से और परसन्मुख से विमुख होने से, उसे आत्मा के अन्दर प्रवेश करने से अतीन्द्रिय आनन्द आता है, उसे सम्यग्दर्शन और उसे धर्म कहते हैं। आहाहा! ऐसा महँगा धर्म? महँगा जहाँ है, वहाँ से होगा या न हो वहाँ से होगा? आहाहा!

इस कारण ग्रन्थकार ने, समस्त दुःखों का मूलकारण जो शरीर में आत्मबुद्धि है, उसका त्याग करके, अन्तरात्मा होने की प्रेरणा दी है, जिससे जीव इन घोर सांसारिक दुःखों से परिमुक्त होकर, सच्चे निराकुल सुख को प्राप्त कर सके। आहाहा! बहुत संक्षिप्त वर्णन किया है। शरीर, वाणी, मन ऐसे, यहाँ एक ओर भगवान आत्मा। जिसने शरीर, वाणी, मन को अपना माना, उस मान्यता के कारण मिथ्यात्व का सेवन होकर चौरासी के अवतार में दुःखी होकर रुलेगा। और जिसने पर के ओर की सन्मुखता और अपना मानना छोड़कर आत्मा की ओर दृष्टि होने से, भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है। उस आनन्दस्वरूप में अपनापन अनुभव करने से उसे वर्तमान में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। आहाहा! इसका नाम धर्म है।

यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, तपस्या के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वह तो सब राग है। वह परसन्मुख की क्रिया का राग। '**परदव्वादो दुग्गइ**' परद्रव्य की ओर के झुकाव का भाव, वह चैतन्य की दुर्गति है। आहाहा! '**सदव्वा हु सुग्गइ**' चैतन्य वस्तु भगवान पूर्णानन्द के सन्मुख होकर उसकी एकता करना, वह चैतन्य की गति और वह मोक्ष की गति का कारण है। आहाहा! समझ में आया? दो-पाँच-दस लाख खर्च करे तो धर्म हो जाये, ऐसा नहीं है। ऐसा कहा।

मुमुक्षु : दो-पाँच-पच्चीस से न हो तो कितने खर्च करें तो होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरबों खर्च करे तो भी धर्म नहीं होगा। अरबों (खर्चे) वह तो

जड़ है, अरबों पैसा। इसका कहाँ था तो इसने खर्च किया? आहाहा! कदाचित् उसके प्रति तीव्र ममता स्त्री, पुत्र, परिवार के लिये रखनी हो, उसमें ममता को मन्द करके कुछ देने का भाव हो, वह तो पुण्य है। वह कहीं धर्म नहीं। वह बन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया?

शरीर में आत्मबुद्धि है, उसका त्याग करके, अन्तरात्मा होने की प्रेरणा दी है, जिससे जीव इन घोर सांसारिक दुःखों से परिमुक्त होकर,... दिशा बदली है। चैतन्य सच्चिदानन्द प्रभु पूर्णानन्द का नाथ आत्मा है, उसे छोड़कर शरीर, वाणी, मन और राग में अपनापन मानना, वही मिथ्यादर्शन और चार गति में भटकने की खान है। आहाहा! उसकी दृष्टि छोड़कर स्वसन्मुख की दृष्टि करना। आहाहा! कहो, प्रवीणभाई! ऐसी बातें बहुत महँगी। कितने ही तो कहे, हम जो धर्म करते हैं, उसे धर्म नहीं मानते। यह धर्म दूसरा नया निकाला। नया नहीं, भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा! यह सामायिक किये, प्रौषध किये, प्रतिक्रमण किये, वह तो सब विकल्प है। भक्ति की, यात्रा निकाली, दस-बीस लाख खर्च किये, वह तो सब राग मन्द है। वह तो परसन्मुख की क्रिया बन्ध का कारण है। आहाहा!

भगवान आत्मा स्वचैतन्य जिसका चैतन्यशरीर है, जिसका चैतन्य और आनन्द सर्वस्व है, ऐसे आत्मा की दृष्टि करना, अनुभव करना, वह सच्चा निराकुल सुख की प्राप्ति का कारण है। ऐसी प्रेरणा आचार्य ने की है। आहाहा!

विशेष- मोक्षमार्गप्रकाशक में से लिया है। **इस जीव को पर्याय में अहंबुद्धि होती है,...** पर्याय अर्थात् शरीर। **इससे वह अपने को और शरीर को एक जानकर प्रवर्तता है। इस शरीर में अपने को रुचे—ऐसी इष्ट अवस्था होती है,...** निरोग अवस्था, कोमल अवस्था, स्नान करके ऐसे बराबर ठीक (रखे)। **उसमें राग करता है तथा अपने को अरुचिकर—ऐसी अनिष्ट अवस्था में द्वेष करता है।** रोगादि आवे, कोई मारे, प्रहार करे, उसमें अरुचि / द्वेष करता है।

शरीर की इष्ट अवस्था के कारणभूत बाह्यपदार्थों में राग करता है... यह है मोक्षमार्ग (प्रकाशक) में। यहाँ इष्ट अवस्था में रुचि करता है, और अनिष्ट में द्वेष करता

है। एक बात। अब। **शरीर की इष्ट अवस्था के कारणभूत बाह्यपदार्थों में राग करता है...** और जो इष्ट अवस्था के कारणभूत दूसरे पदार्थ, उसका कोई घात करे, उसके ऊपर द्वेष करता है। आहाहा! यह टोडरमलजी का वचन है। **कोई बाह्यपदार्थ, शरीर की अवस्था के कारणरूप नहीं,...** आहाहा! **तथापि उनमें राग-द्वेष करता है।**

अपना स्वभाव तो दृष्टा-ज्ञाता है,... अपना स्वरूप और स्वभाव तो जानना-देखना है। उसका स्वभाव कोई शरीर, वाणी और राग वह कहीं इसका स्वभाव नहीं। आहाहा! **सो स्वयं केवल देखनेवाला-जाननेवाला तो रहता नहीं, किन्तु जिन-जिन पदार्थों को देखता-जानता है, उनमें इष्ट-अनिष्टपना मानता है और उससे रागी-द्वेषी होता है। किसी का सद्भाव...** बाह्य पदार्थ की किसी की अस्ति को चाहता है कि यह हो तो ठीक **तथा किसी का अभाव चाहता है...** प्रतिकूल न हो तो ठीक। यह तो अज्ञान है। आहाहा!

किन्तु उनका सद्भाव या अभाव, इस जीव का किया होता नहीं है... बाह्य पदार्थ की अस्ति यह अनुकूल हो तो टिके, ऐसा भाव करता है। और प्रतिकूलता आवे तो यह मर जाये दुश्मन या यह स्त्री ऐसी है और अमुक है, लड़के को मार डाले। आहाहा! कहते हैं यह बाह्य पदार्थ के सद्भाव को, अनुकूलता को और असद्भाव को प्रतिकूलता को छोड़ने के लिये। परन्तु यह कहीं इसके आधीन नहीं है। वह **सद्भाव या अभाव, इस जीव का किया होता नहीं है क्योंकि कोई द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य का कर्ता है ही नहीं,...** लो, यह मोक्षमार्गप्रकाशक। आत्मा शरीर का कर्ता नहीं, प्रतिकूल दुश्मन आवे उसे छोड़ने का कर्ता नहीं, सज्जन आवे, उसे रखने का कर्ता नहीं। आहाहा! यह तो साधु हो तो ऐसा होता होगा, नहीं? हमारे रमणीकलाल ऐसा कहता है। धनबाद, धनबादवाला न? यहाँ कहा जाता है दूसरा? झरिया, झरियावाला। वह कहे, यह सब महाराज कहते हैं, वह जंगल में जायें तब ऐसा होता है। परन्तु जंगल में ही है। यहाँ कहाँ पर में प्रविष्ट हो गया है? आहाहा! राग में तू नहीं, शरीर में तू नहीं, मकान में तू नहीं तो फिर तू है कहाँ? पैसे के, मकान के घेरे में पड़ा परन्तु तू वहाँ नहीं है। उससे भिन्न ही है। जंगल ही है इसे तो। आहाहा!

क्योंकि... वहाँ लाईन की है। **क्योंकि कोई द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य का कर्ता है**

ही नहीं,... लो! वे पण्डित कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता न माने तो वह दिगम्बर जैन नहीं। लो! अब यहाँ तो यह बात (की है)। कौन करे? भाई!

मुमुक्षु : टोडरमलजी को।

पूज्य गुरुदेवश्री : टोडरमलजी को कहाँ मानते हैं? वे मान्य नहीं (ऐसा वे लोग कहते हैं)।

कहा था न? (संवत्) १९८३ के वर्ष में। सेठ आये। दामोदर सेठ। उनके पास पैसा १० लाख, वह पहले के पैसे। कहा, यह काललब्धि और भवितव्यता कोई वस्तु ही नहीं है, ऐसा टोडरमलजी कहते हैं। आता है न उसमें? वह वस्तु नहीं। जिस समय जो पर्याय होती है, उसका नाम काललब्धि। उस समय भाव हो, उसका नाम भवितव्यता। परन्तु उसका ज्ञान कब होता है? कि स्व की दृष्टि करे तो। आहाहा! इसमें तो ऐसा कहा है। टोडरमल केवली हो गया? ऐसा बोले। पैसे की खुमारी न, उसका तो अभिमान बहुत। टोडरमल केवली हो गया? तब तुम केवली हो गये, ऐसा कहाँ कहना... आहाहा! इस ओर पैसा उसके पास था। दस लाख तब थे, ६०-७० वर्ष पहले। ४० हजार की आमदनी थी। बड़ा गाँव था। मुळियापाट। दस हजार की आमदनी थी। राजा था परन्तु राजा जैसा पर में घुस गया हुआ। आहाहा! धर्म के नाम से भी... हम मानते हैं वह धर्म। आहाहा! वह मूर्ति को नहीं मानता था। केस चला था। बोटाद... भावनगर में कोर्ट में केस चला। वहाँ उसकी यह साक्षी थी। शास्त्र में मूर्ति कहीं है नहीं। मूर्ति-बूर्ति नहीं, ऐसा बड़ा केस चला था। बोटाद में। बोटादवाले पैसेवाले थे न। इसलिए इस ओर में आ गये थे। .... इस ओर आये तो यह तो सम्प्रदाय में हो तो तुम्हारे कहलाये। तुम्हारा राज चलता हो। भावनगर... कोर्ट में, हों! कोर्ट में उसने कहा, मूर्तिपूजा शास्त्र में नहीं है। वहाँ ... उसको कहाँ भान हो इसका। आहाहा! क्योंकि स्थानकवासी थे न, मूर्ति माने नहीं। मूर्ति पूजा का अर्थ क्या? कि जो भगवान की प्रतिमा है, वह यदि हो, उसका बहुमान और पूजा करे तो शुभभाव होता है। ऐसी वस्तु शास्त्र में है। परन्तु वह मानता नहीं। समझ में आया? वह तो यहाँ तक कहता कि मिथ्यादृष्टि हो, तब तक मूर्ति को माने। समकित होने के बाद मूर्ति को न माने, ऐसा कहता था। तब मैंने उसे ऐसा

कहा कि समकित होने के पश्चात् निक्षेप की मूर्ति सच्ची उसको होती है। मिथ्यात्व में निक्षेप और ज्ञान का कुछ भान उसे होता नहीं। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात्, आत्मा का भान होने के बाद निक्षेप जो विषय है ज्ञेय का, उसका यह स्थापना विषय है। यह सम्यग्दृष्टि को ही स्थापना निक्षेप का ज्ञान होता है। समझ में आया? उसे उड़ाना था। वह कुछ बोले नहीं। आहाहा!

आत्मा का भान होने पर ज्ञान के दो प्रकार—नय पड़ जाते हैं—निश्चय और व्यवहार। यह व्यवहारनय ज्ञेय के चार भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। यह स्थापना निक्षेप वास्तव में ज्ञानी को ही होता है। व्यवहार। परन्तु हो शुभभाव / पुण्य; धर्म नहीं। परन्तु ऐसा व्यवहार धर्मी को भी पूर्ण वीतरागभाव न हो, तब आये बिना नहीं रहता। उससे इनकार करे कि ऐसा नहीं होता, (तो वह) मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? ऐसी बात है, भाई! चेतनजी! कहा, निक्षेप तो तब होता है। जब नय प्रगट हो तो उसका विषय ज्ञेय है, उसके भाग पड़ते हैं। और ज्ञान के भाग पड़े दो—निश्चय और व्यवहार। वहाँ सामने निक्षेप के चार भाग पड़ते हैं। उसने स्थापना निक्षेप व्यवहार से माना होता है। यह तो तब बात थी। यह तो (संवत) १९८३ की बात है।... ४९ (वर्ष) हुए। अरे! आग्रह जगत को मार डालता है। पक्षपात।

यहाँ तो कहते हैं कि वह है तो राग। मूर्ति पूजा का, भक्ति का है तो राग। परन्तु वह व्यवहार का राग आत्मज्ञान होने के पश्चात् भी जब तक वीतराग न हो तो ऐसा व्यवहार आये बिना नहीं रहता। समझ में आया? यह तो हमारे (संवत्) १९७६ से चलता था। ७६ के वर्ष से। २४ और ३१ कितने हुए? ५५ वर्ष। आहाहा! यह जिसे बाह्य बुद्धि है कैसी? कहते हैं। उस बाह्यबुद्धि में शुभभाव भी होता है। है शुभ। यह भगवान की भक्ति और पूजा से कोई धर्म हो जाये, संवर-निर्जरा हो जाये—ऐसा नहीं है। सम्मेदशिखर की लाख यात्रा करे या शत्रुंजय की करे तो उसे धर्म हो जाये, इस बात में दम नहीं है। परन्तु जब तक आत्मा वीतराग न हो और आत्मा का भान हुआ होने पर भी अन्दर स्थिर नहीं हो सके, तब ऐसा शुभभाव आये बिना रहता नहीं। समझ में आया? और इस प्रकार यदि न माने तो दृष्टि मिथ्यात्व है। यहाँ कोई पक्ष में-वाडा में आ गये, इसलिए इसमें रहूँगा, ऐसा है नहीं, कहा। वे दबाते थे। बहुत बोले नहीं। यदि कोई

बोलेगा तो मुँहपत्ती छोड़ देंगे और चले जायेंगे। यहाँ कोई वाड़ा में आ गये इसलिए पकड़ में आ गये हैं, यहाँ ऐसा है नहीं। हमको तो सत्य हो, वह सत्य है। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **अपना स्वभाव तो दृष्टा-ज्ञाता है,...** आहाहा! **किसी का सद्भाव तथा किसी का अभाव चाहता है किन्तु...** किसी द्रव्य का कोई द्रव्य कर्ता-हर्ता है नहीं। आहाहा! यह मूर्ति को स्थापित करना और लाना, इसका कर्ता आत्मा नहीं है। परन्तु होता है, तब उसके सन्मुख दृष्टि करता है, उसे शुभभाव होते हैं। पुण्य होता है। भारी कठिन काम। मन्दिर स्थापित कर सके नहीं, ऐसा कहते हैं। यह कर सके नहीं, ऐसा कहते हैं। बड़ा मकान हुआ। कैसे अक्षर और चारों ओर रंग... किय तब हुआ है या नहीं?

मुमुक्षु : इटली से मशीन आये तब हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : इटली से मशनी आयी तब सब अक्षर हुए। कहते हैं, यह खोटी बात है। वह तो अक्षर वहाँ होनेवाले थे, तब मशीन आयी, उसे निमित्त कहा जाता है। एक-एक अक्षर जो उत्कीर्ण हुआ है अन्दर, वह अनन्त रजकण के स्कन्ध की वह पर्याय अर्थात् अवस्था है। वह अवस्था मशीन से होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : लोगों ने मेहनत की, यह सब हुआ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हिम्मतभाई ने बहुत मेहनत की है, इसके अक्षरों के लिये। अभी भी अक्षर लिखने के हैं, वे लिखते हैं। यह अक्षर करते हैं न? क्या कहलाता है? यह चित्र-चित्र। यह क्या है...

मुमुक्षु : चित्र का परिचय।

पूज्य गुरुदेवश्री : परिचय उत्कीर्ण। भाई! यह बात, बहुत सूक्ष्म बातें, भाई! वह तो अक्षरों के रचनाकाल में आत्मा भले उसे विकल्प से निमित्त हो, परन्तु यह उससे रजकण की रचना होती है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : करना सब और...

पूज्य गुरुदेवश्री : करना सब नहीं, होना सब। करने के बदले होना सब और जानने में पूरा। आहाहा! ऐसा है भाई यह तो। साधारण बेचारे व्यापार के कारण निवृत्त

नहीं होते। दो घड़ी ... मिले तो सुनने जाये। जय नारायण। फिर २३ घण्टे यहाँ। यह बात सुनने बैठे नहीं अन्दर में। क्या कहते हैं यह? हाथ हिलना, बोलना और कहे कि परद्रव्य का कर नहीं सकता। ऐई!

मुमुक्षु : स्वयं बोले और कहे, मैं बोलता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं बोले और कहे मैं बोलता नहीं। परन्तु स्वयं बोलता नहीं। सुन न! यह जड़ की भाषा है यह। आहाहा! समझ में आया? परसन्मुख की क्रिया का पक्षपात हो गया है। ऐसी बात! समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं इसे करता हूँ। मकान बनाता हूँ, रहने का बनाता हूँ, पुत्र-स्त्री-पुत्र को मैं पालता हूँ, इसी प्रकार यह करके दूसरों को सीख देता हूँ लड़कों को। यह सब पर के कर्तापने की मान्यता को भगवान मिथ्यादर्शन कहते हैं। अज्ञान संसार के दुःख के गहरे खड्डे में जानेवाले हैं ये सब। समझ में आया?

कोई द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य का कर्ता है ही नहीं... लो, समयसार की गाथा दी ३७२।

कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य में उत्पाद नहिं गुण का करे।
इस हेतु से सब ही दरब उत्पन्न आप स्वभाव से॥३७२॥

गुण शब्द से पर्याय। आहाहा! समझ में आया? **कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य में उत्पाद नहिं गुण का करे।** कोई चीज़ दूसरी चीज़ की अवस्था को उपजावे, यह तीन काल में-तीन लोक में होता नहीं। आत्मा शरीर को हिलावे या आत्मा भाषा बोले, यह तीन काल में होता नहीं? मोहनलालजी! यह सब होशियार तुम भी सब व्यापार-धन्धे होशियार करते नहीं? धूल में भी करता नहीं, सुन न! हम पर की दया पाल सकते हैं। मूढ़ हो। पर के कार्य तू कर सकता है? पर की दया का? तुझे तो विकल्प-राग आवे। परन्तु इससे पर की दया पाल सकता है-यह कर्ता माननेवाले मूढ़ और मिथ्यादृष्टि हैं। समझ में आया? दूसरे तत्त्व को अपना तत्त्व माने, दूसरे के कार्य को अपना कार्य माने, वह मिथ्यादर्शन शल्य है। अज्ञान का महापाप है। आहाहा!

कोई द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य का कर्ता है ही नहीं... समझ में आया? क्योंकि प्रत्येक पदार्थ वर्तमान अवस्था के कार्य को कर सकता है, वह स्वयं से करता है। उसका कार्य दूसरा करे, (ऐसा) तीन काल में नहीं है। आहाहा! गजब काम! पांजरापोल (गौशाला) करना, कबूतर को ज्वार डालना। कबूतर... कबूतर। यह तो उस काल में होने की क्रिया होती है। आत्मा कर नहीं सकता। आहाहा! ... कौन? क्योंकि भगवान आत्मा तो ज्ञान और दर्शन, ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाव से भरपूर है। पर का करे, ऐसा कर्तापना स्वरूप में नहीं है। आहाहा! भारी कठिन! ऐसा बड़ा करना, और फिर कहे कर्ता नहीं।

मुमुक्षु : ...परन्तु मानना कैसे?

पूज्य गुरुदेवश्री : पागल दुनिया माने, मानना हो तो। आहाहा! यह तो उसके कारण से परमाणु, रजकण, पुद्गल अपने परावर्तन की पर्याय के काल में उस क्षेत्र में आकर परावर्तन उसका-पुद्गल का हुआ है। आत्मा उसे करे, इस मकान को आत्मा करे, ऐसा मानना महा मिथ्यात्व का पाप है। कठिन काम, भाई! यह दुनिया से भारी उल्टा। यह कहा न, देखो न!

कोई द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य का कर्ता है ही नहीं, किन्तु सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमते हैं। आहाहा! प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक पॉईन्ट-रजकण उस उस काल में उसकी वर्तमान अवस्थारूप वह-वह द्रव्य परिणमता है। दूसरा उसे परिणमावे तो होता है, यह बात वस्तु के तत्त्व में अन्दर है नहीं। ऐसा माने वह मूढ़ और मिथ्यादृष्टि है, वह जैन नहीं है। उसे जैनधर्म की खबर नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह ३७२ गाथा बहुत अच्छी है।

कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य में उत्पाद नहिं गुण का करे। (अर्थात्) पर्याय को एक तत्त्व दूसरे तत्त्व की अवस्था को तीन काल में कर सकते नहीं। क्योंकि वह-वह पदार्थ वर्तमान स्वयं उस क्षण में अपनी अवस्था का उत्पाद करता है। उसमें दूसरा कहे कि मैंने किया... आहाहा! समझ में आया? बहुत काम... अब यह चश्मा है, यह नीचे हो और ऐसे उठाया, किया तो कर्ता नहीं, ऐसा कहते हैं। कौन उठावे? भाई! तुझे खबर नहीं। कहा न? **सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमते हैं।** उस समय यह

परमाणु जो है, उसकी क्षेत्रान्तर होने की क्रियावतीशक्ति के कारण स्वयं अपने से क्षेत्रान्तर होता है। अँगुली से क्षेत्रान्तर हुआ और आत्मा से हुआ... आहाहा! भारी बातें, भाई! ऐसा होगा? यहाँ प्लेन में आते थे और टोपी ओढ़कर आते थे। ऐसा करूँ... ऐसा करूँ... ऐसा आता था। मुम्बई। १५०० मासिक वेतन। ब्रह्मचारी है। लाखोंपति। बालब्रह्मचारी है। नौकरी छोड़ दी है। दो वर्ष से छोड़ी होगी। यह तो कहाँ अब धूल में नौकर करे और उसमें पन्द्रह सौ महीने के आवे। वह तो धूल है। आहाहा! इससे मेरा निभाव होगा शरीर का, पर के-जड़ के कारण से इसका निभाव होता है। यह परवस्तु का कर्ता इसको मानना, वह तो मूढ़ जीव है। मैं इस शरीर को बराबर बनाकर रखूँ तो शरीर रहे, वह पर का कर्ता मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। उसे जैनधर्म अर्थात् वस्तु के स्वभाव की खबर नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा है, भाई! दुनिया से उल्टा है। दुनिया पूरी उल्टी है। उससे यह उल्टा है। आहाहा!

कहते हैं... इसका अर्थ किया है। **सर्व द्रव्य...** सब पदार्थ। रजकण हो या आत्मा हो, दूसरे छह द्रव्य तो भगवान ने देखे हैं। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल। भगवान केवली परमात्मा ने तो छह द्रव्य देखे हैं। संख्या से अनन्त, जाति से छह। आत्मा है न, वह अनन्त है। रजकण अनन्त हैं। कालाणु असंख्य हैं। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश एक-एक हैं। इसलिए संख्या से अनन्त हैं परन्तु जाति से छह। आत्मा, पुद्गल, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल। यह प्रत्येक अपने-अपने स्वभावरूप परिणमते हैं। आहाहा! गले उतारना भारी कठिन जगत को।

तब कहा था न? नहीं थे? लींबड़ीवाले चिमनलाल चकु। थे न ८७ में। लो, यह मैंने किया, ऐसा किया। अरे! क्या कहते हो तुम? उसमें क्या हुआ? उसमें आत्मा में क्या हुआ और इसमें क्या हुआ, यह तुम्हें खबर है आत्मा की? आहाहा! उस दिन की बात है। (संवत्) १९८७ की, हों! कितने वर्ष हुए? उसने कहा। लो, यह मैंने किया। भाई! देखो! तुमने ऐसा कहा कि एक मनुष्य था सेठ। वह नास्तिक था, कुछ मानता नहीं था। उसे ६० वर्ष में पुत्र हुआ। इसलिए राजा और गाँव के वह आवे न बधाई देने। क्या कहलाता है तुम्हारे? ... वह राजा आया। राजा ने लड़के को देखा, तुरन्त जन्मा हुआ। इसलिए कहे, मुझे तो इसे काटकर टुकड़ करके खाने का मन होता है। यह

दृष्टान्त दिया था, तब। फिर वह कहे - जिसका लड़का था वह। अर रर! क्यों ? तुम तो पाप को मानते नहीं। कहे, नहीं... नहीं... नहीं... यह नहीं होगा। परन्तु न हो क्या ? यह भूख लगी है और खाये बिना आया हूँ और दूध पिये बिना आया हूँ। इसे तोड़कर खाऊँगा तो भूख मिट जायेगी, दुःख मिट जायेगा। तुम कहते हो कि पाप होगा और मैं कहता हूँ कि इससे दुःख मिट जायेगा। ऐई! भूख लगी है। इसके टुकड़ करके तेल में... भूख मिट जायेगी। तुम कहते हो कि पाप होगा। पाप हो तो यहाँ दुःख होना चाहिए। भाई! तुझे खबर नहीं इसकी त्रिराशि की।

यह साता के उदय बिना इसे अन्दर में पचे नहीं। यह तो साता के कारण से यह हुआ है। यह मारा, काटा, इसका पाप का भाव तो तेरा भिन्न है। उस भाव के कारण तो तुझे आगे चार गति में भटकना पड़ेगा। अभी जो यह हुआ, भूख मिट गयी है, यह पाप किया और माँस खाया, इसलिए मिट गयी है, ऐसा नहीं है। यह जठर के साता के उदय के कारण वहाँ तुझे साता दिखती है। दुःख मिट गया। यह काटा और खाया, इसलिए दुःख मिटा, ऐसा है नहीं। इसकी त्रिराशि करनी पड़ेगी, कहा। एक तो यह आया कैसे ? कि पूर्व के कुछ पुण्य के कारण। मिटा कैसे ? के साता के कारण। करने का भाव क्यों ? कि यह पाप। आहाहा! पाप से दुःख मिटे, यह मान्यता-भ्रमणा अज्ञानी की है। मोहनलालजी! यह तो दूसरे प्रकार की बातें हैं। यह तो केवलज्ञान की पाठशाला है।

परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव... आहाहा! जिन्होंने तीन काल—तीन लोक एक समय में देखे, ऐसे अरिहन्त परमेश्वर की वाणी में यह आया है कि कोई तत्त्व-कोई द्रव्य किसी द्रव्य का करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! ऐसे हाथ घुमाया हुआ क्यों ? वह तो उसमें रजकण की अवस्था क्षेत्रान्तर होने की थी, इसलिए हुई है। तूने विकल्प किया, इसलिए हुआ है, ऐसा नहीं है। बापू! तुझे खबर नहीं। तुझे द्रव्य की पृथक्ता के भान की खबर नहीं। पृथक् द्रव्य पृथक् द्रव्य को कुछ करे, यह वस्तु के स्वभाव में तीन काल में नहीं है। समझ में आया ? है ऊपर ?

क्योंकि कोई द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य का कर्ता है ही नहीं,... यह गाथा है ३७२वीं, समयसार की। **किन्तु सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमते हैं।** आहाहा! घड़े का उत्पादक कुम्हार नहीं है। यह दृष्टान्त है वहाँ ३७२ में। हम तो घड़े का उत्पादक

कुम्हार को नहीं देखते। भगवान ऐसा कहते हैं। घड़े का उत्पादक कुम्हार हम तो देखते नहीं। क्यों? कि परमाणु की अवस्था घड़ेरूप हुई, उसका कर्ता तो उसके परमाणु हैं। वह कुम्हार उसे घड़ेरूप करे, यह तो हम देखते नहीं। गजब कठिन बातें, संक्षिप्त बात में भी कहाँ इसकी विपरीत मान्यता है, उसकी इसे खबर नहीं। और यह मान्यता विपरीत की खबर बिना यह सामायिक करे, प्रौषध करे, प्रतिक्रमण करे, यह राग की मन्दता मिथ्यात्व के पाप को सेवन करता है। समझ में आया?

सर्व द्रव्य... सर्व द्रव्य है न शब्द? सब आत्मायें, सब रजकण **अपने-अपने स्वभावरूप...** पर्याय के स्वभावरूप होते हैं। **मात्र यह जीव, व्यर्थ ही कषाय करके आकुलित होता है।** अज्ञानभाव करके व्याकुल होता है। मैंने किया यह... मैंने किया यह। 'मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञान है, शकट का भार ज्यों श्वान खींचे।' शकट अर्थात् गाड़ी। गाड़ी के नीचे कुत्ता। गाड़ी तो बैल से चलती हो। परन्तु वह कुत्ता नीचे हो, उसे ऐसा कि मुझसे चलती है। इसी प्रकार 'मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञान है, शकट का भार ज्यों श्वान खींचे।' मैंने यह व्यापार किया, मैं यह गद्दी पर बैठकर बराबर दुकान सम्हाली, इसलिए पाँच लाख पैदा हुए। गत वर्ष बराबर नौकर के ऊपर रखा था तो आमदनी नहीं हुई थी। कैसे होगा इसमें? कहते हैं, भाई! तुझे खबर नहीं बापू! प्रभु! तू जानता नहीं, भाई! तेरा स्वभाव तो जानने-देखने का है। और जानने-देखने के स्वभाव उपरान्त तू पर का कर्ता हो, यह मान्यता मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया? **मात्र यह जीव, व्यर्थ ही कषाय करके आकुलित होता है।** आहाहा!

तथा कदाचित् स्वयं चाहे, उसी प्रकार पदार्थ परिणमित हो,... कदाचित् किसी समय। **तब भी वह अपने परिणमाने से तो परिणमा नहीं है...** आहाहा! यह अँगुली ऐसे है, देखो! ऐसे रोटी के टुकड़े करते समय। इच्छा थी तो हुए। परन्तु वह तेरी इच्छा से वहाँ हुए हैं, ऐसा नहीं है। वे टुकड़े रोटी के हुए, वे हाथ से हुए हैं, ऐसा भी नहीं। क्योंकि हाथ के परमाणुओं की पर्याय हाथ में हुई और टुकड़े होने की पर्याय उस रोटी में हुई। अरे.. अरे! ऐसा यह कहाँ? भारी भ्रम, भाई! यह सब पागल होंगे तब? पागल का बड़ा हॉस्पीटल है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, प्रभु कि प्रत्येक पदार्थ, उसमें एक-एक द्रव्य में उत्पाद-

व्यय-ध्रौव्य ऐसी एक शक्ति है। आहाहा! इसलिए उस-उस पदार्थ में उस क्षण में उस पर्याय का वह उत्पन्न होना, वह उसके पदार्थ का कारण है। आहाहा! वह यह गले कैसे उतरे? बड़े रेल के... बड़ा करते हैं या नहीं? पर्वत तोड़ते हैं, रेल नीचे से निकालते हैं। नहीं, इस रास्ते में नहीं आता? अरे! भगवान सुन न, प्रभु! भाई! तू कहाँ है? और तत्त्व कर्ता है। वह तत्त्व-द्रव्य जो है, उसका नाम द्रव्य है। द्रव्य अर्थात् वह क्षण-क्षण में द्रवति इति द्रव्यं। जैसे पानी में तरंग उठती है, वैसे प्रत्येक पदार्थ में जड़ हो या चैतन्य। भगवान ने तो छह द्रव्य देखे। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, जीव और पुद्गल। तो छह द्रव्य संख्या से अनन्त हैं। उस अनन्त संख्या से वर्तमान में अपनी अवस्था से वह हो रहा है। उत्पाद अपनी अवस्था से, व्यय अपनी अवस्था से, ध्रुव अपनी उस अवस्था से। आहाहा! यह अहंकार गले, मिथ्यात्व ऐसा टले... धर्म हुआ... आहाहा!

तथा कदाचित् स्वयं चाहे, उसी प्रकार पदार्थ परिणमित हो, तब भी वह अपने परिणमाने से तो... अर्थात् तेरा किया हुआ नहीं। वहाँ तो होने का काल था, इसलिए हुआ है। अपने आ गया है—जन्मक्षण। प्रत्येक पदार्थ में जो पर्याय है, वह उसकी उत्पत्ति का काल है। जन्मक्षण कहा है। भाई! आया था न? पहले आ गया। प्रत्येक यह रजकण है, आत्मा है, उसकी जो अवस्था होती है, वह उसका जन्म-उत्पत्ति का उसका काल है। आहाहा! उसकी उत्पत्ति के काल में वह पर्याय उत्पन्न होती है। पर के कारण होती है, यह महा मिथ्या भ्रम दशा है इसकी। समझ में आया?

किन्तु जैसे चलती गाड़ी को धक्का देकर बालक... देखो! आया दृष्टान्त। **बालक ऐसा मानता है कि 'मैं इस गाड़ी को चलाता हूँ'—इस प्रकार वह असत्य मानता है।** गाड़ी। बालक धक्का मारे तो मानो मुझसे चला। अपने आप चला है, बापू! उसकी पर्याय क्रियावतीशक्ति जड़ में है कि जिससे उसके कारण गति (होती है)। यह कहता है कि मैंने गति करायी। इसी प्रकार अज्ञानी जड़ और चैतन्य की वर्तमान दशारूप वे परिणमे, तब यह कहता है कि यह मैंने परिणमाया। यह मेरी इच्छा से हुआ। उसे यहाँ मिथ्यादर्शन शल्य कहते हैं। उसे छोड़कर अन्तर में दृष्टि आवे, आत्मा ज्ञाता-दृष्टा को जान, तो ज्ञाता-दृष्टा पर का करे नहीं, ऐसी दृष्टि होने पर तुझे सम्यग्दर्शन होगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मगसिर कृष्ण ४, बुधवार, दिनांक १-१-१९७५, श्लोक-१५-१६, प्रवचन-२२

तीसरा पेरेग्राफ। कहते हैं, अनादि से आत्मा चार गति में भटकता है और दु:खी है। वह कैसे भटकता है और दु:खी है? अवतार धारण करते हैं न सब? मनुष्य मरकर पशु के, नारकी के, देव के ऐसे अनन्त शरीर अनन्त काल से करता है, उसका कारण? पोपटभाई! यह सब पैसेवाले दु:खी हैं, हों! ऐसा नहीं समझना कि सुखी हैं। यह पैसा जड़ धूल है। इज्जत बाहर की जड़ और धूल है। यह शरीर स्वयं जड़ और धूल है।

कहते हैं कि यह आत्मा जो देह में भिन्न सर्वज्ञ परमात्मा जिन्हें एक समय में तीन काल और तीन लोक का ज्ञान (प्रगट हुआ है), उन भगवान की वाणी में यह आया और (गणधरों ने) रचा, वैसे यह शास्त्र वास्तव में सन्तों के रचित परन्तु पूर्व के सर्वज्ञों का सब अनुवाद है। कहते हैं कि यह चार गति में अनन्त काल से परिभ्रमण करता है और वह दु:खी है। उसमें आत्मा में अन्तर आनन्द स्वरूप है, उसकी इसे खबर नहीं। नटुभाई! आत्मा में आनन्द है। पैसे में और स्त्री में आनन्द मानता है, यह भ्रमणा, मूढ़ है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : भगवान तो ऐसा ही कहे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान कहते हैं, वह वस्तु है, ऐसा कहते हैं। कहते हैं, देखो!

अतः शरीरादि मेरे हैं... अज्ञानी अनादि काल से इस देह से भिन्न चैतन्य आनन्द -स्वरूप है। सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्राप्त किया और फिर इच्छा बिना की वाणी निकली, उस वाणी में यह स्वरूप आया है कि अनादि से शरीर मेरा, यह शरीर मेरा, (ऐसा अज्ञानी मानता है)। यह तो जड़-मिट्टी-धूल है। अन्दर में पुण्य-पाप के भाव होते हैं, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के, वे भाव भी विकार राग और विकार है। सूक्ष्म बात। यह विकार और शरीर बिना की चीज़ अन्दर है। सच्चिदानन्दस्वरूप सत् अर्थात् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द के भरपूर भाव से भरा हुआ पदार्थ है। ऐसे आत्मा को न मानकर शरीर मेरा, स्त्री मेरी, पुत्र मेरा, मकान मेरा, लक्ष्मी मेरी, इज्जत मेरी।

ऐसे मूढ़ जीव परवस्तु को अपनी मानकर **और मैं उनकी क्रिया कर सकता हूँ...**

सूक्ष्म बात है जरा। यह शरीर है वह जड़ है अजीव-मिट्टी है। यह इसे ऐसे हिला सकता हूँ, बोलता हूँ, मैं बोल सकता हूँ, मैं यह दाल-भात-रोटी खा सकता हूँ, यह सब जड़ की क्रिया है, तथापि यह मानता है कि यह मेरी क्रिया है। आहाहा! मोहनलालजी! यह जड़ की क्रिया होगी यह सब? कहीं भान नहीं होता। ऐसा का ऐसा धन्धा करना मजदूरी और कुछ पुण्य हो पूर्व का तो पैसा मिले और इस पैसे का वापस अभिमान। हम पैसेवाले और हम धूलवाले। आहाहा!

भगवान परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव का हुकम, आज्ञा और आदेश है। आहाहा! भाई! तू शरीर को मेरा मानेगा और शरीर की जितनी क्रिया होती है, वह मेरी क्रिया है – ऐसा माननेवाला वह विपरीत श्रद्धावाला मिथ्यादर्शन—झूठी श्रद्धा को सेवन करता है। यह तो सादी भाषा में है। इसमें कुछ बहुत... समझ में आया या नहीं? शरीर मेरा, स्त्री मेरी, मकान हमारा, लक्ष्मी हमारी। अब वह तो सब जड़ है। तेरे कहाँ से आये? तेरे हों, वे पृथक् रहे नहीं और पृथक् हों, वे तेरे हो नहीं। आहाहा! कहो, पोपटभाई! सच्च होगा यह?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : ... आहाहा!

शरीर, वाणी की क्रिया मैं कर सकता हूँ, अजीव की क्रिया मुझसे होती है, ऐसा माननेवाले प्राणी मूढ़ जीव है। क्या नाम? भानुभाई! तुम्हारे था न कुछ? विवाह था न? ...भाई का। आहाहा! यह तो मिट्टी-जड़ है। शरीर अजीव है। माता के गर्भ में इस भव से जब आया, तब वापस यह नहीं था। इसका एक रक्त का बूँद और एक वीर्य का बूँद, उसमें जीव आया। उसमें से... उसमें से यह शरीर बन गया इतना मोटा। यह तो जड़ है। अज्ञानी इस शरीर की क्रिया और शरीर मेरा है, ऐसा मानता है। वह मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है, झूठी श्रद्धा का सेवन करनेवाला है। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं कि **मैं उनकी क्रिया कर सकता हूँ...** आहाहा! यह बड़ा मकान बाँधते हैं, वह मानता है कि मैंने किया। मानता है या नहीं? ऐई! २२-२२ मंजिल के मकान नहीं बनाते मुम्बई में? वह इनका पुत्र है। पूनमचन्द। पूनमचन्द मलूकचन्द। बड़े पाँच

करोड़ रुपये हैं न। इन मलूकचन्द का पुत्र। यह तुम्हारे हिम्मतभाई है न, उनका भतीजा। माने नहीं इनका, हों! पाँच करोड़ नगद है उसके पास। आहाहा! आता है यहाँ। परन्तु पैसा... पैसा... पैसा... धूल... धूल... और धूल... आहाहा!

मुमुक्षु : इसके बिना सब्जी नहीं आती।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके बिना सब्जी चलती (आती) है। लड़के को... छोटे लड़के को मिलती है, कहाँ लड़के के पास तो पैसे नहीं। वह तो जो चीज़... यह लोग नहीं कहते? कि खानेवाले का दाने-दाने पर नाम है। सुना है? भाई नटुभाई! यह वापस सुने इतना, परन्तु इसका निर्णय नहीं करे। खानेवाले का दाने-दाने पर नाम है, ऐसी कहावत है। इसका अर्थ क्या? भगवान इसे ऐसा कहते हैं कि जो रजकण यहाँ आनेवाले हैं, वे आयेंगे ही। इसके खींचने से नहीं आते, इसकी इच्छा से नहीं आते। आहाहा! दाने-दाने पर नाम लिखा है अन्दर? तुम्हारे क्या कहते हैं? ऐई! कहाँ गये? पण्डितजी! क्या कहते हैं तुम्हारे? खानेवाले का नाम। इसका अर्थ इतना है, भगवान! वे रजकण जो परमाणु-मिट्टी है न? वे यहाँ आनेवाले, वे आनेवाले और नहीं आनेवाले, वे नहीं आनेवाले हैं। वे तेरे कारण आवे और तेरे कारण जाते हैं, यह वस्तु में नहीं है। गजब काम कठिन! समझ में आया? उन रजकणों का काम मैं करता हूँ और यह शरीर की क्रिया मेरी है, यह पैसे मैं दूसरे को दे सकता हूँ, पैसे दूसरे से ले सकता हूँ, ऐसी जो पर की क्रिया उसे अज्ञानी अपने कर्तारूप से मानता है। आहाहा! **ऐसी शरीर में आत्मबुद्धि, वह अज्ञानचेतना है।** आहाहा! इसका अज्ञान, इसका नाम मिथ्या चेतना है, झूठा ज्ञान है। समझ में आया? है?

मुमुक्षु : परन्तु अज्ञानचेतना अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानचेतना अर्थात् मूढ़ चेतना। उसकी चेतना झूठी है। वह झूठ में चेत गया है। यह मेरे पुत्र, यह मेरी इज्जत, यह मेरे मकान, यह मेरा शरीर। मूढ कहता है कि उसका ज्ञान मूढ़ में मूर्च्छित हो गया है। समझ में आया? भारी बातें ऐसी।

उसका त्याग करके... अब जब धर्मी होना हो... आहाहा! तब वह क्रिया मुझसे होती है, ऐसी जो मान्यता है, उसे छोड़कर... आहाहा! **'आत्मा ही मेरा है'...** यह आत्मा

सचेत ज्ञानानन्दस्वरूप है, शुद्ध ज्ञान और आनन्द का सागर अन्दर है। आहाहा! यह आत्मा, वह मैं हूँ। मैं शरीर नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, कर्म नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं। आहाहा! ऐसा जब अन्दर में माने और ऐसा मानकर आत्मा को ऐसा जाने, तब उसे धर्म होता है। आहाहा! गजब बात! समझ में आया? यह पूजा करके...

मुमुक्षु : दान-दया से धर्म नहीं होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : दान-दया के परिणाम होते हैं, वह पुण्य है; धर्म नहीं। कहो, यह पाँच लाख खर्च किये। यह तुम्हारे बारह लाख खर्च किये न तुम्हारे यहाँ? यह जानेवाले हैं न वहाँ हम। क्या कहलाता है? बैंगलोर। भाई भबूतमलजी मन्दिरमार्गी श्वेताम्बर हैं। उन्होंने आठ लाख खर्च किये और सेठ जुगराजजी स्थानकवासी हैं। दोनों करोड़पति। यह और कहते हैं, मेरे परिचित हैं। भबूतमलजी के पास दो करोड़ है। यह उनके परिचित है न! दो करोड़ होंगे और उन जुगराजजी के पास एक करोड़ है। दोनों मिलकर बारह लाख का मन्दिर (बनाते हैं)। दिगम्बर मन्दिर बैंगलोर में हुआ है। वहाँ चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को वहाँ भगवान की प्रतिष्ठा का मुहूर्त है। वहाँ जानेवाले हैं न!

यह पैसा मेरा और मैंने खर्च किया। कहते हैं, मिथ्या बुद्धि है। पैसे कहाँ तेरे हैं? वह तो जड़ के हैं। बहुत कठिन बात है। जगत को सत्य मिला नहीं। यह तो ऐसे कुछ मन्दिर बनाकर पाँच-दस लाख खर्च करें तो धर्म हो जाये। धूल में भी धर्म नहीं, सुन न! उस पर की चीज़ को मैं रचता हूँ, ऐसी जो मान्यता है, वह मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान और मूढ़ता है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। इस शरीर में, वाणी में, मन में, कर्म में, राग में, द्वेष में, स्त्री में, पुत्र में यह मेरे और इनकी क्रिया मैं कर सकता हूँ, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह जिसे छोड़ना है। यह नहीं। यह मैं नहीं। जो मैं होऊँ, वह मुझसे भिन्न नहीं रह सकता और भिन्न रहे, वह मेरा नहीं हो सकता। अज्ञान का त्याग करके। यह अज्ञान का त्याग करना। स्त्री-पुत्र का तो त्याग किया, वह तो अनन्त बार किया। समझ में आया? 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो...' मुनिव्रत (धारण कर) अनन्त बार साधु हुआ। कुटुम्ब, कबीला, दुकान छोड़ी, परन्तु अन्दर में यह मेरी क्रिया राग की और यह मेरी क्रिया-यह मिथ्यात्व उसने छोड़ा नहीं।

मुमुक्षु : मुनि...

पूज्य गुरुदेवश्री : मुनि नाम। नग्न होकर घूमे, जंगल में रहे परन्तु आत्मा अन्दर वस्तु है, वह शरीर की क्रिया से रहित और दया, दान, व्रत के भाव होते हैं, वह भी राग है। कहा न यह? 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' मुनि के व्रत लिये, पंच महाव्रत पालन किये, वह तो पुण्य है। वह आत्मा का स्वभाव नहीं। उसके कारण स्वर्ग में जाये धूल में ऊँचे। यह मक्खी उड़कर जाये न वहाँ ऊपर? नवरंगभाई! बात ऐसी है, भाई! क्यों यह तुम नीचे बैठे और मक्खी ऊपर जाती है या नहीं? इतनी ऊपर गयी तो ऊँची हो गयी? इसी प्रकार ऐसे दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव करे, पुण्य बाँधे। मुनि होकर त्याग करे, फिर ऊँचे स्वर्ग में जाये। समझ में आया?

कहा था न एक बार? 'द्रव्यसंयम से ग्रैवेयक पायो, फेर पीछो पटक्यो।' यह शब्द है। सज्झायमाला आती है न चार? उसमें यह शब्द है। मैं तो दुकान पर यह पढ़ता था न। पूर्व के संस्कार थे वे। छोटी उम्र में। इस सज्झायमाला में यह आया है। (संवत्) १९६४-६५ के वर्ष की बात है। सज्झायमाला आती है। एक-एक सज्झाय में २००-२५० सज्झाय आती है। ऐसी चार सज्झाय (माला)। यह दुकान पर मँगायी हुई। तब, हों! ६५ के वर्ष। उसमें पढ़ा हुआ। यह आया। यह क्या? 'द्रव्यसंयम से ग्रैवेयक पायो, फेर पीछो पटक्यो।' बाहर के क्रियाकाण्ड के पुण्यभाव के कारण स्वर्ग में गया। नौवाँ ग्रैवेयक है। इस पुरुष के आकार जगत है। मनुष्य खड़ा हो, ऐसे (कमर पर हाथ) देकर, ऐसा यह जगत है, चौदह ब्रह्माण्ड। इसके अन्दर गले का स्थान होता है। इस गले का। उसे ग्रैवेयक कहा जाता है। उस ग्रैवेयक में पासडा होते हैं स्वर्ग के। वहाँ भी अनन्त बार जा आया है। साधु होकर, त्यागी होकर, पुण्य के परिणाम करके। परन्तु इसने धर्म किया नहीं। धर्म कोई दूसरी चीज़ है, बापू!

यह 'द्रव्य संयम से ग्रैवेयक पायो...' ऐसा शब्द है अन्दर। मोहनलालजी! यह तो दुकान पर भी मैं तो पढ़ता था वहाँ, हों! छोटी उम्र में भगत कहलाता था। पहले से भगत कहते छोटी उम्र से। यह चार सज्झायमाला है। एक-एक में २००-२५० श्लोक हैं। यहाँ चारों हैं। यहाँ पुस्तक चारों हैं। उसमें दो बातें आयीं, तब खटक लगी थी। यह

एक आया नौवें ग्रैवेयक में क्रियाकाण्ड करके और संयम पालन करके गया तो भी संसार का नाश नहीं हुआ। 'फेर पीछो पटक्यो।' वापस आकर मनुष्य होकर, पशु होकर नरक में गया। यह क्या? उस समय तो कुछ खबर नहीं। परन्तु यह क्या है? द्रव्यसंयम लिया और नौवें ग्रैवेयक में गया। गले के स्थान में वैमानिक पासडा है। और अनन्त बार वहाँ उपजा। आहाहा! तथापि भव घटा नहीं। क्योंकि इसने जन्म-मरण के नाश का उपाय—यह राग की क्रिया भी मेरी नहीं, मैं तो चिदानन्द, ज्ञानानन्द, सहजानन्द की मूर्ति हूँ। आहाहा! वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने जो आत्मा को कहा, वह आत्मा तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप है। उसमें पुण्य और पाप का राग, वह उसके स्वरूप में नहीं है। आहाहा!

ऐसे स्वरूप के भान बिना... कहा न यह। 'मुनिव्रत धार...' मुनिव्रत लिया। 'अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै (निज) आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' यह मुनिव्रत पंच महाव्रत है, वह भी राग है और दुःख है। आहाहा! जगत को कहाँ जँचे? सुना नहीं कभी। यह विकल्प उठता है कि दया पालन करूँ, यह पालन करूँ, यह पालन करूँ, यह सब राग है। यह राग है, वह दुःख है। ऐसा कहा। देखो! 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै (निज) आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' तब यह पंच महाव्रत के परिणाम भी आस्रव और दुःख है। अव्रत के पाप और हिंसा तो दुःख है... आहाहा! आहाहा! परन्तु व्रत के परिणाम मैं यह करूँ, इतना यह विकल्प और राग और दुःख है। तो कहते हैं, 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, परन्तु आतमज्ञान...' आहाहा! परन्तु यह राग की क्रिया से पार चिदानन्द मूर्ति प्रभु आत्मा है, उसका इसने ज्ञान और स्वाद लिया नहीं। आहाहा! यह क्या होगा? स्वाद आता होगा? स्वाद तो यह दूधपाक का और लड्डुओं का, ऐसा लोग तो कहते हैं। बातें करते हैं। उसका स्वाद कब आता है इसे? दूधपाक और लड्डू, वे तो जड़ हैं। यह तो उसके ऊपर लक्ष्य करके 'यह ठीक है' ऐसा राग करता है। उस राग का इसे स्वाद आता है। मोहनलालजी! पैसे का नहीं, हों! मौसम्बी खाये न ऐसे, उसका नहीं। मौसम्बी तो जड़ है, वह तो अजीव है। आत्मा तो अरूपी चैतन्य है। वह अजीव को किस प्रकार खाये? परन्तु अजीव पर लक्ष्य करके 'यह ठीक है' ऐसा जो राग उत्पन्न करता है, यह उस राग का स्वाद लेता

है। आहाहा! हसुभाई! यह तुम्हारे पैसे का मजा, यह राग का मजा है, ऐसा कहते हैं। इसे जँचता होगा?

मुमुक्षु : ...आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आवे। पहिचानते हो तुम? मुम्बई। यह पोपटभाई का पुत्र है। दो करोड़ रुपये हैं इसके पास। हाँ, हाँ। हमें तो लोग बात करे तब खबर पड़े न। दो करोड़ रुपये हैं। छह लड़के हैं। करोड़, हों! सब करोड़ों की बातें हैं यहाँ। धूल है अब करोड़। उस पैसे में मजा। अपने यहाँ मकान... भाई ने आज जमीन ली है, हों! मोहनलालभाई ने। इन्होंने लिया हुआ है। ३६ हजार की जमीन ली है। एक महान है वहाँ और ३६ हजार की जमीन। छह लड़के हैं। नम्बर से मजदूरी करे न, थोड़ा यहाँ आवे। आहाहा! जगत को मार डाला है।

भगवान आत्मा राग और शरीर की क्रियारहित आत्मा... आहाहा! पुण्य और पाप के भाव जो विकारी हैं... आहाहा! उनसे प्रभु आत्मा का स्वरूप तो निर्विकारी आनन्द अमृत है। ऐसे आनन्द के नाथ को अन्दर निहारा नहीं और राग और पुण्य की क्रियायें करके स्वर्ग में जाये। परन्तु वापस गिरकर वह चार गति में भटकेगा। समझ में आया? ऐसी बातें कठिन गजब। यह तो सोनगढ़ के एकान्त में कहे। वाडा में जाये तो रहने न दे। अरे! कहते हैं, बापू! मार्ग तो यह है, भाई! तूने चाहे जो माना परन्तु चैतन्य भगवान अन्दर... यह देह की क्रिया करनेवाला मैं नहीं। यह राग की क्रिया करनेवाला इसका स्वरूप नहीं। आहाहा! यह तो ज्ञान सच्चिदानन्द ज्ञान और आनन्द का कन्द है यह।

सोलह वर्ष का लड़का। आत्मा को कहाँ वर्ष है? वर्ष तो इसे है या आत्मा को? इसे वर्ष है। आत्मा तो अनादि-अनन्त है। कहा था, एक मनुष्य आया हुआ। पच्चीस लाख... बहुत आते हैं न करोड़ोंपति। लड़का था। उसे जामनगर में नयी दुकान करनी थी। तो आया था दर्शन करने। कितनों को ऐसा कि महाराज के दर्शन करेंगे तो अपनी दुकान अच्छी चलेगी, अमुक चलेगा। ऐसी सब मान्यता बहुतों की होती है। फिर आया यहाँ।

फिर मैंने उससे पूछा, भाई! शरीर का यह आयुष्य कहलाता है न ५०-६०-७०

यह किसका? शरीर का या आत्मा का? कि हमको कुछ खबर नहीं पड़ती। यह जामनगर दुकान करने के लिये आया था। गृहस्थ व्यक्ति था। लड़का था। ३५-४० वर्ष का। इतना पूछा। जैन था। कहा, यह ५० वर्ष, ६० वर्ष कहलाते हैं शरीर के। वे शरीर के कहलाते हैं या आत्मा के? मुझे कहा कि अपने को खबर नहीं पड़ती। यह दुनिया के चतुर। यह दुनिया के होशियार लड़के। परन्तु आयुष्य है, वह तो शरीर का है। आत्मा तो अनादि-अनन्त है। आत्मा नया है? उपजता है? मरता है? शरीर उपजता है और शरीर मरता है। आत्मा तो अनादि सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा। अविनाशी आनन्द का नाथ नित्यानन्द प्रभु है। उसे काल हो नहीं सकता। आहाहा! खबर नहीं होती, यह धन्धे के पावरधा धन्धे में-पाप में रचपच गये हैं। आहाहा! मैं अन्दर कौन हूँ यह?

श्रीमद् ने नहीं कहा? श्रीमद् में आता है न? सोलह वर्ष की उम्र में आता है। श्रीमद् को तो जातिस्मरण हुआ था न? जातिस्मरण पूर्व भव का। सोलह वर्ष की उम्र में वह तो ऐसा कहते हैं वहाँ। 'मैं कौन हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?' सोलह वर्ष में। भाई! पढ़ा है तुमने? है न, बोले थे। तब बोले थे। ध्यान है इसने आत्मसिद्धि पढ़ा लगता है। वहाँ अपने नहीं आया था? वहाँ बोले थे।

मैं कौन हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?
सम्बन्ध दु:खमय कौन है? स्वीकृत करूँ परिहार क्या?
इसका विचार विवेकपूर्वक शान्त होकर कीजिये
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिये।

सोलह वर्ष में कहते हैं। 'मैं कौन हूँ? आया कहाँ से?' मैं तो आत्मा हूँ। कहाँ से हुआ? हुआ कहाँ से? हूँ न। 'मैं कौन हूँ? कहाँ से हुआ?' अनादि का हूँ। 'क्या वास्तविक स्वरूप है मेरा?' वास्तविक स्वरूप। शरीर भी नहीं, वाणी नहीं, पुण्य-पाप के भाव भी मैं नहीं। मेरा वास्तविक स्वरूप यह नहीं। मेरा वास्तविक स्वरूप तो सच्चिदानन्द आनन्द का नाथ ज्ञान स्वभाव के सागर में स्थित ऐसा वह मैं आत्मा हूँ। आहाहा! कैसे जँचे? कभी मेहनत की नहीं, दरकार की नहीं। आहाहा! समझ में आया?

'कोना सम्बन्धे वळगणा छे?' शरीर और वाणी राग के कारण माना है कि मेरे

हैं। 'स्वीकृत करूँ परिहार क्या?' सोलह वर्ष में कहते हैं। यह शरीर और राग को रखूँ या शरीर और राग को छोड़ूँ? 'इसका विचार विवेकपूर्वक...' राग और दया-दान की क्रिया के परिणाम भी राग और विकार है, वह आत्मा का स्वरूप और आत्मा का स्वभाव नहीं है। ऐसा जब राग और देह की क्रिया की से आत्मा को भिन्न जाना। मैं तो ज्ञानानन्द ज्ञानस्वरूपी प्रज्ञाब्रह्म आत्मा हूँ। आहाहा! तब उसे सम्यग्दर्शन की दशा होती है। समझ में आया? सम्यक् अर्थात् सच्ची प्रतीति, सच्चा दर्शन। अर्थात् कि मैं तो ज्ञानस्वरूप चैतन्य प्रज्ञा का पुँज हूँ।

जैसे गाँठ होती है न गाँठ। धोकड़ा समझते हो न? गाँठ। रुई की गाँठ। इसी प्रकार आत्मा ज्ञान की गठरी है, भाई! परन्तु कैसे जँचे? वह ज्ञान की गाँठ है। ज्ञान और आनन्द की गाँठ है, पुँज है। आहाहा! ऐसा जब जिसे अन्तर के आत्मा के ज्ञान को ढंढोलकर भान हुआ, तब कहते हैं कि मैं तो आत्मा जाननेवाला-देखनेवाला हूँ। यह राग की दया-दान की क्रिया, वह भी मेरी नहीं है। आहाहा! समझ में आया? तो फिर यह शरीर और वाणी, मन और धूल धमाका व्यापार और धन्धा, वह सब हमारी पैढ़ी पर बैठें तो बराबर सम्हालें ग्राहक को। मोहनलालजी! तुमने तो छोड़ दिया अब यह सब। मूँगफल के तेल का बड़ा धन्धा था न! बड़ा धन्धा था। छोड़ दिया, पैसे हुए इसलिए। यहाँ कहते हैं... आहाहा! बापू! धन्धा कौन करे? भाई! तुझे खबर नहीं। यह शरीर की क्रिया कौन करे? यह तो जड़ करे। तो फिर पैसा देना-लेना और माल लेना-देना,यह करे कौन? वह तो जड़ की क्रिया, पर की क्रिया, प्रभु! तुझे खबर नहीं। आहाहा! ऐई... हसमुखभाई! आहाहा! टाईल्स में वह डाले न? क्या कहलाता है तुम्हारे? छींटे। क्या कहलाता है वह वस्तु होती है या नहीं?

मुमुक्षु : संगमरमर।

पूज्य गुरुदेवश्री : संगमरमर अलग-अलग, नहीं? कोई कहत है। अपने वहाँ देखा है। जामनगर में देखा है न! वह वढवाणवाला है न एक तुम्हारा बड़ा लड़का? वहाँ दूध पीने गये थे। वहाँ अलग-अलग टाईल्स देखी थी। पत्थर पड़े थे। उसमें ऐसे छींटे... यह गृहस्थ है वढवाणवाला अपना दशाश्रीमाली बनिया। वहाँ सब देखा था।

मैंने कहा, यह कुछ... भात पड़े, इसकी भात। यह आत्मा कर नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। कठिन बात, भाई! आहाहा!

भगवान! तू ज्ञानस्वरूप है। उसकी सत्ता... अपने सवेरे बहुत आया था। आत्मा अपने ध्रुव स्वरूप में और उसकी सत्ता के उत्पाद-व्यय की पर्याय के सत्ता में वह तो है। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। नयी अवस्था होना, पुरानी अवस्था जाना, नित्यरूप से रहना, ऐसा जो जीव का स्वरूप, उसकी सत्ता में जीव है। उस सत्ता को उल्लंघकर पर की सत्ता में शरीर और वाणी और मन की सत्ता में प्रवेश करे और उसकी क्रिया करे, तीन काल—तीन लोक में यह बात सब झूठी है। समझ में आया? क्या होगा? ऐई! हिम्मतलाल! यह सब धन्धा-पानी करते हैं न वहाँ! किसका, कपड़े का है? कपड़ा है? ठीक। यह तेरा काका बैठा है न पीछे। आहाहा!

यह कहते हैं कि कपड़े का थान ऐसे फिराना या रखना वह आत्मा की क्रिया नहीं है। इलायची का बारदान। मुम्बई में देखे न बड़े गोदाम। इलायची के गोदाम भरे हुए हैं। सब देखा है। केसर देने (लेने) गये थे, लेने गये थे। (संवत्) १९६९ में अन्तिम बार गये थे। ६९। (संवत्) १९७० में दीक्षा हुई। ६१ वर्ष हुए। वे ऐसे देखे तो ऐसे २५-२५। एक बोरी, दो बोरी, तीन बोरी। मजदूर इस प्रकार से करे। नटुभाई! एक बोरी यहाँ रखे और फिर उसमें पैर रखकर दो बोरी वहाँ रखे, इसकी ऊपर तीन बोरी, चार बोरी ५०-५० बोरी के बड़े गोदाम। इलायची के, केसर के डिब्बे के। सब देखे हैं न! मुम्बई बहुत बार गये हैं। धूल में भी कुछ नहीं कर सकता। वह तो सब जड़ की क्रियायें हैं। आहाहा! मूढ़ जीव जिसे अपना मानता है, उसे मैं कर सकता हूँ, वह अपना मानता है, इसलिए कर सकता हूँ, (ऐसा मानता है)।

कहते हैं, जिसे ऐसा अज्ञान अनादि का है। उसे यदि सुखी होना हो अर्थात् धर्म करना हो। धर्म करना अर्थात् सुखी होना। धर्म अर्थात् कोई ऐसा नहीं कि क्रिया करके सुख न हो। आत्मा के आनन्दस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता करे, वह धर्म। और वह धर्म-आनन्द का अनुभव हो। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव, उसे धर्म कहते हैं, सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकीनाथ। यह तो बाहर की क्रिया करके धर्म हो गया।

कुछ व्रत पालन किये, दया, दान और पूजा की, धर्म (हो गया), धूल भी नहीं। समझ में आया? धूल नहीं अर्थात्? अच्छा पुण्य भी नहीं, ऐसा कहते हैं। तेरा पुण्य तो आत्मा का ज्ञानानन्द स्वरूप है। आहाहा! तू एक राग की क्रिया के कण को भी नहीं कर सकता। मैं तो जाननेवाला हूँ। पूरा जगत ज्ञेय है, मैं ज्ञान हूँ, जगत दृश्य है, मैं दृष्टा हूँ। समझ में आया? ऐसे जब पर के कर्तापने का अभिमान और पर मेरा का अज्ञान छोड़े, (तब धर्म होता है)। यह आया, देखो!

१५वीं है न? ३१ पृष्ठ। **'आत्मा ही मेरा है'...** आहाहा! शरीर, वाणी, मन की क्रिया जड़ की है, कर्म जड़ अन्दर हैं, वह जड़ का अस्तित्व है। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, बँगला, मकान वे सब परपदार्थ हैं, वह मैं नहीं, वह मुझमें नहीं, मैं उनमें नहीं। वह मुझमें नहीं, मैं उसमें नहीं। आहाहा! मैं जो हूँ, वह तो ज्ञान और आनन्द का स्वरूप मेरा है। ऐसा जब आत्मज्ञान और आत्मदृष्टि करे। है? देखो! **इस प्रकार आत्मा में ही आत्मबुद्धिरूप ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन करके,... .... ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन करके,...** सूक्ष्म बात, भगवान! यह ज्ञायकस्वरूप चैतन्यज्योत है, ज्ञान का पुंज है, चैतन्यबिम्ब है। ऐसा जाननस्वभाव का स्वरूप इसका है। इस जाननस्वभाव को पकड़कर और यह मैं हूँ, ऐसा अनुभव करे, तब इसे सम्यग्दर्शनरूपी धर्म होता है। आहाहा! यह कहीं से लाया था। यह हमारे वजुभाई कहते हैं। ऐई! वजुभाई! कहते थे न तुम? कि यह लड़का कहीं से अपने मण्डल में से मरकर आया लगता है। क्या है यह? अपने वजुभाई हैं न इंजीनियर। उनका ... है, बहुत लाखोंपति। यह उसके बापू बैठे। बड़े बापू। हुण्डी का व्यापार है।

एक बार मैंने पूछा था। भाई! .... अपने विवाह नहीं करना मेरे। फिर उसका पिता करे वह सही। विवाह नहीं तो क्या करोगे तब? फिर उसके दो भाई हैं। कहाँ गया वह? ऐई! अश्विन! अश्विन बैठा है। दो भाई हैं। मैंने उसे पूछा था। भाई विवाह नहीं करे, शादी नहीं करे, कहा। ऐसे संस्कार लगते हैं। हम पैसे देंगे दुकान में से। भाई यहाँ रहेगा। हम कमायेंगे और देंगे। फिर एक बार दूसरी बार पूछा तब कहे, कमाने की हमारे आवश्यकता नहीं है। हमारे पास बहुत पैसा है बापूजी के पास। आहाहा!

अरे... भगवान! बापू! आत्मा कौन है? भाई! तुझे खबर नहीं। यह पैसा जड़ की चीज़, और कमाना कमाना और देना, पर को, वह चीज़ वस्तु—आत्मा में नहीं है, भाई! आहाहा! अरेरे! इसे खबर नहीं। मेरी जाति में क्या जाति है? और यह रागादि कुजात है और शरीरादि तो अजीव जाति है। यह तो समझ में आये ऐसा है नहीं? तुम्हारी सादी भाषा की बात है। मेरी जाति तो सच्चिदानन्द ज्ञानानन्दस्वरूप मैं हूँ। और रागादि विकार पुण्य-पाप के दया, दान के भाव, वह भी विकार और कुजात है। वह मेरी जाति के नहीं। क्योंकि जिससे बन्धन पड़े पुण्य का, वह मेरी जाति नहीं। और पाप के भाव हों अन्दर हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना, काम, क्रोध, मान, अपमान, वह मैं नहीं। वह तो जहर का प्याला राग का है। आहाहा! बापू! धर्म सूक्ष्म बात है, भगवान! लोगों ने धर्म मनवास लिया है बाहर में। यह मन्दिर बनाना, पूजा-भक्ति करना, वह धर्म है। भाई! ऐसा नहीं है। ऐसा तो अनन्त बार किया है। परन्तु मैं एक चैतन्यमूर्ति देह और राग के परिणाम से मेरी चीज़ अन्दर भिन्न है। उसके भान बिना उसने चौरासी के अवतार (करने में) कोई क्षेत्र बाकी नहीं रखा, जहाँ अनन्त बार जन्मा और अनन्त बार मरा न हो। आहाहा! यह चौदह ब्रह्माण्ड के क्षेत्र में इसने आत्मा के ज्ञान बिना, स्वरूप के अनुभव बिना अर्थात् सम्यग्दर्शन बिना। सम्यग्दर्शन ऐसा नहीं कि देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा की, वह समकित। ऐसा नहीं है। तथा नव तत्त्व की श्रद्धा करें भेदवाली तो वह समकित, ऐसा नहीं है। आहाहा! देखो! यह कहा न?

ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन... आहाहा! मैं एक त्रिकाल चैतन्यमूर्ति ध्रुवस्वरूप हूँ, अविनाशी हूँ, अनुत्पन्न हूँ, अविनाशी हूँ, उत्पन्न नहीं, नाश नहीं और मेरे स्वभाव से भरपूर आत्मा हूँ। आहाहा! समझ में आया? यह समझ में आया—यह विश्राम का वाक्य है। इसकी बहुत छाप पड़ गयी है बाहर। एक लड़का कहता था। छोटा था। बापू! यह समझ में आया? समझ में आया? (कहनेवाले) महाराज कब आयेंगे? बहुत बार आता है न? समझ में आया? यह तो विश्राम का वाक्य है। और बात भी सच्ची। सच्ची समझण के बिना विश्राम मिले, ऐसा नहीं है। खोटी समझण में तो यह थकान लगकर दु:खी हुआ है। पोपटभाई! आहाहा! बड़े को निवृत्ति लेनी और छोटे को काम करना, ऐसा होगा? छोटे-बड़े किसे कहना? भगवान! कब शरीर छूट जायेगा?

आहाहा! कैसा अभी तो सुनते हैं। २५-२५ वर्ष के, ४० वर्ष के। कुछ हो गया तो ऐसा हो गया। यह क्या कहलाता है तुम्हारे हार्ट का? आहाहा! अभी नहीं? राजकोट की बात करते थे भाई, नहीं? लालभाई के साढू। लालचन्दभाई के नहीं?

मुमुक्षु : उनके पुत्र के साढू।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुत्र के साढू। छोटी उम्र में ऐसे पत्नी-पति बात करते थे। कुछ रोग नहीं। स्त्री तो शोर, शोर और शोर (करे)। पड़ोसी आये। क्या है? कुछ नहीं। एक क्षण में देह छूटने में देरी नहीं लगती। भगवान! यह तो परचीज़ है। यह तेरी रखी रहे नहीं और तेरी सम्हाल करने से रहे, ऐसा है नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि भगवान! एक बार ऐसा तो कर अब। ऐसा मनुष्यभव मिला... आहाहा! यह धूल और राग वह तेरी चीज़ नहीं। एक मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, चैतन्यबिम्ब हूँ। आहाहा! ऐसे ज्ञायकस्वरूप का अवलम्बन करके। है? सिद्धान्त सूक्ष्म है परन्तु वस्तु तो सत्य यह है। आहाहा! अभी तो बाहर में धमाल में धर्म मनवा दिया है। आहाहा! अनन्त बार ऐसा तो किया है। परन्तु यह राग की क्रिया और देह की क्रिया से पार चैतन्य ज्योति है, ज्ञानस्वभावी आनन्द की मूर्ति प्रभु है, उसका अवलम्बन लेकर **अन्तरात्मा होने के लिये...** है? **आचार्यदेव ने अज्ञानी जीव के लिये उपदेश किया है।** समझ में आया?

इस समाधिशतक के कर्ता पूज्यपादस्वामी मुनि हैं। दिगम्बर मुनि सन्त जंगल में रहते थे। जैनदर्शन में साधु तो जंगल में रहते (ही हैं)। एकदम नग्न। वस्त्र का धागा भी नहीं और आनन्द की दशा में झूलते थे। उसमें कोई विकल्प आया तो यह शास्त्र रच गया है। समझ में आया? यह पूज्यपादस्वामी अर्थात् जिनके पाद अर्थात् पैर इन्द्र, देव पूजते थे, वे पूज्यपादस्वामी। ३०० वर्ष, संवत् के बाद ३०० वर्ष लगभग हुए। आहाहा!

कहते हैं, आचार्य ने क्या कहा? भाई! तू शरीर, वाणी, मन और राग में तू है, वह छोड़ दे न, प्रभु! उसमें तू नहीं। जहाँ तू है, वहाँ वह नहीं। राग की क्रिया में वह आत्मा नहीं। आहाहा! भारी कठिन काम! और आत्मा में वह राग की क्रिया नहीं। आहाहा! भाई! तू जहाँ है, वह आनन्द और ज्ञान में है। उसमें उस राग की क्रिया का अभाव है। ऐसा आत्मा के ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन लेकर अन्तरात्मा हो। आहाहा! बहिरात्मपना

छोड़ दे। बहिर् अर्थात् यह। राग, वह मैं, शरीर वह मैं, उसकी क्रिया वह मैं। इस आत्मा में जो नहीं, ऐसी बाह्य चीज़ को अपनी मानना, इसका नाम बहिरात्मा। इसका नाम मूढ़ आत्मा। आहाहा! बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा, यह तीन दशा। उसमें यह बहिरात्मा अर्थात् यह।

भगवान आत्मा अन्दर आनन्द का कन्द प्रभु, उसमें जो राग नहीं, शरीर नहीं, वाणी नहीं, कर्म नहीं, स्त्री-पुत्र उसमें नहीं, तथापि उन्हें मेरा मानना, इसका नाम बहिरात्मा, भटकनेवाला आत्मा, चौरासी के अवतार में अवतार करनेवाला आत्मा। समझ में आया? आहाहा! अब कहते हैं, भाई! यह बहिरात्मपना छोड़ दे न! तुझे सुखी होना हो, धर्मी होना हो, जन्म-मरण के दुःख से छूटना हो... आहाहा! तो प्रभु चैतन्य की खान आत्मा है, उसका अवलम्बन ले न! आहाहा! कठिन काम! उसका अवलम्बन लेकर अन्तरात्मा होने के लिये **आचार्यदेव ने अज्ञानी जीव के लिये उपदेश किया है।** समझ में आया?

श्लोक - १६

अन्तरात्मा आत्मन्यात्मबुद्धिं कुर्वाणोऽलब्धलाभात्संतुष्ट आत्मीयां बहिरात्मावस्था-मनुस्मृत्य विषादं कुर्वन्नाह -

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो (यतितो) विषयेष्वहम्।
तान् प्रपद्याऽहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः॥ १६॥

मत्तः आत्मस्वरूपात्। च्युत्वा व्यावृत्य। अहं पतितः (यतितः) अत्यासक्तया प्रवृत्तः। क्व? विषयेषु। कैः कृत्व? इन्द्रियद्वारैः इन्द्रियमुखैः। ततस्तान् विषयान् प्रपद्य ममोपकारका एते इत्यतिगृह्यानुसृत्य। मां आत्मानं। न वेद न ज्ञातवान्। कथ? अहमित्युल्लेखेन अहमेवाहं न शरीरादिकमित्येवं तत्त्वतो न ज्ञातवानित्यर्थः। कदा? पुरा पूर्वं अनादिकाले॥१६॥

अन्तरात्मा, आत्मा में अहंबुद्धि करता हुआ अलब्ध (पूर्व में नहीं प्राप्त, ऐसे) लाभ से सन्तोष पाकर अपनी बहिरात्मदशा का स्मरण करके, विषाद (खेद) करता है। वह कहते हैं —

इन्द्रिय-विषय विमुग्ध हो, उनको हितकर जान।
'मैं आत्मा हूँ' नहीं लखा, भूल गया निज-भान॥ १६॥

अन्वयार्थ - (अहं) मैं (पुरा) अनादि काल से (मत्तः) आत्मस्वरूप से (च्युत्वा) च्युत होकर (इन्द्रिय द्वारैः) इन्द्रियों द्वारा (विषयेषु) विषयों में (पतितः) पतित हुआ, (ततः) इससे (तान्) उन विषयों को (प्रपद्य) प्राप्त करके, (तत्त्वतः) वास्तव में (मां) मुझे स्वयं को (अहं इति न वेद) मैं वही हूँ-आत्मा हूँ — ऐसा मैंने पहिचाना नहीं।

टीका - अपने से अर्थात् आत्मस्वरूप से च्युत होकर-पीछे हटकर, मैं पतित हुआ अर्थात् अति आसक्ति से प्रवर्ता। कहाँ (प्रवर्ता)? विषयों में। किसके द्वारा? इन्द्रियोंरूप द्वारों से-इन्द्रिय-मुख से। फिर उन विषयों को प्राप्त करके, वे मेरे उपकारक हैं—ऐसा समझकर, उन्हें अतिपने ग्रहणकर-अनुसरण कर, मैंने स्वयं के आत्मा को देखा नहीं, जाना नहीं। किस प्रकार से (नहीं जाना)? 'मैं'—ऐसे उल्लेख से मैं ही स्वयं (आत्मा) हूँ; शरीरादिरूप नहीं—इस प्रकार तत्त्वतः (वास्तव में) मैंने जाना नहीं—ऐसा अर्थ है। कब? पूर्व में-अनादि काल से।

भावार्थ - अन्तरात्मा विचार करता है कि मैं अनादि काल से आत्मस्वरूप को चूककर, इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहा, उनमें आत्मबुद्धि करके मैंने निजात्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना।

जब तक जीव को अपने वास्तविक चैतन्यस्वरूप का परिज्ञान नहीं होता, तब तक वह अपने स्वरूप से च्युत होकर, बाह्यइन्द्रियों के विषयों को अपने को सुखदायक-उपकारक समझकर, उनमें अति आसक्त रहता है-उनमें आत्मबुद्धि करता है किन्तु जब उसे चैतन्य और पर जड़पदार्थों का-इन्द्रियों के विषयों का भेदविज्ञान होता है और अपने में निराकुल चिदानन्द सुधारस का स्वाद आता है, तब उसको बाह्यइन्द्रियों के विषयों आदि पदार्थ इष्ट -अनिष्ट नहीं लगते; वे उसे मात्र ज्ञेयरूप भासित होते हैं।

इस कारण अन्तरात्मा पहले-बहिरात्मदशा में विषय-भोगों को सुखरूप मानकर सेवन करता था, वह अब भोगे हुए विषयों के विषय में विचार करने लगता है कि 'अरे! अज्ञानता से इन्द्रियों के विषयों में फँसकर, मैंने अपने चैतन्यस्वरूप को देखा नहीं॥१६॥

श्लोक - १६ पर प्रवचन

अब **अन्तरात्मा, आत्मा में अहंबुद्धि करता हुआ...** भगवान आत्मा मैं चैतन्य के स्वभाव की अस्तिवाला प्रभु हूँ। ऐसा अन्तरात्मा वस्तु जो अन्तर है, उसे ही आत्मा अनुभव करता हुआ। आहाहा! यह धर्म। ऐसा धर्म। **अलब्ध (पूर्व में नहीं प्राप्त, ऐसे) लाभ से सन्तोष पाकर...** क्या कहते हैं? भगवान आत्मा चैतन्य ज्ञायकस्वरूप, आनन्दस्वरूप, ऐसा अनुभव करके अनन्त काल में जिसने सुख का सन्तोष... सन्तोष अर्थात् यह। अन्दर शान्ति का अनुभव। आनन्द का सन्तोष का अनुभव कभी अनन्त काल में था नहीं। धर्मीजीव को ऐसा अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द का सन्तोष और स्वाद आता है। आहाहा! कैसी बात आयी! कितने ही कहते हैं, यह तो सब निश्चय की बातें और ऊँचे की बातें। परन्तु सुन तो सही अब। निश्चय सच्चा, वही सच्चा है। सब तेरे व्यवहार-फ्यवहार के पोटले खोटे हैं। आहाहा! कठिन लगे नये व्यक्ति को।

प्रभु अन्दर सत्... सत... है। ज्ञान और आनन्द का सागर ऐसा है। अनादि-अनन्त ऐसा यह है। ऐसे स्वभाव का अवलम्बन लेकर, पर मेरे और मैं उनका, ऐसे भाव को छोड़कर अनन्त काल में अलब्ध। आहाहा! आत्मा आनन्द और अतीन्द्रिय शान्तस्वरूप है। उसे सम्यग्दर्शन द्वारा अन्तरात्मा को अवलम्बकर, अलब्ध—अनन्त काल में नहीं हुआ ऐसा आनन्द का सन्तोष आता है। अतीन्द्रिय आनन्द का मजा-लहर आता है अन्दर में से। उसे परमात्मा धर्म कहते हैं। उसे परमात्मा सम्यग्दृष्टि और अन्तरात्मा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? यह तो मुम्बई में तो कहीं ऐसा सब सूक्ष्म (चलता नहीं)। आवे वहाँ तो दस-दस हजार लोगों में अब ऐसी सब लगायें तो... स्थूल बातें करनी पड़े। आहाहा!

अभी जाना है न यहाँ, भोपाल। माघ कृष्ण तीज का मुहूर्त है। लाख लोग आनेवाले है, ऐसा कहते हैं। पचास हजार तो होनेवाले ही हैं। यह माघ कृष्ण तीन का मुहूर्त। पचास हजार लोग इकट्ठे होनेवाले हैं। मन्दिर की प्रतिष्ठा है और वे लोग प्रार्थना करने आये। अरे! प्रभु! मार्ग तो दूसरा, भाई! आहाहा! यह मन्दिर और यह भक्ति हो,

परन्तु यह सब शुभभाव है; धर्म नहीं। आहाहा! धर्म अर्थात् आत्मा के आनन्द के स्वभाव का स्वाद आना। आहाहा! इसलिए अन्तर ज्ञानस्वरूपी प्रभु के सन्तोष की जरा शान्ति आना। आहाहा! त्रिकाल स्वरूप के आश्रय से-अवलम्बन से शान्ति आती है। वह कहीं दया, दान के विकल्प के आश्रय से शान्ति नहीं आती। समझ में आया? ऐसा मार्ग कहीं भगवान ने कहा होगा? यह क्या कहते हैं? आहाहा! बापू! तूने सुना नहीं, भाई! तेरे धर्म की कला की रीति तूने जानी नहीं। समझ में आया?

कहते हैं, **अन्तरात्मा, आत्मा में अहंबुद्धि करता हुआ...** आत्मबुद्धि करता, ऐसा कहा है न? वह करे। मैं शुद्ध चैतन्य हूँ, ज्ञानस्वभावी वस्तु हूँ। ऐसे अन्तरात्मा को **अहंबुद्धि करता हुआ अलब्ध (पूर्व में नहीं प्राप्त, ऐसे) लाभ से सन्तोष...** देखो! यह बनिया को लाभ सवाया नहीं लिखते दरवाजे पर? वह धूल का भी लाभ नहीं वहाँ अब। वहाँ कहाँ लाभ था? आहाहा! मोहनलालजी! दरवाजे में लिखते हैं न? लाभ सवाया। लाभ... बापू! लाभ वह नहीं, भगवान! तुझे खबर नहीं। लाभ तो चैतन्यस्वभाव आनन्द का नाथ, उसे अवलम्ब कर जो आनन्द आवे, उसे लाभ कहते हैं। अनुभाई! वहाँ कहाँ अन्दर... आहाहा! मेरा... मेरा...। एक दूसरा वह कमाता हो पचास हजार तो कहे अपने साठ हजार कमायें तो बड़े कहलायें। तीसरा कहे, लाख लावें। परन्तु धूल भी नहीं वहाँ, सुन न! आहाहा! यह लाभ नहीं, यह नुकसान है वहाँ। आहाहा!

सन्तोष पाकर... कुछ इच्छा आदि मेरी चीज़ ही नहीं न। आहाहा! इच्छा के अभावस्वभावस्वरूप मैं आत्मा हूँ। ऐसे आत्मा की दृष्टि करते हुए उसे आत्मा में आनन्द का अनन्त काल में लाभ नहीं हुआ, ऐसा लाभ होगा। तब वह समकित दृष्टि और तब धर्मी कहलाता है। समझ में आया?

अपनी बहिरात्मदशा का स्मरण करके, विषाद (खेद) करता है। वह कहते हैं— अरेरे! मैंने अभी तक क्या किया? मैं मेरी जाति को भूलकर मैंने यह क्या किया? ऐसा खेद करता है। यह गाथा लेते हैं। १६ है न? १६।

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो (यतितो) विषयेष्वहम्।
तान् प्रपद्याऽहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः॥ १६॥

इसका अन्वयार्थ। धर्मात्मा आनन्द और ज्ञानस्वभावी आत्मा का अवलम्बन लेकर जो आनन्द का लाभ अलब्ध—नहीं मिला हुआ मिला, वह ऐसा विचारता है **मैं अनादि काल से आत्मस्वरूप से च्युत होकर...** है ? अरे ! मैं हट गया मेरे स्वरूप से अनादि काल से। मेरी जाति को मैंने नहीं जाना। ऐसा अरमान करता है भूतकाल का। आहाहा ! **मैं अनादि काल से आत्मस्वरूप से... 'मत्त मत्त'** है न ? अपना स्वरूप। इससे **च्युत होकर इन्द्रियों द्वारा विषयों में पतित हुआ,...** आहाहा ! यह पर इन्द्रियाँ पाँच यह और अन्दर भाव इन्द्रिय खण्ड-खण्ड इन्द्रिय एक-एक विषय को जाने, ऐसा ज्ञान का भाव, ऐसा **इन्द्रियों द्वारा विषयों में...** परविषय में पतित हो गया। आहाहा ! मैंने मेरे आत्मा का विषय नहीं बनाया अनादि काल में। यह इन्द्रियों द्वारा परपदार्थ को विषय बनाकर मैं मेरे स्वरूप से पतित हो गया। हसमुखभाई ! ऐसी बात है। आहाहा ! गजब। आहाहा !

इन पूज्यपादस्वामी का यह समाधितन्त्र है। **मैं अनादि काल से आत्मस्वरूप... 'मत्त'** अर्थात् मुझसे **च्युत होकर इन्द्रियों द्वारा...** पाँच इन्द्रियाँ यह और भाव इन्द्रियाँ अन्दर। भाव इन्द्रियाँ अर्थात् एक-एक इन्द्रिय का ज्ञान एक-एक विषय को जाने ऐसी। उन **द्वारा विषयों में पतित हुआ,...** बाहर के विषय में मैं स्वरूप में से हटकर पतित हो गया। **इससे उन विषयों को प्राप्त करके, वास्तव में मुझे स्वयं को... 'अहं अति न वेद' मैं वही हूँ-आत्मा हूँ—ऐसा मैंने पहिचाना नहीं। 'अहं अति न वेद'** पाँच इन्द्रियाँ द्वारा परपदार्थ में मस्त होकर। आहाहा ! इन्द्रियातीत प्रभु चैतन्य अणीन्द्रिय स्वरूप, उसे मैंने पहिचाना नहीं। जिसे पहिचानना था, उसे पहिचाना नहीं। जगत की सब चतुराई की। एल.एल.बी. और एम.ए. के बड़े पूंछड़े लगाये। पाँच-पाँच हजार का वेतन, दस-दस हजार का वेतन मासिक, इसलिए मानो हम बड़े हो गये। अरे ! मैंने नहीं वेदन किया। आहाहा !

'अहं अति न वेद' मैं कौन हूँ, इसका मैंने ज्ञान नहीं किया। **मैं वही हूँ-आत्मा हूँ—ऐसा मैंने पहिचाना नहीं।** यह बात रह गयी इसे। दूसरा सब किया। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, गुण स्मरण, भगवान का नाम स्मरण, यह सब विकल्प और राग है। आहाहा ! मैं यह पाँच इन्द्रिय के परसन्मुख के झुकाव में रुकता था, (इसलिए) मैंने मेरी चीज़ को जाना नहीं।

इन्द्रियों से तो परपदार्थ ज्ञात होते हैं। इन्द्रिय से स्वपदार्थ ज्ञात होता है ? समझ में आया ? अलिंगग्रहण में आता है। इन्द्रियों द्वारा आत्मा जानता नहीं। इन्द्रियों द्वारा जाने वह आत्मा नहीं। आहाहा! गजब बात है। २० बोल हैं। यह पाँच इन्द्रिय द्वारा पर को जानता है, वह स्व को जानता नहीं और इन्द्रिय द्वारा पर को जानता नहीं और इन्द्रिय द्वारा स्वयं ज्ञात हो ऐसा नहीं। समझ में आया ? आहाहा! यह पाँच यह जड़ और अन्दर भाव इन्द्रिय, उन द्वारा आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है।

अणीन्द्रिय परमात्मा स्वयं भगवानस्वरूप आत्मा है, उसे कैसे जँचे ? अन्दर भगवान स्वरूप ही है उसका। यदि उसका स्वरूप भगवान स्वरूप न हो तो पर्याय में भगवान होकर आयेगा कहाँ से ? बराबर ? नटुभाई! पीपर का दृष्टान्त देते हैं। पीपर नहीं ? अपने लींडीपीपर। छोटी पीपर। वह पीपर होती है छोटी पीपर...

मागसर कृष्ण ५, गुरुवार, दिनांक ०२-१-१९७५, श्लोक-१६-१७, प्रवचन-२३

समाधितन्त्र। १६वीं गाथा की टीका। आत्मा शुद्ध चैतन्य पूर्ण आनन्दस्वरूप होने पर भी उसके अजानपने में मैंने कैसे काल व्यतीत किया, यह बात विचारता है। भान हुआ तब विचारता है। अरे! मैंने मेरे आत्मा को पर के प्रेम में फँसाकर मैं मेरी चीज़ को पहिचान नहीं सका। यह कहते हैं, देखो!

टीका - अपने से अर्थात् आत्मस्वरूप से च्युत होकर-.. आनन्द और ज्ञानस्वरूप, शुद्धस्वरूप ऐसा होने पर भी, उससे भ्रष्ट होकर अर्थात् स्वरूप शुद्ध चैतन्य है, उससे विमुख होकर। आहाहा! **मैं पतित हुआ अर्थात् अति आसक्ति से...** राग और द्वेष और परपदार्थ में मैं प्रवर्ता। समझ में आया? गये तुम्हारे? भावनगर। यह पुस्तक है वहाँ तुम्हारे? कनुभाई? वहाँ? नहीं पढ़ा। ठीक। एक पुस्तक है न? नहीं ले गये? ले गये होंगे। मुम्बई में ऐसो कम्पनी है न, उसमें नौकरी है। आठ हजार वेतन है। मासिक आठ हजार। फिर बचे कितना वह अलग बात है परन्तु... यह रामजीभाई कहे, बचे कितना? अमेरिका में जाये तो दस-दस हजार वेतन। परन्तु वेतन में बढ़े कितना? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि अरे! मैंने मेरी चीज़ शुद्ध स्वरूप, आनन्दस्वरूप विराजमान होने पर भी मैंने उससे च्युत होकर... आहाहा! विमुख होकर। वहाँ न जाकर उसमें से विमुख हटकर, वहाँ से हटकर। आहाहा! **मैं पतित हुआ...** स्वरूप के शुद्ध स्वरूप से च्युत हो गया। आहाहा! बहुत सादी भाषा प्रयोग की है। **अर्थात् अति आसक्ति से प्रवर्ता। कहाँ (प्रवर्ता)?** कहाँ से हटा और कहाँ प्रवर्ता? स्वरूप शुद्ध आनन्द में से हट गया, मैं अनन्त काल। जहाँ मेरा चैतन्यधाम शुद्ध आनन्दकन्द है, उसमें से हट गया। और (मैं) पर में आसक्ति से प्रवर्ता। वह कौन? **विषयों में।** पाँच इन्द्रिय के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श। उनमें मेरी आसक्ति गयी। आहाहा!

किसके द्वारा? इन्द्रियोंरूप द्वारों से... भगवान आत्मा अपने अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप की स्थिति से पतित हुआ, विमुख हुआ, इन इन्द्रियों के विषयों—शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श। वह तो यह लिया। **'जो इंदिये जिणित्ता'** इस शैली को विस्तृत किया

है। उसे यहाँ विस्तार किया है। आहाहा! विषयों में इन्द्रियों द्वारा—इन पाँच इन्द्रियों द्वारा बाह्य, इन्द्रिय मुख से। पहले में आया था। इन्द्रियों द्वारा गाथा में आया था। फिर टीका में मुख से कहा था। पहले आया था। पहले आया था। अणीन्द्रिय मेरी चीज़, जो इन्द्रिय से ज्ञात नहीं होती। पुण्य के, पाप के विकल्प से भी ज्ञात नहीं होती, ऐसी मेरी चीज़ है। परन्तु उस चीज़ से अनादि से च्युत हो गया हूँ। आहाहा! और ऐसे प्रवर्ता। यहाँ से हटा और ऐसे प्रवर्ता... पाँच इन्द्रियों के विषय में। विषय शब्द से अकेला स्त्री का विषय ऐसा यहाँ नहीं। कान का विषय श्रवण का, आँख का विषय रूप का, जीभ का विषय रस का, स्पर्श का, यह सब पाँचों इन्द्रियों के विषयों की ओर मेरा झुकाव हो गया। आहाहा!

फिर उन विषयों को प्राप्त करके, वे मेरे उपकारक हैं... आहाहा! शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, ऐसी चीज़ों को प्राप्त करके अणीन्द्रिय चीज़ से हटकर, इन्द्रिय के विषय प्राप्त करके, वह मेरे उपकारी हैं, मुझे मददगार हैं, मुझे सहायक हैं, मेरे प्रेम के वे प्रसंगवाले जीव हैं। आहाहा! यह शरीर, वह भी प्रेम के प्रसंग में मूढ़ मिथ्यादृष्टि उसमें रुक गया है। आहाहा! और बाह्य के विषय में मेरे **उपकारक हैं—ऐसा समझकर, उन्हें अतिपने ग्रहणकर-...** अर्थात् कि उसे **अनुसरण कर, मैंने स्वयं के आत्मा को देखा नहीं, जाना नहीं।** आहा! स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, पैसा, मकान आदि पाँच इन्द्रिय के विषय के झुकाव में से मैंने मेरी चीज़ को नहीं जाना। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं, **पहिचाना नहीं...** मैंने मेरी चीज़ जो सच्चिदानन्दस्वरूप है, जो ज्ञान और आनन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा है, उसे मैंने पहिचाना नहीं। **जाना नहीं। किस प्रकार से (नहीं जाना)? 'मैं'—ऐसे उल्लेख से मैं ही स्वयं (आत्मा) हूँ;...** क्या कहते हैं? मैं ऐसा जहाँ से आवाज-विकल्प उठती है, वह चीज़ आनन्द का नाथ प्रभु है। आहाहा! मैं, यह मैं। यह चैतन्यधाम, यह चैतन्यस्थल, यह आनन्दस्थल की सत्ता में से मैं, ऐसा उठता है, कहते हैं। आहाहा! **मैं ही स्वयं (आत्मा) हूँ;...** मैं—जाननेवाला, देखनेवाला, आनन्दस्वरूप, वह मैं स्वयं हूँ, ऐसा नहीं पहिचाना। आहाहा! यह तो सादी भाषा है। सवेरे जरा सूक्ष्म है थोड़ा। थोड़ा हो। कहाँ तक सूक्ष्म रखना? रामजीभाई तो ऐसा कहते हैं। कहाँ तक सूक्ष्म रखना। आहाहा! यह नये लोग आवे, उन्हें बैठे नहीं एकदम।

आहाहा! यह क्या बात करना उसे। धर्म की पर्याय उत्पन्न करना, वह पर्याय क्या होगी? धर्मी वस्तु आनन्दकन्द का धाम, वह क्या होगा? उसकी परमसत्ता आनन्दस्वरूप और ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का अस्तित्व है। आहाहा! वह मैं। ऐसा न होकर वहाँ से हट गया हूँ। आहाहा!

शरीरादिरूप नहीं... क्या कहा? मैं जो ऐसी आवाज आती है—विकल्प, उसके पीछे चैतन्यमूर्ति वह मैं हूँ। उसमें से हटकर मैं शरीरादि नहीं, ऐसा मैंने अनुभव-निर्णय नहीं किया। शरीर नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, यह इन्द्रियों से दिखते पदार्थ, उनका जो अस्तित्व, वह मैं नहीं। आहाहा! मैं ऐसा अणीन्द्रिय से अणीन्द्रिय वस्तु का अस्तित्व जो है, उसे मैंने नहीं जाना। और जो शरीरादि मेरे नहीं, वाणी नहीं, राग नहीं, देह नहीं। आहाहा! उनसे मैं नहीं। जिन्हें उपकारक माना था कि यह सब स्त्री, कुटुम्ब, परिवार सब मेरे पुत्र परिवार ठीक से मुझे उपकारक हैं। क्योंकि वृद्धावस्था हो तो हमने इन्हें बड़ा किया है, यह हमें रखेंगे। सुमनभाई! तुम तो यहाँ रहते नहीं। कहते हैं कि जो चीज़ें आत्मा से भिन्न है, वे उपकारक नहीं हैं, तथापि उन्हें उपकारक माना है। आहा! यह उसकी भूल है, कहते हैं। आहाहा!

इस प्रकार तत्त्वतः (वास्तव में) मैंने जाना नहीं... मैं—ज्ञानानन्द अस्तित्व तत्त्व, वह मैं और विकल्प से लेकर शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब कोई मैं नहीं। ऐसा मैंने अनन्त काल में एक सेकेण्ड भी जाना नहीं। समझ में आया? आहाहा! ऐसा **तत्त्वतः मैंने जाना नहीं...** ऐसे तो शास्त्र पढ़ा, उसमें सब आया था। परन्तु परमार्थ से भगवान आत्मा ज्ञानपुंज प्रभु है, आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द का पुंज है। प्रभु आत्मा तो अनन्त शक्तियों के प्रभुत्व का पुंज है, परमेश्वर है। आहाहा! भगवान आत्मा अनन्त शक्ति के ईश्वर से भरपूर ईश्वरता से ईश्वर है। स्वयं ईश्वर है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसे ईश्वरस्वरूप भगवान आत्मा के ऊपर नजर नहीं की। वह मैं, ऐसा मैंने नहीं जाना, वह मैं, ऐसा मैंने नहीं पहिचाना, वह मैं उसे मैंने नहीं माना। आहाहा! और शरीरादि मैं नहीं, ऐसा तत्त्वः परमार्थ से। परमार्थ से मैंने नहीं जाना, ऐसा कहते हैं। धारणा में तो इसने बात ली थी। आहाहा! चैतन्य ज्ञायकस्वभाव में जाकर 'यह मैं' और रागादि, शरीर मैं नहीं, ऐसा मैंने नहीं जाना। आहाहा! **ऐसा अर्थ है। कब? पूर्व में-अनादि काल से।**

आहाहा! अनन्त-अनन्त भव और अनादि काल की स्थिति मैंने रखी, ऐसा कहते हैं। सम्यक्त्व होने के बाद ऐसा विचार करता है कि मैंने अनादि से यह किया।

भावार्थ - अन्तरात्मा विचार करता है... अन्तरात्मा अर्थात् कि मैं ज्ञान और आनन्द हूँ, ऐसी वस्तु वह अन्त: अन्त: उसे जिसने पहिचाना और अनुभव किया। आहाहा! ऐसा जो **अन्तरात्मा विचार करता है कि मैं अनादि काल से आत्मस्वरूप को चूककर, इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहा, उनमें आत्मबुद्धि करके...** यह सब मैं हूँ, ऐसा मानकर **मैंने निजात्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना।** लो! पोपटभाई! यह टाईल्स के धन्धे में रुककर मैं कौन हूँ, यह नहीं जाना। वहाँ कुछ पाँच-पचास हजार पैदा हो, लाख-दो लाख पैदा हों वहाँ... आहाहा! हमने कुछ कमाया। और यह अपने को अब सुविधारूप हुआ, पैसा, परिवार—ऐसा मानकर कहते हैं कि मैं मेरी चीज़ को भूल गया।

मुमुक्षु : पैसा होवे तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा होवे तो भी धूल। आहाहा!

मुमुक्षु : मकान लिया जाये, जमीन ली जाये, सब हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह और पैसा... होनेवाला हो, वह होता है बाहर से। लो! बहुत सादी भाषा है।

मैं अनादि काल से आत्मस्वरूप को चूककर,... मेरी जाति आनन्द और ज्ञान की है, उसे भूलकर। आहाहा! **इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहा, उनमें आत्मबुद्धि करके मैंने निजात्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना।** आहाहा!

जब तक जीव को अपने वास्तविक चैतन्यस्वरूप का... देखा! **वास्तविक चैतन्यस्वरूप...** आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के विकल्प हैं, वे कहीं चैतन्य का स्वरूप नहीं है। समझ में आया? रात्रि में तो एक कहा था। भाई थे न? कि जैसे पुण्य और पाप के भाव संयोगी हैं, वे आत्मा की चीज़ नहीं। उसी प्रकार पाँच इन्द्रिय के ओर के झुकाववाला जो ज्ञान, वह परसत्तावलम्बी कहो या परभाव कहो। रात्रि में बात हुई थी। आहाहा!

जैसे शुभ-अशुभभाव पर है, वे आत्मस्वरूप नहीं, वे चैतन्य की जाति नहीं। उसी प्रकार इन्द्रियों की ओर के झुकाव से होनेवाला जानपना, वह परसत्तावलम्बी कहा है। परसत्तावलम्बी कहो या परभाव कहो। आहाहा! यह शरीर, वाणी चीज़ तो एक संयोगी पर है। परन्तु इसकी पर्याय में जो दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के विकल्प उठते हैं, वह संयोगी चीज़ है। स्वाभाविक चीज़ नहीं। आहाहा! ऐसे जो पाँच इन्द्रिय के झुकाव में... आहाहा! शास्त्र का ज्ञान किया, ग्यारह अंग पढ़ा, नव पूर्व की लब्धि प्रगट हुई, वह भी परसत्ता, पर के अस्तित्व के अवलम्बन से प्रगट हुई है। आहाहा! बात तो बहुत.. अब उसे इसने ज्ञान माना है कि मैं ज्ञान में कुछ बढ़ा हूँ। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! परसत्तावलम्बी कहो या परभाव। वास्तव में वह वस्तु अपनी चीज़ नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द की खान-निधान है। उसे स्पर्शकर जो अन्दर में आनन्द और ज्ञान आता है, वह अपनी चीज़ कहलाती है। आहाहा! 'सांगो कहे सलवाणा, कंईक चड्या कंईक पाळा।' सांगा की एक कहावत आती है। हो गया होगा कोई। 'सांगो कहे सलवाणा, कंईक चड्या कंईक पाळा।' अर्थात् जेल में ऊँट को भरा था और साथ में लोगों को भरा था। गुनेहगाररूप से। ऊँट-ऊँट। ऊँट समझते हो? ऊँट और मनुष्य को। वह दो लोग... और दस-बीस अन्दर होंगे जेल में। तो दो और ऊँट पर बैठकर रहे। मानो कि हम ऊँचे हुए हैं। आहाहा! परन्तु यह सब जेल में है। जेल समझते हो न? 'सांगो कहे सलवाणा, कंईक चड्या कंईक पाळा।' पाळा अर्थात् नीचे रहे ऊँट और मनुष्य। और कोई ऊँट पर बैठे। बाहर तो जेल में ताला लगाया है। आहाहा!

इसी प्रकार कोई स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पुण्य और पाप के भाव को अपना मानकर जेल में पड़े हैं। कोई शास्त्र का जानपना करके माने कि मुझे ज्ञान हुआ, वह भी अन्दर में ऊँट के ऊपर बैठा हुआ जेल में है। समझ में आया? आहाहा! भगवान ज्ञान की मूर्ति प्रभु सच्चिदानन्दस्वरूप स्वयं है। आहाहा! सत् ज्ञान और आनन्द का नाथ स्वयं है। इसमें उसका स्पर्श करके जो अन्तर में ज्ञान स्वसंवेदन आना चाहिए, उसे भूल गया है। आहाहा!

वह अपने स्वरूप से च्युत होकर,... आहाहा! **जब तक जीव को अपने वास्तविक चैतन्यस्वरूप...** ऐसा यहाँ कहना है। असल स्वरूप। श्रीमद् में आया था न? 'मैं कौन

हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?' उसमें—बहु पुण्य केरा... आता है न?

बहु पुण्य पुंज प्रसंग से शुभदेह मानव का मिला,
तो भी अरे! भवचक्र का, फेरा न एक कभी टला।
लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी बढ़ गया क्या बोलिये?
परिवार और कुटुम्ब है क्या वृद्धिनय पर तोलिये?
संसार का बढ़ना अरे! नरदेह की यह हार है।
संसार का बढ़ना अरे! नरदेह...

१६ वर्ष में कहते हैं, भाई! मोहनलालजी! १६ वर्ष की उम्र श्रीमद् की। जातिस्मरण था छोटी उम्र में पूर्व का।

नरदेह की यह हार है, इसका विचार नहीं अहोहो...
इसका विचार नहीं अहोहो, एक भी पल तुमके अहो।

आहाहा! ऐसा विचार भी तूने कभी किया नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यही कहते हैं न। ऐई! आहाहा! कहो, ...भाई! बाहर के उलझन में पड़कर मर गया। मेरी चीज़ अन्दर सच्चिदानन्दस्वरूप शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का पुंज कन्द... आहाहा! उसे मैंने नहीं जाना, उसे मैंने नहीं पहिचाना। मेरी ईश्वरता की प्रभुता को मैंने प्रभुतारूप से नहीं जाना। आहाहा! और जिस चीज़ में मैं नहीं, उसे मेरा उपकारी मैंने माना। आहाहा! इन्द्रियाँ अच्छी हों तो उपकार होता है। शरीर ठीक हो। आहाहा! देखो न! संसार में तो अभी क्या कहलाता है यह...? और दवा के लिये अलमारी भरी हो। उस दवा में अनेक प्रकार की दवा होती है। अन्त में यह क्या कहलाता है? उसके टुकड़े। ...के टुकड़े। बिच्छु काटा हो तो उसके ऊपर काम आवे ऐसा सम्हाले। ... क्या करता है? आहाहा! भिन्न-भिन्न दवायें। सवेरे उठे तो यह, दोपहर में तो यह, सोते समय यह। यह सब इन्द्रिय के विषयों की बाहर की सामग्री, उसे प्राप्त करने और रखने में मैं रुक गया। आहाहा! मेरी जाति को मैंने जाना नहीं। आहाहा! बिना वर की बारात जोड़ दी। वर समझते हो? दूल्हा। दूल्हा कहते हैं न? आहाहा!

मेरी चीज़ मूल वस्तु है। अखण्ड आनन्द का नाथ प्रभु पूर्णता से परमेश्वर शक्ति से भरपूर, उसे मैंने नहीं जाना। उसे छोड़कर जानपने की सब बाहर की बातें की। आहाहा! वह वर छोड़कर बारात जोड़ दी। वह बारात नहीं कहलाती, हों! बारात तो वर हो तब कहलाये। नहीं तो लोगों का टोला (झुण्ड) कहलाता है। भाई! अरे! मेरा वर आत्मा भगवान शुद्ध चैतन्यघन ऐसा असली स्वरूप को तो मैंने जाना नहीं, अनन्त काल में, और जो मेरी चीज़ में नहीं, ऐसे नकली पुण्य-पाप के भाव को और उसके फल को मैंने मेरा माना। समझ में आया? आहाहा!

बाह्यइन्द्रियों के विषयों को अपने को सुखदायक-... व्यवस्थित कर रखा हो सब ऐसे। यह काटे तो यह लाओ। यह लाओ, वह सूँघने की दवा तो यह। नींद के समय नींद की गोलियाँ। नींद न आवे तो ... ...भाई! ऐसे बहुत बनियों को नींद न आवे तो गोली ले। धूल भी नहीं। यह आदत पड़ जाती है फिर समुको यह फेफड़ा-बेफड़ा सब पोचा हो जाये और फट जाये। फिर हाय... हाय..! बहुत दवायें कीं, अब फेफड़ा पोचा हो गया, चौड़ा हो गया। ऐसा कुछ नहीं कहते? लोग कहते हैं। फेफड़ा बहुत चौड़ा हो गया। आहाहा! कहते हैं कि यह चीज़ें जो हैं, उनकी अनुकूलता रखने में मैंने मुझे उपकारी मानकर यह सब सुखदायक है। आहाहा! यह इन्द्रियाँ जड़ और इनका विषय स्त्री, कुटुम्ब, परिवार... आहाहा! स्त्री हो तो नंगे-भूखे सम्हाले, ऐसा लोग कहते हैं। ४०-५० वर्ष में विवाह करे तब कहे, भाई! दूसरे सगे-सम्बन्धी चाहे जो हो परन्तु नंगे-भूखे हों तो स्त्री पालन करे। ऐसा कहते हैं। ऐई! ५० वर्ष में विवाह करते हैं न? ५३ वर्ष में, ६० वर्ष में विवाह करते हैं। आहाहा!

अरे! कहते हैं कि ऐसे पाँच इन्द्रिय के विषयों को **सुखदायक-उपकारक समझकर, उनमें अति आसक्त रहता है-उनमें आत्मबुद्धि करता है, किन्तु जब उसे चैतन्य और पर जड़पदार्थों का-इन्द्रियों के विषयों का भेदविज्ञान होता है...** आहाहा! यह इन्द्रियाँ जो यह है, वह मैं नहीं। और इन्द्रियों से दिखते पदार्थ, वह भी मैं नहीं। आहाहा! ऐसा जब पर से भेद अर्थात् भिन्नपने का ज्ञान होता है **और अपने में निराकुल...** यह न्याय देते हैं अधिक। अपने को पर से, राग से पर हूँ—ऐसा भेदज्ञान होता है, तब उसे होता क्या है? आहाहा!

अपने में निराकुल चिदानन्द सुधारस का स्वाद आता है,... आहाहा! वह अपना आनन्द ज्ञानस्वभाव उसे भूलकर विषयों में तन्मय होकर दु:ख को वेदता था। पर को एकपने मानकर अपने शुद्ध स्वभाव (को भूलकर) और पुण्य-पाप के विभाव को, पुण्य-पाप के फलरूप से प्राप्त सामग्री को जो मेरापने मानता था, तब वह राग से दु:खी था। उसे राग का स्वाद था—जहर का। आहाहा! समझ में आया? परन्तु जब राग और पर से भिन्न मेरी चीज़ है। मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ, ऐसा जब राग और बाहर की सामग्री से भिन्न आत्मा का ज्ञान और सम्यग्दर्शन होता है... आहाहा! तब उसे अपने निराकुल—आकुलतारहित चिदानन्द-ज्ञान का आनन्द, वह सुधारस—वह अमृत का रस, उसका स्वाद आता है। आहाहा! भाषा रची है न बहुत, ठीक छाँटकर।

आनन्दस्वरूप है न! भगवान आत्मा तो अमृतस्वरूप है। अमृत का सागर है। परन्तु इसे कैसे जँचे? कभी नमूना देखा नहीं। किसके साथ तुलना करे यह? आहाहा! कहते हैं कि यह प्रभु भगवान अन्तर में तो अनन्त अणीन्द्रिय अमृत के रस से भरपूर यह तत्त्व है। अरे! कैसे बैठे? ऐसे अमृतरस के भरपूर प्रभु को स्वयं जब अन्तर में पहिचाना, पर से भिन्न पड़कर अपने अस्तित्व का अनुभव किया, तब इसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। आहाहा! कहो। जैसा सिद्ध का आनन्द है, परमात्मा जो अरिहन्त और सिद्ध अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त है न परमात्मा! अरिहन्त है, वे शरीरसहित हैं। सिद्ध हैं, वे शरीररहित हैं। णमो सिद्धाणं। उन्हें जो अतीन्द्रिय आनन्द की पूर्णता का स्वाद और अनुभव है... आहाहा! उस में की जाति का, राग और पुण्य और शरीर तथा वाणी से मैं भिन्न हूँ, मेरी चीज़ में वह राग नहीं; मेरी चीज़ में तो ज्ञान और आनन्द है। मैं तो एक जाननेवाला-देखनेवाला ज्ञाता-आनन्द के नाथ का स्वरूप मेरा यह है। आहाहा! ऐसा जब पर से भिन्न पड़कर सम्यग्दर्शन जब होता है—धर्म की पहली सीढ़ी—धर्म का पहला सोपान-पगथिया। आहाहा! तब उसे राग के स्वाद से भिन्न पड़कर भगवान आनन्द का स्वाद है, ऐसा उसे अनुभवकर सुधारस अमृत के प्याले वह पीता है। आहाहा!

'सुखिया जगत में सन्त, दुरिजन दु:खीया रे... सुखिया जगत में रे सन्त, दुरिजन दु:खिया।' राग और शरीर और मन और वाणी के विषयों से पर, ऐसे चैतन्य का भान

होने पर जो चैतन्य का आनन्द आवे, वह प्राणी जगत में सुखी है। कहो, पोपटभाई! यह तुम्हारे पैसे इतने करोड़ों हैं, छह-छह लड़के हैं। काम आवे न छह? कहते थे, हमारे हीराभाई कहते थे। चार उठाने में काम आवे, एक सामने अग्नि की दोणी लेकर चले और एक पीछे पूणा लेकर चले। हमारे हीराभाई के छह लड़के हैं न। यह हीराभाई। हीरा भगत। सात हैं इन्हें। अपने हीराभाई नहीं? उस मकान में रहे थे न सवा तीन वर्ष। देखा भाई तुमने वहा? उसका नाम ... यहाँ बैठते थे न। कोने में बैठते थे न वहाँ। रामजीभाई के कोने में बैठते थे वहाँ। (संवत्) १९९१-९९२। खबर है। आहाहा! उसका नाम क्या वह? स्टार ऑफ इण्डिया। हम यहाँ आये न पहले एक दूसरा मकान था। सरकार का। उसका नाम स्टार ऑफ इण्डिया। उसमें हम तीन वर्ष रहे, सवा तीन वर्ष। यह मकान तो अभी हुआ ९४ में। स्वाध्यायमन्दिर है न, यह तो ९४ में हुआ। संवत् १९९४। आहाहा! समझ में आया? स्टार ऑफ इण्डिया—हिन्दुस्तान का चमकता तारा। यह उसका नाम है। वहाँ रामजीभाई आते थे। सुमनभाई गोद में बैठते थे। ९१, ९२, ९३ की बात है। खबर है न? आहाहा!

कहते हैं कि भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का धाम / स्थल है। भगवान आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द पके, ऐसा वह स्थल है। कोई क्षेत्र ऐसे होते हैं न कि जिसमें चावल पके। कितने ही खेत ऐसे होते हैं जिसमें कलथी पके। कलथी समझते हो? वह कुलथी होती है। आहाहा! जिस जमीन में कलथी पके, उस जमीन में अच्छे चावल नहीं पकते। क्या यह तुम्हारे... हमारे... नहीं थे। क्या कहलाते हैं? कुल्फा। कुल्फा के चावल थे। हमारे पालेज में... है न। कुल्फा के चावल आते थे। बहुत बारीक पतले ऊँचे। पालेज में अभी है। हमारे ३० लोग थे। एक रसोई में जीमते थे, परन्तु सब उत्कृष्ट चीज़। उस समय की बात है। ६५ वर्ष पहले की बात है। कुल्फा के चावल। यह कुल्फा के चावल जहाँ कलथी हो, उस क्षेत्र में नहीं पकते। आहाहा! यह राग और पुण्य और पाप के क्षेत्र में आनन्द नहीं पकता। यह शरीर और इन्द्रिय के विषय और पैसे में आनन्द नहीं पकता। यह सब कुलथी पकनेवाले यह सब क्षेत्र हैं। आकुलता... आकुलता... आकुलता... बापू!

यह भगवान असंख्य प्रदेशी चैतन्यघन भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो अतीन्द्रिय

आनन्द जो प्रगट किया, उस अतीन्द्रिय आनन्द का स्थल भगवान है। वह क्षेत्र तेरा अतीन्द्रिय आनन्द पके, ऐसा क्षेत्र है। आहाहा! पुण्य-पाप पके, यह उसका क्षेत्र नहीं है। वह तो पर्याय में अध्धर से बनाता है। पुण्य-पाप के भाव बने, ऐसा कोई द्रव्य और गुण नहीं है। आहाहा! उसकी एक समय की पर्याय में यह निमित्ताधीन होकर अधर्म को, राग-द्वेष को, मिथ्यात्व को उत्पन्न करता है। यह पर्यायदृष्टि में है। वस्तु और वस्तु के स्वभाव में और भाव में राग-द्वेष उत्पन्न हो, ऐसा वह फल ही नहीं है। ऐसा कोई गुण अन्दर नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

आत्मा अन्दर वस्तु राग के, पुण्य के, पाप के विकल्पों से भिन्न पड़ने पर उस चैतन्यधाम में उसकी सत्ता-स्थल है, उस सत्ता-स्थल में अतीन्द्रिय आनन्द... है। आहाहा! उसे भेदज्ञान राग से भिन्न पड़ने पर उसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। आहाहा! समझ में आया? उसे धर्म और समकित कहते हैं। आहाहा! बाकी सब भिखारी। यह तो अतीन्द्रिय आनन्द का स्वरूप ही आत्मा तो है। कण, उसका जरा नमूना अन्दर से आया। यह आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। आहाहा! अरे! मैं तो आनन्द को कहाँ खोजता था और कहाँ रह गया आनन्द? समझ में आया? आहाहा!

शरीर, वाणी, मन, लक्ष्मी ये सब चीजें तो इन्द्रियों का विषय है। इसलिए इनके विषय की ओर झुकने से इसे दुःख ही होता है। इसका आनन्द वहाँ लुटता है। आहाहा! यह परसन्मुख के प्रेम में झुकने से स्वसन्मुख का अतीन्द्रिय आनन्द का वहाँ खून होता है। आहाहा! ऐसा तो सुनना किसी दिन मिले, ऐसा है न? भाई! आहाहा! यह तो तीन लोक के नाथ तीर्थंकर की यह तो वाणी है। परमेश्वर सर्वज्ञदेव, जिन्हें तीन काल-तीन लोक का ज्ञान, उन्होंने इस वाणी में कहा, भाई! तू तेरी वस्तु की स्थिति से हटकर, च्युत होकर पाँच इन्द्रिय के विषयों के झुकाव में आसक्ति करके सुख मानता है, बापू! वहाँ तेरी शान्ति और आनन्द का खून होता है। आहाहा! परन्तु यह परमात्मा स्वयं आनन्दस्वरूप, इसे राग और विकल्प और मन से भिन्न करके... भिन्न है। परन्तु भिन्न करके स्वयं भिन्न है, ऐसा कभी जाना नहीं था। आहाहा! ...भाई! यह पैसा-बैसा में सुख होगा या नहीं? यह सब तुम्हारे सुखी कहते हैं जयन्तीभाई को। पैसेवाले हैं। नहीं?

मुमुक्षु : आपके सामने कोई ....हमारे...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह तो न्याय का विषय है। इसमें कहाँ हमारी ... बात है? न्याय अर्थात् नि—धातु है वहाँ। नि—धातु अर्थात् जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसे ज्ञान को ले जाना, उसका नाम न्याय। न्याय है न? न्याय। नि—धातु। नि—धातु।

भगवान आत्मा... आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ परमात्मा स्वयं उसकी ओर झुकने से। परसन्मुख झुकने पर उसकी दशा का खून होता था। आहाहा! उसे भगवान आत्मा की ओर झुकाने से उसे अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का अनुभव आवे। वह सिद्ध की जाति का आता है। जो सिद्ध भगवान को आनन्द है। भले उन्हें पूर्ण है और यहाँ थोड़ा है। नमूना तो यह है। आहाहा! ऐसी बातें होंगे? यह तो धर्म करो... धर्म करो... फिर भविष्य में सुख होगा। देवलोक मिलेगा, वहाँ इन्द्र-इन्द्राणियाँ होंगे और फिर वहाँ से मरकर राजा होगा। यह धर्म ऐसा होगा?

मुमुक्षु : आता है और फिर दीक्षा लेंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : और दीक्षा ले। परन्तु कौन सी दीक्षा? भान नहीं होता। कहाँ दीक्षा थी? दख्या है। आहाहा!

जिसे अतीन्द्रिय आनन्द के स्वभाव के स्वरूप से भरपूर प्रभु का अस्तित्व राग की आकुलता से और उसके बाह्य पदार्थों से भिन्न ऐसे भगवान को जब आत्मा ने जाना। आहाहा! तब **चिदानन्द सुधारस का स्वाद आता है,...** आहाहा! तब ज्ञानानन्द के अमृत का स्वाद आता है। आहाहा! कहो। **तब उसको बाह्यइन्द्रियों के विषयों आदि पदार्थ इष्ट -अनिष्ट नहीं लगते;...** धर्मी को आत्मा के अनुभव की दृष्टि से, सम्यक् दृष्टि से आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष बाह्य पदार्थों में सुख है, यह सब उड़ जाता है। समझ में आया? आहाहा!

तब उसको बाह्यइन्द्रियों के विषयों आदि पदार्थ... यह पैसा, स्त्री अनुकूल, यह भले, निर्धनता और दरिद्रता और सन्तानहीनता, अविवाहिता यह बुरे—यह बात उड़ जाती है। आहाहा! समझ में आया? **बाह्यइन्द्रियों के विषयों आदि पदार्थ इष्ट -अनिष्ट नहीं लगते; वे उसे मात्र ज्ञेयरूप भासित होते हैं।** शरीर, इन्द्रियाँ, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार

वह मेरे ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य ज्ञेय है। वह मेरी चीज़ नहीं। तथा वह अच्छी-बुरी नहीं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरणचारित्र। यह विवाद अभी कहते थे। यह सोनगढ़वाले कानजीस्वामी स्वरूपाचरण चौथे गुणस्थान में मानते हैं।, इसलिए अपने मिथ्या सिद्ध करो, मिथ्या। अभी आया है। भोपाल का। भोपाल का कौन है? राजमल पवैया। पवैया ने लिखा। राजमल पवैया ने? ऐसा आया है। देखो! इसने देखा है। वहाँ कानजीस्वामी ऐसा मानते हैं कि सम्यग्दर्शन में स्वरूपाचरण, उनका तुम्हारे उड़ाने के लिये यह सब बातें करनी है? गायन आया है उसमें। बड़ा गायन। वह यहाँ पड़ा था। आते हैं। कवि है। तब तो फिर भगवान को-अरिहन्त को माने, वह भी तुम्हें खोटा सिद्ध करना है। वे माने वह खोटा, ऐसा करना है तुम्हारे? बहुत लिखा है।

यहाँ तो कहते हैं, भाई! राग को और... उसमें बहुत विस्तार लिया है कि अनन्तानुबन्धी जो प्रकृति है कषाय की, वह वास्तव में तो चारित्रमोह की प्रकृति है। उसके जाने पर कुछ अंश चारित्र न आवे तो वह गयी और थी, उसमें क्या अन्तर पड़ा? समझ में आया? यह कषाय होती है, चार प्रकार की। एक अनन्तानुबन्धी, एक अप्रत्याख्यानी, एक प्रत्याख्यानी और संज्वलन, चार। और एक-एक के वापस चार भेद—क्रोध, मान, माया और लोभ। समझ में आया? उसमें प्रथम अज्ञान में राग से मुझे लाभ है, पुण्य वह मेरी चीज़ है, पुण्य के फल में मैं हूँ। यह मैंने उपार्जित किये फल में स्वाद आता है, ऐसा जब तक मिथ्यादृष्टि मूढ़ है, तब तक उसे मिथ्यात्व भी है और स्वरूप की आंशिक स्थिरता वहाँ नहीं। अनन्तानुबन्धी के कारण। आहाहा! और जब आत्मा आनन्द का नाथ भगवान शरीर से—राग से भिन्न है, ऐसी अपनी सत्ता की सम्हाल की, तब उसे स्वरूप की दृष्टि, स्वरूप का ज्ञान और स्वरूप की स्थिरता का अंश प्रगट होता है। अब वे सब यह डालते हैं। उसमें और मक्खनलालजी... यह मानते हैं। माने, एक माने परन्तु वापस दूसरे पहलू नहीं मानते। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, भगवान! यह तो तेरे घर की बातें हैं, भाई! यह कोई पक्ष की ओर वाड़ा की नहीं। तू कौन है अन्दर? आहाहा! तू कोई पदार्थ / चीज़ है या नहीं? और है तो कायम का उसका स्वरूप क्या है? कायम का। यह कायम का इसका स्वरूप प्रभु

वह ज्ञान और आनन्द इसका शाश्वत् स्वरूप है। समझमें आया? यह पुण्य-पाप के भाव और इनके फल में यह कुछ तेरी चीज़ नहीं है। तेरी हो तो पृथक् पड़े नहीं। आहाहा!

कहते हैं कि अज्ञान में अपनी जाति को भूलकर वहाँ से हट गया था, च्युत हुआ था। इससे पाँचों इन्द्रिय के विषयों के सन्मुखता में झुकाव था, इसलिए उसे आकुलता और दुःख का वेदन था। अनुभव-आकुलता का अनुभव था। पर का नहीं, आनन्द का नहीं। आहाहा! उसे दुःख का-आकुलता का वेदन था। यह पैसेवाले हो या राजा हो या सेठिया हो, सब दुःखी आकुलता के वेदनेवाले हैं। परन्तु जब उस आकुलता से पार भिन्न मेरी चीज़ अन्दर है, मैं एक सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्णानन्द का नाथ (आत्मा हूँ)। आहाहा! मेरी प्रभुता के समक्ष अज्ञान और राग-द्वेष नहीं टिकते। समझ में आया? ऐसी प्रभुता की अन्तर में स्वसंवेदन करके प्रतीति हुई... आहाहा! तब वह बाह्य इन्द्रिय के विषय इत्यादि से च्युत हो जाता है। ज्ञेयरूप भासित होता है। जो मेरे उपकारीरूप भासित होते थे, उन्हें जाननेयोग्य—ऐसा भासित होता है। कहो, पोपटभाई है। ऐसी बातें हैं, भाई! आहाहा!

इस कारण अन्तरात्मा... इस कारण से अन्तर स्वरूप, अन्तर आत्मा, आनन्द और ज्ञानस्वभावी वस्तु को जाननेवाला, अनुभव करनेवाला—ऐसा जो अन्तरात्मा **बहिरात्मदशा में विषय-भोगों को सुखरूप मानकर सेवन करता था,...** मिथ्यात्व अवस्था में भान बिना वह पाँच इन्द्रिय के विषय-भोग सुख हैं, ऐसा मानकर सेवन करता था। **वह अब भोगे हुए विषयों के विषय में विचार करने लगता है...** आहाहा! **'अरे! अज्ञानता से इन्द्रियों के विषयों में फँसकर,...** मेरे स्वरूप के अभान से, अज्ञान से, मेरी जाति से विरुद्ध भान से। आहाहा! **अज्ञानता से इन्द्रियों के विषयों में फँसकर, मैंने अपने चैतन्यस्वरूप को देखा नहीं।** आहाहा! समझ में आया? बहुत अच्छे सादे शब्द हैं। अब **आत्मा को जानने का उपाय...** बतलाते हुए कहते हैं। उसे जानने का, पहिचानने का, जिस स्वरूप से प्रभु आत्मा है, उसे जानकर वेदने का क्या उपाय है?

श्लोक - १७

अथात्मनो ज्ञप्तावुपायं दर्शयन्नाह -

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः॥ १७॥

एवं वक्ष्यमाणन्यायेन। बहिर्वाचं पुत्रभार्याधनधान्यादि लक्षणान्बहिरर्थवाचक-शब्दान्। त्यक्त्वा। अशेषतः साकल्येन। पश्चात् अन्तर्वाचं अहं प्रतिपादकः, प्रतिपाद्यः, सुखी, दुःखी, चेतनावेत्यादिलक्षणमन्तर्जल्पं त्यजेदशेषतः। एष बहिरन्तर्जल्पत्याग-लक्षणः। योगः स्वरूपे चित्तनिरोधलक्षणः समाधिः। प्रदीपः स्वरूपप्रकाशकः। कस्य ? परमात्मनः। कथं ? समासेन संक्षेपेण झटिति परमात्मस्वरूपप्रकाशक इत्यर्थः ॥१७॥

अब, आत्मा को जानने का उपाय बतलाते हुए कहते हैं —

वाहिर वचन विलास तज, तज अन्तर मन भोग।
है परमात्म प्रकाश का, थोड़े में यह योग॥ १७।

अन्वयार्थ - (एवं) आगामी श्लोक में कही जानेवाली विधि के अनुसार (बहिर्वाचं) बाह्य अर्थवाचक वचनप्रवृत्ति को (त्यक्त्वा) त्याग करके, (अन्तः) अन्तरङ्ग वचनप्रवृत्ति को भी (अशेषतः) सम्पूर्णपने (त्यजेत्) तजना। (एषः) यह (योगः) योग अर्थात् समाधि, (समासेन) संक्षिप्त में (परमात्मनः) परमात्मस्वरूप का (प्रदीपः) प्रकाशक दीपक है।

टीका - इस प्रकार, अर्थात् आगे कहे जानेवाले न्याय से, बाह्यवचन को, अर्थात् स्त्री-पुत्र, धन-धान्यादिरूप बाह्यार्थवाचक शब्दों को; अशेषपने अर्थात् सम्पूर्णरूप से तजकर, फिर अन्तरङ्गवचन को, अर्थात् मैं प्रतिपादक (गुरु), मैं प्रतिपाद्य (शिष्य), सुखी, दुःखी, चेतन इत्यादिरूप अन्तर्जल्प का पूर्णरूप से त्याग करना। इन बहिर्जल्प-अन्तर्जल्प के त्यागस्वरूप योग अर्थात् स्वरूप में चित्त निरोध लक्षण समाधि; प्रदीप अर्थात् स्वरूप प्रकाशक है। किसकी ? परमात्मा की। किस प्रकार ? समास से अर्थात् संक्षेप से शीघ्रतया वह परमात्मस्वरूप की प्रकाशक है — ऐसा अर्थ है।

भावार्थ - बाह्य वचनप्रवृत्ति के विकल्प तथा अन्तरङ्ग विकल्पों का सर्वथा त्याग करके, चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होना, योग है, समाधि है। वह योग ही परमात्मा का प्रकाशक दीपक है।

'स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि मेरे हैं' — इत्यादि मिथ्याप्रलाप, वह बाह्यवचन व्यापार -बहिर्जल्प है और 'मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं रंक, मैं राजा, मैं गुरु, मैं शिष्य' — इत्यादि अन्तरङ्ग वचनप्रवृत्ति, वह अन्तर्जल्प है। इन दोनों अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग वचनप्रवृत्तियों का त्याग करके, आत्मस्वरूप में एकाग्रता प्राप्त करनी, वह योग अथवा समाधि है। यह योग ही परमात्मस्वरूप को प्रकाशित करने के लिये दीपक के समान है।

आचार्य ने योग को प्रदीप कहा है क्योंकि जैसे दीपक, निश्चय से अपने स्वरूप को प्रकाशता है, वैसे ही यह योग, अन्दर विराजित निजात्मा के स्वरूप को प्रकाशता है।

जिस समय आत्मा इन बाह्य-अभ्यन्तर सङ्कल्प-विकल्पों का त्याग करता है, उस समय वह इन्द्रियों की प्रवृत्ति से हटकर, निज स्वरूप में लीन हो जाता है और अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव करता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

'मैं सिद्धसमान हूँ, मैं केवलज्ञानमय हूँ — इत्यादि ऐसे विकल्प मन में किया करे और उपयोग को शुद्धात्मस्वरूप में न जोड़े, तो वह कल्पनाजाल है; उसी में फँसे रहने से शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता, क्योंकि ऐसा अन्तर्जल्प, आत्मानुभव में बाधक है। जहाँ तक अन्तर्जल्परूप अन्तरङ्गप्रवृत्ति है, वहाँ तक सविकल्पदशा है। ज्ञानी, अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप में उपयोग जोड़ने के लिये सविकल्पदशा का त्याग करते हैं। निर्विकल्पदशा-समाधि में ही आत्मा का अनुभव होता है; अतः ग्रन्थकार ने अन्तर्जल्परूप सविकल्पदशा का भी पूर्णतया त्याग करना सूचित किया है।'

जो अन्तरङ्ग में वचन-व्यापारवाली अनेक प्रकार का कल्पनाजाल है, वह आत्मा को दुःख का मूलकारण है। उसका नाश होने पर, हितकारी परमपद की प्राप्ति होती है॥१७॥[१]

---

१. प्रस्तुत ग्रन्थ, श्लोक ८५

श्लोक - १७ पर प्रवचन

१७।

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः॥ १७॥

आहाहा! टीका ही लेते हैं। क्योंकि दो-दो, तीन-तीन बार आ जाता है।

टीका - इस प्रकार, अर्थात् आगे कहे जानेवाले न्याय से, बाह्यवचन को, अर्थात् स्त्री-पुत्र, धन-धान्यादिरूप बाह्यार्थवाचक शब्दों को;... शब्द। यह पुत्र... है इससे **अशेषपने अर्थात् सम्पूर्णरूप से तजकर,...** पर-सन्मुख का छोड़कर परन्तु उनके शब्दों के यह स्त्री, यह परिवार, ऐसे विकल्प को छोड़कर। आहाहा! **फिर अन्तरङ्गवचन को, अर्थात् मैं प्रतिपादक (गुरु),...** हूँ। आहाहा! मैं तो एक जगत को समझानेवाला हूँ, ऐसा जो विकल्प। समाधि है न? समाधि कहनी है न! लोगस्स नहीं किया तुमने लोगस्स? ... सामायिक 'लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।' कमाने का किया है। यह आता था। सामायिक में पाठ आता है। पहले णमो अरिहंताणं। दूसरा तिक्खुत्तो, तीसरा ईरियासमिति, चौथा काउत्सर्ग, पाँचवाँ लोगस्स। समझ में आया?

मुमुक्षु : समाहिवरमुत्तम दिंतु।

पूज्य गुरुदेवश्री : समाहिवरमुत्तम दिंतु, ऐसा कहा है। वह लोगस्स में आता है। दिगम्बर में भी आता है, परन्तु वह प्रचलित नहीं है। श्वेताम्बर में सामायिक प्रतिदिन करते हैं न बाहर के क्रियाकाण्ड में। उसमें मानते हैं कि हम यह करते हैं। वह सामायिक भी नहीं है और प्रौषध भी नहीं है। आहाहा! भाई! तेरी चीज़ का जाने बिना समता का लाभ कहाँ से आवे? समता अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र। समता अर्थात् कि वीतरागी परिणाम, समता अर्थात् कि जैनशासन, समता अर्थात् कि आत्मा के अनुभव की दशा। समझ में आया?

ऐसे **प्रतिपादक...** हूँ। आहाहा! मैं एक समझानेवाला हूँ और यह **प्रतिपाद्य (शिष्य),...** वह समझने के योग्य है। यह विकल्प भी छोड़ दे, कहते हैं। समझ में

आया? **सुखी-दुःखी...** मैं पैसे-टके से, इस कुटुम्ब से सुखी हूँ। परन्तु इज्जत और बेइज्जतरूप से मैं दुःखी हूँ, इत्यादि। आहाहा! ऐसे सुखी-दुःखी **चेतन इत्यादिरूप अन्तर्जल्प का...** मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, ऐसा चेतन **इत्यादिरूप अन्तर्जल्प का पूर्णरूप से त्याग करना।** आहाहा! उसे समाधि और सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो, यह बात करते हैं। शब्द जो है बतलानेवाले स्त्री, कुटुम्ब इस शब्द को छोड़ दे। फिर अन्तर्जल्प में विकल्प (उठे कि) मैं दूसरे को उपदेश कर सकता हूँ, ऐसा जो विकल्प है, उसे छोड़ दे। और मेरे विकल्प से—समझाने से शिष्य समझेंगे, यह भी एक विकल्प है। आहाहा!

इन बहिर्जल्प-अन्तर्जल्प के त्यागस्वरूप योग... राग और वाणी और शरीर के त्यागस्वरूप योग। अन्तर स्वरूप में जुड़ान करना, वह योग प्रदीप। योगरूपी दीपक हुआ अन्दर। आहाहा! समझ में आया? **स्वरूप में चित्त निरोध लक्षण समाधि;...** देखा! यह समाधि हुई। आधि, व्याधि, उपाधि से रहित समाधि। व्याधि—शरीर, उपाधि—यह धन्धा आदि, आधि—मन के अन्दर विकल्प उठे वह। आधि, व्याधि, उपाधि तीन से रहित वह समाधि। यह विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण ६, शुक्रवार, दिनांक ०३-१-१९७५, श्लोक-१७-१८, प्रवचन-२४

१७वीं गाथा। समाधितन्त्र। समाधितन्त्र अर्थात् आत्मा को अन्तर में शान्ति और समाधि आनन्द आवे, उसे यहाँ समाधितन्त्र कहते हैं। सूक्ष्म बात है। आत्मा है यह अन्दर, वह सच्चिदानन्द सत् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का वह भण्डार है—आत्मा। उसे प्राप्त करने के लिये उसका उपाय क्या? यह कहते हैं। यह तो ठेठ की बात है अभी तो। भावार्थ है न।

मुमुक्षु : टीका की दो लाईन बाकी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : टीका की। वह तो ठीक।

यह **किसकी? परमात्मा की।** यहाँ तक आया न? **किस प्रकार? समास से अर्थात् संक्षेप से शीघ्रतया वह परमात्मस्वरूप की प्रकाशक है—ऐसा अर्थ है।** यह तो कल आ गया है। भाव आ गया है। '**प्रदीप**' आ गया था न? **स्वरूप में चित्त निरोध लक्षण समाधि; प्रदीप...** सूक्ष्म बात है जरा। आत्मा में, परवस्तु मेरी है—यह दृष्टि पहले छूट जानी चाहिए। और यह शरीर भी आत्मा का नहीं। आत्मा तो आनन्दस्वरूप शुद्ध निरंजन आनन्दकन्द है, उसे सम्यग्दर्शन में प्राप्त करने के लिये... आहाहा! सूक्ष्म मार्ग है।

यहाँ कहते हैं कि इसे पर को अपना मानना, तो छोड़ देना परन्तु **बाह्य वचनप्रवृत्ति के विकल्प...** यह स्पष्टीकरण करेंगे। **तथा अन्तरङ्ग विकल्पों का सर्वथा त्याग करके,...** चैतन्यस्वरूप आत्मा ज्ञानस्वरूप परमानन्दमूर्ति प्रभु आत्मा है। आहाहा! ऐसे **चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होना, योग है, समाधि है। वह योग ही परमात्मा का प्रकाशक दीपक है।** आहाहा! यह योग। परमात्मा स्वयं चिदानन्दस्वरूप है, उसकी यह अन्तर में एकाग्रता, वह इसे प्रकाश का दीपक है। गजब! कितने मन्दिर बनाना और कितने अपवास करने से यह प्राप्त होगा? कहते हैं कि यह तो क्रिया है। इससे प्राप्त होगा नहीं। आहाहा!

अब इसका स्पष्टीकरण करते हैं। '**स्त्री, पुत्र, धन...** अर्थात् यह लक्ष्मी धूल और **धान्य...** यह अनाज, वह **मेरे हैं'—इत्यादि मिथ्याप्रलाप,...** बोलना। आहाहा! **वह**

बाह्यवचन व्यापार... है। यह स्त्री मेरी, पुत्र मेरे, पैसे मेरे, वस्तु मेरी, मकान मेरा। नौकर मेरे, यह सब बाह्य वचन का प्रलाप है। इसके कुछ है नहीं, तथापि यह वचन द्वारा बोलता है कि यह छोड़ देना चाहिए। जिसे आत्मा में... प्रभु आत्मा, उसमें जिसे मेल करना हो, आत्मा शान्त अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति है, उसे जिसे सम्यग्दर्शन में प्राप्त करना हो, तो उसे यह बहिर्जल्प पहले छोड़ देना चाहिए। आहाहा!

और 'मैं सुखी,... हूँ। ऐसा जो विकल्प है, वह भी इसे अन्तर में से छोड़ देना चाहिए। यह पैसा-टका, इज्जत से मैं सुखी हूँ, ऐसी जो कल्पना अन्दर का विकल्प, वह झूठा है। आहाहा! **मैं दुःखी हूँ,...** निर्धनपना, अविवाहितपना, सन्तानहीनता, कुछ बाहर की सुविधा मुझे नहीं, इसलिए मैं दुःखी हूँ। यह भी एक झूठा विकल्प है। आहाहा! **मैं रंक...** हूँ। मैं रंक—गरीब हूँ, भाई! यह वस्तु का विकल्प है, उसे छोड़ दे। **मैं राय...** (राजा हूँ), यह आत्मा में ऐसा कहाँ है? **मैं गुरु...** हूँ। और **मैं शिष्य...** ऐसा अन्तरंग में विकल्प-वृत्ति उठती है, उसे भी छोड़कर अन्तर में जाये तो वहाँ आत्मा का भान होता है। कहो, अब करने का बाहर का तो कुछ आया नहीं। परन्तु क्या करे? शरीर, वाणी, मन ही जहाँ इसके नहीं। वह तो पर जड़ है यह तो। आहाहा!

बहिर्जल्प और अन्तर्जल्प का त्याग, वह स्वरूप का योग अर्थात् समाधि और शान्ति का कारण है। यह सम्यग्दर्शन। समझ में आया? यह मैं, **इत्यादि अन्तरङ्ग वचनप्रवृत्ति, वह अन्तर्जल्प है।** अन्तर्जल्प। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, ऐसा हूँ, वैसा हूँ। ऐसी अन्तरंग वृत्ति जो राग की-विकल्प की उठती है... आहाहा! वह भी दुःखरूप है। **इन दोनों अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग वचनप्रवृत्तियों का त्याग करके, आत्मस्वरूप में एकाग्रता प्राप्त करनी,...** भगवान आत्मा आनन्द का धाम है वह। सहजात्मस्वरूप है। आहाहा! निरंजन शुद्ध निराकार आनन्द का नाथ प्रभु है अन्दर। उसमें बहिर और अन्तर की विकल्प जाल को छोड़कर। यह उसकी पद्धति है। आहाहा! अन्तर चैतन्यस्वरूप ज्ञान और आनन्द की जलहल ज्योति ऐसा भगवान आत्मा, आहाहा! उसमें योग अर्थात् समाधि लगाना। आहाहा! गजब बात, भाई!

यह चैतन्यस्वरूप आत्मा में जुड़ान करना, एकाग्र करना, पर के विकल्प की

वृत्ति को छोड़े, तब उसे आत्मा का अन्तर समाधि, शान्ति, ऐसा योग प्रगट हो। आहाहा! ऐसा मार्ग, भाई! इतने व्रत पालते हैं, दया पालते हैं, इतने अपवास करते हैं, बापू! वह सब विकल्प है। भाई! तुझे खबर नहीं। यह विकल्प अर्थात् सब राग की वृत्तियाँ हैं। वह तो छोड़ परन्तु यहाँ अन्तर में मैं... आहाहा! सुखी हूँ, दुःखी हूँ—ऐसी मन की जाल, मन में जुड़ी हुई संकल्प-विकल्प की जाल... आहाहा! उससे पार प्रभु अन्दर है। ऐसे **एकाग्रता प्राप्त करनी, वह योग...** योग अर्थात् कि अन्तर में चैतन्य का जुड़ान होना, यह समाधि है। वह अन्यमति समाधि कहते हैं कि मैं ऐसा करूँ, तप करूँ, वह जड़ है। आहाहा!

यहाँ तो आधि, व्याधि, उपाधिरहित अन्दर समाधि। उपाधि अर्थात् यह धन्धा आदि। कहो, पोपटभाई! यह लड़के और स्त्रियाँ, यह विवाह किये... अच्छे हुए, पैसा हमारे नहीं था और प्रगट हुआ वह सब उपाधि है। व्याधि—इस शरीर में रोग आदि व्याधि। आधि—अन्दर संकल्प-विकल्प होना, वह आधि। उससे रहित होना, वह समाधि। लोगस्स में आता है पहला। लोगस्स में नहीं आता? 'समाहिवरमुत्तमं दिंतु।' किया था या नहीं लोगस्स?

मुमुक्षु : किया था। याद कहाँ है अब?

पूज्य गुरुदेवश्री : याद रहा नहीं अभी अब? पोपटभाई ने तो किया था। 'लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।' 'एवं मये अभिथुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा; चउवीसं पि जिणवरा,...' दोनों व्यक्तियों ने किया था। आहाहा! यह तो न समझ में आये, तब तक तो ऐसा ही होता है न। आहाहा!

भगवान आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द—सत् अर्थात् शाश्वत्, चिद् अर्थात् ज्ञान, आनन्द अर्थात् सुख अन्दर भरा है। ऐसा सच्चिदानन्द प्रभु अन्दर, उसे सम्यग्दर्शन में प्राप्त करना हो... आहाहा! उसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो। अभी तो उसकी बात है, भाई! तो इसने यह अन्तर्जल्प के विकल्प—मैं ऐसा हूँ, और वैसा हूँ, ऐसा हूँ और वैसा हूँ। शरीर को कुछ होने पर फेरफार अन्दर रहा करे, वह तो बड़ी गड़बड़ है। आहाहा! बाह्य में किंचित् फेरफार हो, स्वजन मिले और जाये। पाँच-पचास लाख आवे और

फिर नुकसान भी जाये दो-पाँच-दस लाख। और संकल्प-विकल्प करे, वह तो बहुत स्थूल पाप। उसे तो त्याग कर। बापू! तेरी दृष्टि में से उसे छोड़ दे। तेरा भगवान अन्दर सच्चिदानन्दस्वरूप है, वह आत्मा। सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव उसे आत्मा कहते हैं कि जो... आहाहा! बहिर्जल्प प्रलाप। यह प्रलाप है, कहते हैं। यह मेरी स्त्री, यह मेरा मकान, यह... प्रलाप। पागल-मूर्ख। पागलपन में प्रलाप करता है। गांडा समझते हो? पागल। समझ में आया? यह नहीं आया था? प्रलाप शब्द आया था न वहाँ? मिथ्या प्रलाप है न? पहली लाईन में है। झूठा प्रलाप। यह मेरी स्त्री, यह मेरा पुत्र, यह मेरा और यह मेरा यह। धूल भी नहीं कुछ न, सुन न! आहाहा! यह जो इसके नहीं हैं, उसे मेरा... (कहना) वह वाणी द्वारा प्रलाप...

मुमुक्षु : पागल आयेंगे...

पूज्य गुरुदेवश्री : अब आयेंगे। यहाँ तो विद्यालय दूसरा है न। भाई! जगत से अलग प्रकार है। आहाहा!

भाई! आत्मा अन्दर है वह शुद्ध चिदानन्द निरंजन निराकार आनन्द का धाम प्रभु है। उसे प्राप्त करने के लिये परपदार्थ मेरे, ऐसी मान्यता तो छोड़, परन्तु परपदार्थ मेरे, ऐसे प्रलाप-भाषा छोड़। आहाहा! यह पैसा पैदा करने में, इतनी मेहनत नहीं पड़ी हो। नहीं पोपटभाई! यह तो उसमें कुछ मेहनत से मिलते नहीं मर जाये तो भी। वह तो पूर्व के पुण्य पड़े हों, उस पुण्य का पाक होने का-खिरने का काल आवे तो गोटी बैठ जाती है वहाँ। फिर थाणा में और मुम्बई में या ढीकणा में। फिर वहाँ से दो-पाँच लाख पैदा हों, इसलिए ऐसा माने कि हम बहुत व्यवस्था से चतुराई से व्यवस्थित प्रकार से काम किया इसलिए मिला। ऐई! हसुभाई! यहाँ तो दुनिया से अलग जाति है, भाई! आहाहा!

आचार्य ने शान्ति से कैसी बात की है! भगवान! वह परवस्तु मेरी, ऐसा प्रलाप तू करता है, वह मूर्खता है, कहते हैं। और अन्तर में भी मैं सुखी हूँ, पैसे से, स्त्री से, कुटुम्ब से-परिवार से, मकान से—ऐसी कल्पना छोड़ दे। भाई! उनसे सुखी नहीं। आहाहा! तथा मुझे पच्चीस रुपये कमाना हो तो मुश्किल पड़ता है, मैं दुःखी हूँ। यह छोड़ दे, भाई! आहाहा! इस कल्पना की जाल में शान्ति नहीं मिलती है। उसमें आत्मा

नहीं मिलता है। आहाहा! कहो, गिरधरभाई! आत्मा नहीं मिलता, बापू! भगवान अन्दर आनन्द का नाथ, अतीन्द्रिय आनन्द की गाँठ है। अतीन्द्रिय सुख का सागर आत्मा है, आहाहा! उसे सम्यग्दर्शन में प्राप्त करने के लिये... आहाहा! सम्यग्दर्शन ही योग है। वह दोनों जल्प छोड़ दे। **यह योग ही परमात्मस्वरूप...** अन्दर परम-आत्मस्वरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप, परम आनन्द का धाम स्वरूप, उसे **प्रकाशित करने के लिये दीपक के समान है।** यह दीपक है।

आचार्य ने योग को प्रदीप कहा है... भगवान आत्मा में जुड़ान करना और ऐसे संकल्प-विकल्प को छोड़ना। ऐसे चैतन्य भगवान शुद्ध आनन्द का नाथ प्रभु, उसमें जुड़ान करना अन्दर और दीपक कहा है। प्रदीप कहा न? प्रदीप। आहाहा! **क्योंकि जैसे दीपक, निश्चय से अपने स्वरूप को प्रकाशता है,...** दीपक ऐसा प्रगट, वह अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है। जलहल ... दीपक। **तथा योग..** अन्तर्जल्प की विकल्प की वृत्तियाँ और बाह्यजल्प के वाणी के प्रलाप... आहाहा! छोड़कर, भगवान आत्मा के सन्मुख होने पर जो दशा सम्यग्दर्शन-ज्ञान की प्रगट हो, उसे दीपक कहते हैं। यहाँ तो अन्तिम नम्बर की बात है। अन्तिम अर्थात् आत्मा कैसे प्राप्त हो, उसकी बात है। आहाहा! यह किया... यह किया... दया पालन की, व्रत पालन किये, भगवान की भक्ति की, मन्दिर बनाये और पूजायें कीं, उनसे आत्मा प्राप्त हो—ऐसा नहीं है। आहाहा! वहाँ तो तुम्हारे बारह लाख का मन्दिर है। उस समय वहाँ होंगे या नहीं यह? ... होवे न सामने आगे वहाँ फिर कहे न। हों! यह इसके कारण से हुआ है। और बनानेवाला का भाव शुभ हो। राग की मन्दता का पुण्य हो; धर्म नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : धर्म नहीं तो फिर बनाये किसलिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बनाता कौन है? वह तो रजकण के कारण से बन जाता है। यह रामजीभाई ने बनाया है यह? नहीं, लोग ऐसा कहते हैं रामजीभाई ने बहुत ध्यान दिया है।

मुमुक्षु : परन्तु... खबर है बजुभाई....

पूज्य गुरुदेवश्री : बजुभई थे नहीं कितने ही समय। और रामजीभाई सदा यहाँ

थे। यह आज जो सवेरे बात निकली थी। ऐई! सुमनभाई को छोड़कर यहाँ पड़े हैं। सुमनभाई इन्हें छोड़कर वहाँ पड़े हैं। परन्तु यह छुट्टी का वेतन महीने में मिले, वह यहाँ कौन दे? वर्ष के लाख रुपये। एक महीने का आठ हजार वेतन। और अधिकारीरूप से क्या कहलाता है वह?

मुमुक्षु : ऑफिसर।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऑफिसररूप से। अरे! धूल में भी नहीं अब। आठ हजार मिलना, वह धूल है। और वह पूर्व के पुण्य के कारण मिलते हैं। वह पुण्य मेरा (है) ऐसा मानना, वह भी भ्रमणा और मिथ्यात्व है। भाई! यहाँ तो रीति अलग प्रकार की है। आहाहा! आहाहा! ऐई! मनहर! समझ में आया यह? वह पैसे-बैसे में कुछ धूल भी नहीं, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : वह तो अच्छी धूल नहीं, सोना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सोना वह क्या? वह धूल है। सोना, वह पुद्गल है। कस्तूरी पुद्गल, विष्टा पुद्गल, सोना पुद्गल और हीरा-माणेक के गहने, वे पुद्गल हैं। आहाहा! भगवान! तू उसमें नहीं है। वह तुझमें नहीं है, उसमें तू नहीं। प्रभु! आहाहा! भाई! तुझे तेरी प्रभुता की खबर पड़ी नहीं। तू कहाँ कैसे है और कैसे प्राप्त हो? भाई! तूने उसकी रीति नहीं जानी। आहाहा! किस मार्ग में जाने से वह मिलेगा? और किस मार्ग को छोड़ने से वह मिलेगा? आहाहा! भाई! ऐसा प्रभु कहते हैं। परमात्मा सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ तीन काल-तीन लोक का जिन्हें ज्ञान सर्वज्ञपद था, ऐसा प्रगट हुआ था। आहाहा!

आत्मा का स्वभाव ही सर्वज्ञ स्वरूप है। सर्वज्ञशक्ति का तत्त्व वह है। आहाहा! उसका जिसने परसन्मुख के भाव—मेरा है, यह भाव छोड़कर और उसकी ओर के विकल्प जो है, वृत्तियों की लगनी राग की, वह मेरे और मैं उनका। यह मैं, मैं शुद्ध हूँ और बुद्ध हूँ और सर्वज्ञ हूँ—ऐसा भी एक विकल्प जो है... आहाहा! वह भी दुःखदायक है, आकुलता है। ऐसी बात है, भाई! कहो, पोपटभाई! आहाहा!

क्योंकि जैसे दीपक, निश्चय से अपने स्वरूप को प्रकाशता है, वैसे ही यह योग, अन्दर विराजित निजात्मा के स्वरूप को प्रकाशता है। आहाहा! अभी बात तो

इसने सुनी नहीं, उसे कब विचार में आवे और कब वह विकल्प छोड़कर अन्तर में जाये? कहो, कान्तिभाई! कान्तिभाई को कहा ... प्लेन में पन्द्रह सौ वेतन—डेढ़ हजार मासिक। प्लेन में। पन्द्रह सौ का। बालब्रह्मचारी है। लाखोंपति है। छोड़ दिया, नौकरी छोड़ दी। अठारह हजार बारह महीने में। अब धूल में क्या है अब?

मुमुक्षु : पहले महिमा की....

पूज्य गुरुदेवश्री : महिमा, वह तो स्वरूप बताया। लोगों को ऐसा होता है कि ओहोहो! वहाँ प्लेन में बैठते तब मुम्बई आते। अब नौकरी छोड़कर दो वर्ष से पहले आते थे सबके साथ। सिक्ख लोग होंगे न वहाँ। इसके वे हाँकनेवाले।

मुमुक्षु : पायलेट।

पूज्य गुरुदेवश्री : पायलेट। एक बार वहाँ ले गये थे अन्दर। एक बार, खबर है? चलानेवाले थे। सरदार थे अन्दर। ओहोहो! चले न, उसे क्या कहा जाता है तुम्हारे? प्लेन-प्लेन। अन्दर चलावे। दो-दो हजार-तीन हजार वेतनवाले नहीं? पाँच हजार वेतनवाले। सरदार। अन्दर थे न। हम गये थे देखने प्लेन में अन्दर। ले गये थे मशीन के पास। आहाहा! यह मशीन कौन चलावे? कहते हैं।

मुमुक्षु : जिसे आवे, वह चलावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : जानकारी, जानकारी के पास रह गये। और चलना चलने के पास रह गया। आहाहा! भाई! यह परमाणु का पिण्ड है, वह प्लेन। उसकी जिस समय की जो पर्याय ऊँचे ऐसे उड़ने की है, वह उसके कारण से होती है।

मुमुक्षु : ....पेट्रोल...

पूज्य गुरुदेवश्री : पेट्रोल-फेट्रोल यह सुमनभाई का गया। ये पेट्रोल में है न? वह क्या कहलाता है?

मुमुक्षु : ऐसो।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसो। अब यह तो सरकार ने ले लिया। पहले अलग कम्पनी थी न। अब थोड़ा देते हैं कुछ। पच्चीस प्रतिशत कुछ। ऐसा सुना था। कोई कहता था

पिचहत्तर प्रतिशत सरकार रखती है और पच्चीस प्रतिशत उसे देती है। आहाहा! अरे रे! हैरान-हैरान का रास्ता है सब।

अरे! यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं, प्रभु! तुझे तेरा, तुझे तेरा स्वरूप है, उसे प्राप्त करना हो, उसे तो अन्तर और बहिर के प्रलाप और अन्तर्जल्प के विकल्प छोड़ देना पड़ेंगे। तब वह अन्तर में जाने पर उसे आनन्द की दशा एकाग्रता में प्रगट होती है। उसे योग और समाधि और उसे दीपक कहते हैं कि जिस दीपक द्वारा आत्मा प्राप्त होता है। आत्मा ज्ञात होता है। आहाहा! ऐसी बातें, भाई! उसमें तो कहे, एकेन्द्रिय की दया पालो, ऐसा करो। ऐसी बातें तो कभी सुनी न हो। ऐई! हसमुखभाई! यह तुम्हारे बहनोई को कहते हैं। झोबालिया है, वह भी। शान्तिभाई! यह शान्तिभाई सब झोबालिया है न? आहाहा!

कल आया था तुम्हार तीन का। काँप का पत्र आया था कि शान्तिभाई के घर में आवास रखना? या चम्पक डगली के यहाँ रखना? या रसिक के यहाँ रखना? ऐसा पत्र आया था चन्दुभाई के प्रति। हमने कहा, हो वह हो वहाँ। वहाँ बैठे होंगे इकट्ठे होकर मीटिंग में। चार दिन रहनेवाले हैं न। आहाहा!

प्रभु! तू कहाँ है? तू कैसे प्राप्त हो? आहाहा! कहते हैं, तू तो सत्-शाश्वत्, नित्य, ध्रुव, आनन्द और ज्ञान की गाँठ है। आहाहा! उसमें उसे मिलना हो, प्राप्त करना हो तो, तो जो विकल्पों की वृत्तियाँ हैं, वे आकुलता है... आहाहा! उसे भी छोड़ना पड़ेगा। यह उसकी मार्ग की पद्धति है। समझ में आया? अन्तर के मार्ग में जाने के लिये उसे विकल्प की वृत्तियाँ विघ्न करती हैं। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं, अन्दर में यह **योग, अन्दर विराजित निजात्मा...** निरंजन शुद्ध चिदानन्द आनन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा है। प्रत्येक आत्मा अन्दर विराजमान है। आहाहा! कहो, दिलीप! ऐसा! यह तेरे पिता पैसा बहुत करते हैं, उसमें नहीं कुछ? लड़का भाग्यशाली है। आहाहा! कहते हैं, भाई! वस्तु है या नहीं तू? है या नहीं? है। क्या वस्तु है? कि उसमें तो ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता ऐसे अनन्त गुण जिसमें बसे हुए हैं, वह मैं वस्तु हूँ। उस वस्तु को प्राप्त करने के लिये, प्रभु! तेरा मार्ग यह है, भाई! आहाहा!

कोई कहे कि भाई! भगवान की भक्ति करने से और गुरु की भक्ति करने से मिलेगा। हराम मिले तो। क्योंकि उस परद्रव्य की ओर के झुकाववाला विकल्प आता अवश्य है परन्तु वह अन्तर आत्मा को प्राप्त करने के लिये काम का नहीं है।

मुमुक्षु : नजदीक में नजदीक का कौन सा?

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नजदीक में एक भी विकल्प नहीं इसका। ऐई! चेतनजी! आहाहा! अरे! आत्मा अन्दर आनन्द का नाथ ज्ञान की ज्योति से जलहल ज्योति जलती है। चैतन्य के प्रकाश के नूर का पूर है। चैतन्य के ज्ञान के प्रकाश का नूर का पूर है यह। अरे रे! कहाँ देखा इसने? इसने कहाँ उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया? यह बाहर के धमाल धूल धमाका। फू होकर चला जायेगा सब। आहाहा!

कहते हैं, भगवान आत्मा **निजात्मा के स्वरूप को...** यह पुण्य और पाप की-भाव की वृत्तियाँ हैं, वह विकल्प है। उनका लक्ष्य छोड़कर जहाँ चैतन्य स्वरूप में लक्ष्य जमाना है, उसे यहाँ योग, उसे यहाँ समकित समाधि कहते हैं। लो, भाई! यह आया। समाधि के दस बोल आते हैं न? उसमें समकित समाधि कही है। समाधि दस बोल बोलते थे वे। यह शुरु किया था तब। (संवत्) १९७८, बोटाद में। 'चित्त समाधि हुए दस बोल।' ... आते हैं। १९७८। कितने वर्ष हुए? ५३ हुए। बोटाद में पहले रखा था। लोग कहे, यह और क्या? मैंने कहा 'चित्त समाधि हुए दस...' पहली तो सम्यग्दर्शन समाधि है। आहाहा! समझ में आया? बोटाद में तो सभा बड़ी। हजार-पन्द्रह सौ लोग आवे। उपाश्रय में न समाये। फिर व्याख्यान चलता हो तब खिड़की में बैठे तो पूरी गली में लोग बैठते थे। यह तो (संवत्) १९७९, ८० और ७८ की बात है। लोगों को प्रेम बहुत था न, नाम प्रसिद्ध था न हमारा तो उसमें भी—सम्प्रदाय में। आहाहा! उसमें शुरुआत की है। भाई! यह आत्मा को समाधि अर्थात् शान्ति पहले तो सम्यग्दर्शन से प्राप्त होती है। आहाहा! 'चित्त समाधि हुए...' दशा सूत्र श्वेताम्बर का सूत्र है। ३२ सूत्र है और ४५? उसमें एक दशा सूत्र है। उसमें पूरा अध्ययन है। लोगों को भी बाहर की प्रवृत्ति के क्रियाकाण्ड के समक्ष निवृत्त कहाँ? वह तो यह करना और यह करना और यह करना। आहाहा! दया और दान, व्रत और तप और वह तो विकल्प की वृत्तियाँ हैं, शुभभाव है। वह पुण्यबन्ध का कारण है। आत्मा को प्राप्त करने का वह कारण नहीं। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। **परमात्मस्वरूप को प्रकाशित करने के लिये दीपक के समान है। आचार्य ने योग को प्रदीप कहा है क्योंकि जैसे दीपक, निश्चय से अपने स्वरूप को प्रकाशता है, वैसे ही यह योग, अन्दर विराजित निजात्मा के स्वरूप को प्रकाशता है। जिस समय आत्मा...** जिस काल में यह आत्मा **इन बाह्य-अभ्यन्तर सङ्कल्प-विकल्पों का परित्याग करता है, उस समय वह इन्द्रियों की प्रवृत्ति से हटकर, निज स्वरूप में लीन हो जाता है...** आहाहा! कठिन बातें! समझ में आया? **और अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव करता है।** आत्मा आनन्द और अतीन्द्रिय सुख की गाँठ है। वह अन्तर में एकाग्र हो तो उसका स्वाद लेता है। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद। इस दुनिया में जो विषयभोग के स्वाद, वे सब राग के स्वाद, आकुलता के स्वाद हैं। मोहनलालजी! यह इलायची के व्यापार के विकल्प, यह सब दु:ख के स्वाद हैं, ऐसा कहते हैं। ऐई! तुम्हारे वेतन में आठ हजार और... विकल्प आवे न? तब दु:खी है। आहाहा! यहाँ तो अभी अधिक ... है।

विशेष –'मैं सिद्धसमान हूँ,... आहाहा! 'सिद्ध समान सदा पद मेरो, चेतनरूप अनूप अमूरत...' बनारसीदास (कृत)। दिगम्बर में एक बनारसीदास कवि हो गये हैं। पहले बहुत कामी थे-भोगी। जवान अवस्था। व्यभिचारी (शृंगाररस के कवि) बहुत और बहुत सुन्दर शरीर। उसमें से उन्हें सत्समागम मिला फिर आत्मभान हुआ है। पश्चात् सब व्यभिचार की पुस्तकें (शृंगार रस की कवितायें) लिखी हुई थी, वे गंगा में डुबो दी। फोटो आता है। वे स्वयं यह कहते हैं।

चेतनरूप अनूप अमूरति,
सिद्ध समान सदा पद मेरो।
मोह महातम आतम अंग,
कियो परसंग महातम घेरो।

परन्तु मैंने मेरे स्वरूप के भान बिना पर में मोह के कारण। 'मोह महातम...' पर के मोह का मुझे माहात्म्य आया। 'मोह महातम आतम अंग' आत्मा के अंग में घेरा किया। आहाहा! 'कियो परसंग' मैंने पर का संग किया। राग का, पुण्य का, दया का, दान का। आहाहा! 'कियो परसंग महातम घेरो।'

अब कहते हैं,

ज्ञानकला उपजी अब मोहि,
कहौं गुन नाटक आगमकेरौ।
ज्ञानकला उपजी अब मोहि,
कहौं गुन नाटक आगमकेरौ।
जासु प्रसाद सधै सिवमारग,
वेगि मिटै घटवास बसेरौ।

आहाहा!

चेतनरूप अनुप अमूरति,
सिद्धसमान सदा पद मेरौ।

मैं एक चैतन्यरूप अरूपी ज्ञान के घन का पिण्ड। आहाहा! 'चेतनरूप अनुप अमूरति...' अनुप-जिसे कोई उपमा नहीं दे सकते। आहाहा! और अमूर्त, जिसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं है। अन्दर वस्तु में कहाँ है?

चेतनरूप अनुप अमूरति,
सिद्धसमान सदा पद मेरौ।

सिद्ध भगवान तो हुए णमो सिद्धाणं। ऐसा ही मेरा स्वरूप है। आहाहा!

मोह महातम आतम अंग,
कियौ परसंग महातम घेरौ।

मैंने परवस्तु में मोह करके, विकल्प उठाकर तम-अन्धकार का घेरा मैंने उत्पन्न किया था। आहाहा!

ज्ञानकला उपजी अब मोहि,

मैं एक राग और विकल्प रहित चीज़ हूँ। मेरे स्वरूप में आनन्द और ज्ञान का नूर का पूर पड़ा है। आहाहा!

ज्ञानकला उपजी अब मोहि,
कहौं गुन नाटक आगमकेरौ।

आगम समयसार नाटक का मैं वर्णन करूँगा। नाटकरूप से वर्णन करूँगा।

जासु प्रसाद सधै सिवमारग,

अन्तर के स्वरूप के साधन द्वारा राग और विकल्प से रहित होकर अनुभव द्वारा 'सधे सिवमारग, ' मोक्ष का मार्ग। 'वेगि मिटै... ' आहाहा! शरीर में रहना यह कलंक है। हड्डियाँ-चमड़ी। 'वेगि मिटै घटवास बसेरौ।' इस शरीर में बसना छूटकर अकेला हो गया। कहो, पोपटभाई! यहाँ तो कमायी यह है। आहाहा!

'**मैं सिद्धसमान हूँ,...** जैसे सिद्ध परमात्मा है, वैसा ही मैं हूँ। परन्तु ऐसा विकल्प करना, अन्दर वृत्ति उठाना, वह भी दुःखरूप है, कहते हैं। समझ में आया? **मैं केवलज्ञानमय हूँ...** अकेला केवल-केवल अकेला ज्ञानस्वरूप चैतन्यघन। ऐसी वृत्ति उठना, वह भी विकल्प और राग है। उठाना वह। वस्तु तो वस्तु है। आहाहा! समझ में आया? **इत्यादि ऐसे विकल्प मन में किया करे...** यह मन है एक यहाँ। उसके संग में ऐसे विकल्प किया करे, मैं शुद्ध हूँ, चैतन्य हूँ। **और उपयोग को शुद्धात्मस्वरूप में न जोड़े,...** उस ज्ञान के परिणाम को त्रिकाल में न जोड़े। आहाहा! ऐसी बात और ऐसा धर्म गजब, भाई! यह किस प्रकार का धर्म? बापू! यह आत्मा का धर्म ऐसा है। समझ में आया? आहाहा! **ऐसे विकल्प मन में किया करे और उपयोग को शुद्धात्मस्वरूप में न जोड़े, तो वह कल्पनाजाल है;...** यह भी एक कल्पना की जाल है। आहाहा! स्त्री, पुत्र और धूल-धमाका तो कहीं रह गया। परन्तु यह चीज़ है, ऐसा मन के संग से मैं सिद्धस्वरूप जैसा हूँ, केवलज्ञानमय हूँ, द्रव्य से सिद्धसमान, गुण से केवलज्ञानमय शुद्ध चैतन्य पूर्ण हूँ। ऐसा जो मन के संग से वृत्ति—राग उठता है, वह भी कल्पना-जाल है। आहाहा!

उसी में फँसे रहने से... मैं ऐसा हूँ... ऐसा हूँ... ऐसा हूँ... यह राग की वृत्ति है, विकल्प है। **उसी में फँसे रहने से शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता,...** आहाहा! भगवान चैतन्य आनन्दस्वरूप, उसका ऐसे विकल्प के जाल में—कल्पना जाल में रुकने से, अटकने से शुद्ध चैतन्य का अनुभव नहीं होता। आहाहा! बहुत कठिन। यह वह तो ऐसा कहे, सब देशसेवा करो, तुम तिर जाओगे। देखो न! देशसेवा के लिये मर जाते हैं न? क्या कहलाता है? शहीद। यह सुना है न! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि देव और गुरु परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त हुए, उनकी तू सेवा और भक्ति कर तो भी विकल्प और राग है। क्योंकि परद्रव्य की ओर के झुकाववाली वृत्ति है। यह तो ठीक परन्तु तू जैसा है... आहाहा! वैसा ही मन द्वारा विकल्प उठावे, वह कल्पना-जाल है। आहाहा! यह लोगों को इसलिए लगे न, सोनगढ़वाले निश्चय की बातें करते हैं। मोहनलालजी! ऐसा कहते थे न लोग? आहाहा! बापू! मार्ग तो यह है, हों! निश्चय अर्थात् सच्ची। व्यवहार की अर्थात् आरोपित, औपचारिक। आहाहा! उसकी श्रद्धा तो करे। उसके ज्ञान में तो यह बात ले कि वस्तु तो यह विकल्परहित है। समझ में आया? आहाहा!

शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता, क्योंकि ऐसा अन्तर्जल्प, आत्मानुभव में बाधक है। आहाहा! मैं ऐसा हूँ। है, ऐसा है। केवलज्ञानमय हूँ, सिद्धस्वरूप हूँ, पवित्र हूँ, आनन्द का धाम हूँ, मेरा स्थल शान्ति की उत्पत्ति करनेवाला है। ऐसा यदि विकल्प की जाल में अटक जाये तो उसके पीछे पड़ा है प्रभु का स्वरूप अपना, उसे नहीं अनुभव कर सकेगा। आहाहा! सम्यग्दर्शन नहीं पा सकेगा, ऐसा कहते हैं। यह तो अभी सम्यग्दर्शन की बात चलती है। अभी सम्यग्दर्शन का ठिकाना न हो और व्रत और चारित्र और साधु हो गये। सब एक बिना के शून्य हैं। आहाहा!

कहते हैं, भाई! तेरी चीज़ है अन्दर, वह पवित्र है, सिद्ध समान है, शुद्ध है, अकेला ज्ञानपिण्ड है। परन्तु उसे भी मन द्वारा मन के संग से अकेली विकल्प की कल्पना में यदि रुक जायेगा तो अन्दर नहीं जाया जायेगा। कहो, समझ में आया?

ऐसा अन्तर्जल्प, आत्मानुभव में बाधक है। आहाहा! आत्मा आनन्द का अनुभव करने में यह कल्पना जाल बाधक है। समझ में आया? **जहाँ तक अन्तर्जल्परूप अन्तरङ्गप्रवृत्ति है,...** जब तक आत्मा केवलज्ञान, सिद्ध समान आदि है, वह है परन्तु उसकी कल्पना की वृत्ति में जब तक रुकता है, **वहाँ तक सविकल्पदशा है।** वह तो रागवाली दशा है। आत्मा रागवाला नहीं। आहाहा! आत्मा निरंजन निराकार वीतरागमूर्ति है। ऐसा कैसा? समझ में आया? उसका अस्तित्व—चैतन्य का आत्मा का अस्तित्व एकदम पवित्र और शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु है। कहते हैं कि मन के संग से भी कल्पना

में ऐसा... ऐसा... ऐसा... उसमें रुकना, वह अन्दर जाने में विघ्नरूप है। आहाहा! वह साधक नहीं। कहो, चेतनजी! यह विकल्प निकट का साधन है या नहीं? भाई! तेरा घर ऐसा महँगा है और ऐसा तेरा घर सरल है कि जिसे ऐसे विकल्प के जाल की भी सहायता की आवश्यकता नहीं है।

अरे! इसे अब कहाँ पहुँचना? अभी बाहर में फँसा (हो)। यह मेरा और यह तेरा और... आहाहा! शरीर में जरा प्रतिकूलता हो, वहाँ साताशिलीया... साताशिलीया... आहाहा! साताशिलीया समझ में आता है? साता को लेने के स्वभाववाला। अनुकूलता को लेने के भाववाला, उसे साताशिलीया कहते हैं। आहाहा! जरा शरीर में कुछ हो तो... अब ऐसे को इसमें जाना नहीं सुहाता। उसे आत्मा के ऐसे विकल्प में जाना, वह नहीं जा सकता। बाहर में अटका है, वह यहाँ कहाँ जाये? और ऐसे विकल्प में अटका, वह अन्तर अनुभव नहीं कर सकता। आहाहा! ऐसा धर्म कैसा? जैनधर्म ऐसा होगा? परन्तु हमने तो कि ५० वर्ष में, कभी ६० वर्ष में सुना नहीं। हरितकाय नहीं खाना, रात्रि में चतुर्विध आहार नहीं करना, ऐसा सब सुना था। छह परबी—दूज, पंचमी, अष्टमी, ग्यारस, चौदस, पाखी के ब्रह्मचर्य पालना, भगवान के दर्शन करना, यात्रा करना। भाई! यह सब शुभ विकल्प की जाति की बातें हैं। शुभराग की बात है। समझ में आया?

अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप में उपयोग जोड़ने के लिये... अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप भगवान इन्द्रियों से पार है, ऐसा जो ज्ञान का स्वरूप, उसमें उपयोग को जोड़ने के लिये **ज्ञानी सविकल्पदशा का त्याग करते हैं।** आहाहा! कितना यह पुरुषार्थ है! इस पुरुषार्थ की कीमत कितनी है! आहाहा! ऐसे विकल्प की वृत्तियाँ हैं, मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ। उसे छोड़कर अन्तर के अनुभव में जाये... आहाहा! वह ज्ञानी विकल्पदशा का त्याग करता है। तब **निर्विकल्पदशा में ही...** राग बिना की दशा में अर्थात् **समाधि में ही...** अर्थात् **आत्मा का अनुभव होता है;...** कहो, ऐसा स्वरूप है। **इसलिए ग्रन्थकार ने अन्तर्जल्परूप सविकल्पदशा का भी पूर्णतया त्याग करना सूचित किया है।** है?

जो अन्तरङ्ग में वचन-व्यापारवाली अनेक प्रकार का कल्पनाजाल है,... आहाहा! यह मेरा और यह तेरा, यह तो छोड़ा, कहते हैं। परन्तु अन्दर स्वरूप है, उसकी

विचारणा में कल्पना-जाल खड़ी होती है। आहाहा! **वह आत्मा को दुःख का मूलकारण है।** आहाहा! क्योंकि प्रभु शान्त निर्विकारी आनन्द, उसमें ऐसा विकल्प उठावे कि मैं शुद्ध हूँ, ऐसा हूँ और वैसा हूँ। आहाहा! ऐसी विकल्प की जाल भी, प्रभु! वह दुःखरूप है। आत्मा के आनन्द से वह उल्टी दशा है। आहाहा! इसलिए यह सभा—बड़ी समाज को कठिन पड़े। परन्तु अब लोग सुनना चाहते हैं, हों! चारों ओर है। देखो न! अभी कितने पत्र आते हैं। चारों ओर से यहाँ, हमारे दिन रखो, यहाँ हमारे दिन रखो। आहाहा! बापू! इस जगत की जंजाल और जगत के व्यवहार से यह चीज़ भिन्न है। अरे! अन्तर का आत्मा का जहाँ विकल्प ऐसा और वैसा... आहाहा! वह भी मनुष्य के व्यवहार की जाति है। वह आत्मा की जाति नहीं। आहाहा!

जो अन्तरङ्ग में वचन-व्यापारवाली... यह अन्तर विकल्प उठे न, यह अन्तर वचन-व्यापार है। मैं ऐसा हूँ और ऐसा हूँ। **वह आत्मा को दुःख का मूलकारण है।** आहाहा! **उसका नाश होने पर, हितकारी परमपद की प्राप्ति होती है।** यह ८५ में आयेगा आगे। उसमें।

श्लोक - १८

कुतः पुनर्बहिरन्तर्वाचस्त्यागः कर्तव्य इत्याह -

***यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।**
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्॥ १८॥

रूपं शरीरादिरूपं यद् दृश्यते इन्द्रियैः परिच्छेद्यते मया तदचेतनत्वात् उक्तमपि वचनं सर्वथा न जानाति। जानता च समं वचनव्यवहारो युक्तो नान्येनातिप्रसङ्गात्। यच्च जानद् रूपं चेतनमात्मस्वरूपं तन्न दृश्यते इन्द्रियैर्न परिच्छिद्यते। यत एवं ततः केन सह ब्रवीम्यहम्॥१८॥

* जं मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा। जाणगं दिस्सदे णं तं तम्हा जपेमि केण हं॥
अर्थात्, जिस रूप को मैं देखता हूँ, वह रूप मूर्तिक वस्तु है, जड़ है, अचेतन है, सब प्रकार से कुछ भी जानता नहीं है और मैं ज्ञायक हूँ, अमूर्तिक हूँ। यह तो जड़-अचेतन है, सब प्रकार से कुछ भी जानता नहीं है; इसलिए मैं किससे बोलूँ? *(-श्री मोक्षप्राभृत, गाथा-२९, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः)*

फिर, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग वचनप्रवृत्ति का त्याग किस प्रकार करना ? - वह कहते हैं —

रूप मुझे जो दीखता, वह तो जड़ अनजान।
जो जाने, नहीं दीखता, बोलूँ किससे बान॥ १८॥

अन्वयार्थ - (मया) मेरे द्वारा (यत्रूपं) जो रूप-शरीरादि रूपीपदार्थ (दृश्यते) दिखायी देते हैं, (तत्) वे अचेतन पदार्थ (सर्वथा) सर्वथा (न जानाति) किसी को नहीं जानते और (जानत् रूपं न दृश्यते) जो जाननेवाला चेतन आत्मा है, वह अरूपी होने से मुझे दिखायी नहीं देता, (ततः अहं केन सह ब्रवीमि) तो मैं किसके साथ बातचीत करूँ।

टीका - रूप अर्थात् शरीरादिरूप जो दिखायी देता है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा मेरे से ज्ञात होता है, वह अचेतन होने से, (मेरे) बोले हुए वचनों को सर्वथा नहीं जानता; जो जानता (समझता) हो, उसके साथ वचन-व्यवहार योग्य है; अन्य के साथ (वचन-व्यवहार) योग्य नहीं, क्योंकि अति प्रसङ्ग आता है और जो रूप अर्थात् चेतन-आत्मस्वरूप जानता है, वह तो इन्द्रियों द्वारा दिखता नहीं, ज्ञात होता नहीं; यदि ऐसा है तो मैं किसके साथ बातचीत करूँ ?

भावार्थ - जो शरीरादि रूपीपदार्थ इन्द्रियों से दिखते हैं, वे अचेतन होने से बोले हुए वचनों को सर्वथा नहीं जानते-नहीं समझते और जिसमें जानने की सामर्थ्य है, वह चैतन्यस्वरूप आत्मा, अरूपी होने से, इन्द्रियों द्वारा दिखता नहीं; अतः अन्तरात्मा विचारता है कि 'किसी के साथ बोलना या वचन-व्यवहार की प्रवृत्ति करना निरर्थक है क्योंकि जो जाननेवाला चैतनद्रव्य है, वह तो मुझे दिखता नहीं और इन्द्रियों द्वारा जो रूपी शरीरादि जड़पदार्थ दिखते हैं, वे चेतनारहित होने से कुछ भी जानते नहीं, तो मैं किसके साथ बात करूँ ? किसी के साथ भी बातचीत करना बनता नहीं है; अतः अब तो मुझे अपने स्वरूप में रहना ही योग्य है, लेकिन बोलने का विकल्प-राग करना योग्य नहीं है।'

इस श्लोक में आचार्यदेव ने विभावरूप बाह्यविकल्पजाल से छूटने का एक उत्तम उपाय दर्शाया है।

विशेष स्पष्टीकरण -

किसी के साथ बोलना, यह व्यवहार कथन है; निश्चयनय की दृष्टि से कोई जीव, बोल सकता ही नहीं है। जो वाणी निकलती है, वह भाषावर्गणारूप पुद्गलों का वचनरूप परिणमन है; वह आत्मा का कार्य नहीं है। उस कार्य में अज्ञानदशा में जीव के बोलने का विकल्प (राग) निमित्तमात्र है। विकल्प और वाणी—इन दोनों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। न तो विकल्प के कारण ही वाणी निकलती है और न वाणी के कारण, विकल्प ही होता है। अज्ञानी को इस तथ्य का परिज्ञान न होने से, वह ऐसा मानता है कि 'मैंने बोलने की इच्छा की तो वाणी निकली,' लेकिन तात्त्विक दृष्टि से विचारने पर यह सत्य नहीं है। भाषावर्गणा का वाणीरूप परिणमन उसके अपने कारण से है, स्वतन्त्र है; वह इच्छा से निरपेक्ष है तथापि 'मैं बोलता हूँ'—ऐसा माननेवाला जीव, जीव व अजीव तत्त्वों में एकत्वबुद्धि करता है। इस विपरीतमान्यता केकारण उसको अनन्त संसार की कारणभूत अनन्तानुबन्धी कषाय हुए बिना रहती नहीं।

ज्ञानी को अस्थिरता के कारण बोलने का विकल्प आने पर भी, स्वभाव की दृष्टि से उसे अभिप्राय में उस विकल्प का निषेध वर्तता है क्योंकि वह जानता है कि विकल्प, वह राग है, जो आत्मा का स्वरूप नहीं, अपितु आत्मा से भिन्न है।

अतः किसी के साथ बात करने का विकल्प करना, वह दोष है—ऐसी समझपूर्वक जो स्वरूप में लीनतारूप मौन का सेवन करता है, उसको ही सच्ची वचनगुप्ति होती है—ऐसी वचनगुप्ति से अन्तर्बाह्य वचनप्रवृत्ति का नाश स्वतः होता है॥१८॥

श्लोक - १८ पर प्रवचन

फिर, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग वचनप्रवृत्ति का त्याग किस प्रकार करना ? - वह कहते हैं — १८-१८।

*यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्॥१८॥

आहाहा! यह मोक्षप्राभृत की भी यह गाथा है। नीचे है न, देखो न!

जं मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे णं तं तम्हा जपेमि केण हं॥२१॥

टीका - रूप अर्थात् शरीरादिरूप जो दिखायी देता है... यह शरीर, वाणी, धूल सब दिखती है **अर्थात् इन्द्रियों द्वारा मेरे से ज्ञात होता है, वह अचेतन होने से, (मेरे) बोले हुए वचनों को सर्वथा नहीं जानता;...** यह शरीर, मिट्टी जड़, वाणी जड़। उसे मैं कहूँ तो वह मेरे वचन को जानते नहीं। आहाहा! भगवान अन्दर ज्ञानमूर्ति प्रभु है, उसे तो मैं देखता नहीं। मेरे आत्मा को भी वह देखता नहीं। यह वाणी जड़ को देखता है। आहाहा!

'जं मया' मैं जो **इन्द्रियों द्वारा मेरे से ज्ञात होता है, वह अचेतन होने से, (मेरे) बोले हुए वचनों को सर्वथा नहीं जानता;...** सर्वथा जानता नहीं। यह जाने? यह जाने? वह तो मिट्टी जड़ है। आहाहा! ऐसा कहकर, अब मैं किसके साथ बोलूँ? वचन प्रवृत्ति का त्याग कराकर अन्दर में... आहाहा! समझ में आया? **वचनों को सर्वथा नहीं जानता; जो जानता (समझता) हो, उसके साथ वचन-व्यवहार योग्य है;...** जानता हो, उसके साथ वचन-व्यवहार करे। शरीर और वाणी, यह दिखते हैं, वे तो जानते नहीं। आहाहा! **अन्य के साथ (वचन-व्यवहार) योग्य नहीं, क्योंकि अति प्रसङ्ग आता है...** जड़ के साथ तू प्रसंग करे तो जड़ तो जानता नहीं। अति प्रसंग आता है। और जाननेवाला है वह तो अन्दर है, वह तो दिखता नहीं। आहाहा! वचन की प्रवृत्ति छुड़ाने का एक प्रयोग है। समझ में आया? आहाहा!

और जो रूप अर्थात् चेतन-आत्मस्वरूप जानता है, वह तो इन्द्रियों द्वारा दिखता नहीं,... जो आत्मा अन्दर है, वह आँख द्वारा दिखाई नहीं देता और दिखता है, वह तो जड़ है। किसके साथ मैं बोलूँ? कहते हैं। समझ में आया? ऐसे मार्ग को, भाई बोलते हैं न? नहीं। बोले वह दूसरा। वह वाणी। आत्मा बोलता नहीं। बोले वह आत्मा नहीं। वह ध्वनि जड़ है। कठिन काम। **यदि ऐसा है तो मैं किसके साथ बातचीत करूँ?** ऐसा कहते हैं। जब इन्द्रियों से ज्ञात होती है जो चीज़, वह जड़ है। और वह जो अन्दर है, वह तो इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होती। किसके साथ बोलूँ? ऐसा कहकर वचन की प्रवृत्ति रुकती है। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण ७, शनिवार, दिनांक ०४-१-१९७५, श्लोक-१८, प्रवचन-२५

.... जो अनादि काल से परवस्तु मेरी और मैं उसका, ऐसी दोनों की एकता मानकर पर की प्रवृत्ति मुझसे होती है, ऐसा अज्ञानी मानता है। शरीर की, वाणी की यह परपदार्थ है स्त्री, कुटुम्ब, व्यापार-धन्धा, वह परपदार्थ है। परपदार्थ में आत्मा के अस्तित्व का अभाव है। जिसमें आत्मा के स्वभाव का पर में अस्तित्व नहीं, उसका वह कुछ नहीं कर सकता। ऐसा मानकर जब अन्तर में-आत्मा में उतारना चाहता है, तब कहते हैं कि परवस्तु तो मैं नहीं, वह मेरी नहीं। अन्दर में पुण्य-पाप के भाव हों, वह विकार है, विकल्प है, जहर है। उनसे भी मैं तो भिन्न हूँ। और मेरा स्वरूप जो आनन्द और शान्ति, उसमें एकाग्र होने के लिये मैं दूसरे को समझाऊँ, वह किस प्रकार? कहते हैं। वाणी जड़ है। आहाहा! और जिसे मैं समझाना चाहता हूँ, वह तो इन्द्रिय द्वारा शरीरादि दिखता है। इन्द्रिय द्वारा शरीरादि दिखते हैं। वह तो जड़ है। वह जड़ तो कुछ समझता नहीं। और जो अन्दर आत्मा है, वह इन्द्रिय द्वारा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। मोहनलालजी! न्याय-लॉजिक से तो बात चलती है। आहाहा! तो फिर कहते हैं कि... भावार्थ है न? भावार्थ। १८वीं गाथा का।

जो शरीरादि रूपीपदार्थ इन्द्रियों से दिखते हैं,... यह शरीर, वाणी, यह शरीर, स्त्री, कुटुम्ब के, मकान वे सब इन्द्रिय द्वारा, जड़ पदार्थ का अस्तित्व इन्द्रिय द्वारा ज्ञात होता है। **वे अचेतन होने से...** वे तो सब अचेतन हैं। **बोले हुए वचनों को सर्वथा नहीं जानते...** शरीर जानता है कुछ? सेठ! समाधितन्त्र का अधिकार चलता है। थोड़ा सूक्ष्म है। समझ में आया? पोपटभाई! जिसे आत्मा की समाधि अर्थात् कि सम्यग्दर्शन (करना हो)... लोगस्स में आता है। कहा था। श्वेताम्बर में तो आता है। इसमें भी आता है लोगस्स में 'समाहिवरमुत्तमं दिंतु' लोगस्स के पाठ में आता है। 'ऐवंमये अभिथुआ, विहुयरयमला पहीणजरमणा, चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु।' 'समाहिरमुत्तमं दिंतु' यह क्या है? तुमने तो कुछ किया नहीं सामायिक या प्रतिक्रमण। ... आहाहा! यहाँ तो हम दस वर्ष की उम्र से। यह तो ८५ हुए। पिचहत्तर वर्ष से सब यह है। आहाहा! जिसे अर्थ की खबर नहीं, उसे यह क्या बोलता हूँ, इसकी खबर नहीं होती।

'समाहिवरमुत्तमं दिंतु' ऐसा शब्द आता है। हे भगवान! यह तो लक्ष्य करके बात करते हैं। कुछ देता नहीं। भगवान कुछ दे नहीं देते। भगवान तो परवस्तु है। परन्तु अपनी जो झंखना है 'समाहिवरमुत्तमं दिंतु' प्रभु! उत्तम समाहिवर—प्रधान फल मुझे समाधि दो। आहाहा! अर्थात्? इसके अर्थ की खबर न हो तो कुछ समझे नहीं।

कहा था न एक बार? लींबड़ी में छोटा-बड़ा उपाश्रय है। यह लींबडी-लींबडी। लींबडी है न झालावाड़ में। वहाँ एक महिला थी, वह पहले सामायिक करे न सामायिक? तो क्या कहलाता है? घड़ी... बेचारी को कुछ खबर नहीं होती। और उसमें दशाश्रीमाली की महिला थी। बनिया दो प्रकार के हैं न? दशाश्रीमाली और विशाश्रीमाली। तो विशाश्रीमाली के साथ जरा विरोध हुआ होगा। उसमें महिला बैठी थी। उसमें लोगस्स बोलती थी। उसमें 'विहयरयमला' आया। उसका अर्थ उसने यह किया कि विशा रोई मल्या। विशा समझते हो? दो जातियाँ हैं। एक दशाश्रीमाली, एक विशाश्रीमाली। एक ओसवाल हो तुम्हारे... परन्तु यहाँ अधिक दशाश्रीमाली। इसलिए वह कहे कि विहा रोई मल्या। वे कहें, अपना विवाद लोगस्स में कहाँ से आया? अपने दशाश्रीमाली और विशाश्रीमाली को मेल नहीं है। परन्तु यह पाठ में कहाँ से आया ऐसा? पोपटभाई! कण्ठस्थ तो किया होगा। अर्थ नहीं। देखो तो सही! यह क्या कहते हैं इसमें?

वहाँ तो उसमें ऐसा निकाला कि हे परमात्मा! हे सिद्ध भगवान! विहुयरयमला। वि—विशेष, हुय—अर्थात् धूय। प्रभु! आपने तो कर्मरूपी रज को धो डाला है, निकाल दिया है। विहुय-विशेष धूल। जैसे पंखों को धूल चिपट गयी हो और ऐसे खंखेरे और खिर जाती है। परन्तु हे नाथ! परमात्मा! विहय-विशेष धोई, कर्मरूपी रजकण सूक्ष्म धूल जो है आठ कर्म। उन्हें आपने टाला है। विहुय—टाला है। रय—रज और मल। मल अर्थात् शुभ-अशुभभाव। भाव है, मैल है, दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव, वे शुभभावरूपी मैल है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग की वासना, वह पापरूपी मैल है। उसमें यह आया था। विहुयरयमला। प्रभु! आपने टाले हैं कर्मरूपी रजकण को और शुभ-अशुभभावरूपी मैल को आपने टाला है। परन्तु इस अर्थ की कहाँ खबर? यहाँ तो पहाड़े बोले जाये। और सामायिक दो घड़ी पूरी हो गयी और चलो। समेटा। अरे! भगवान! बापू! मार्ग अलग है, भाई! आहाहा!

कहते हैं कि ऐसी देह की क्रियायें और अन्दर में शुभराग हो, उससे भी आत्मा तो पृथक् चीज़ है। क्योंकि वह शुभराग है, वह आस्रव है। नव तत्त्व है न? जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का विकल्प जो उठता है, वह पुण्य आस्रव है। और हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग वासना, यह भाव है पाप आस्रव है, परन्तु दोनों हैं आस्रव। आस्रव अर्थात्? नाव में जैसे छिद्र पड़ा हो और नदी में रखे तो पानी अन्दर प्रविष्ट होगा। उसी प्रकार पुण्य-पाप के भाव वह आस्रवरूपी छिद्र है। उससे नये कर्म आते हैं। धर्म नहीं। आहाहा!

कहते हैं कि ऐसे पुण्य-पाप के भाव आस्रव हैं और शरीरादि यह जड़ मिट्टी है, अजीव है। मैं उनसे भिन्न हूँ, यह मैंने जाना है। समझ में आया? अब मुझे अन्तर में उतरने के लिये... जिसे मैं देखता हूँ, वह तो जड़ है। मैं किसके साथ बोलूँ? जड़ तो समझते नहीं। यह आया न? **अचेतन होने से बोले हुए वचनों को सर्वथा नहीं जानते....** यह कथा नहीं है कि झट एक शब्द में समझ में आ जाये। भावकथा, प्रभु की धर्मकथा है। त्रिलोकनाथ वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव की वाणी में आत्मा का सम्यग्दर्शन अर्थात् समाधि, सम्यग्दर्शन अर्थात् 'चित्त समाधि होवे... बोले' आत्मा को शान्ति मिले, धर्म हो, इसका नाम धर्म। राग से भिन्न और मैं आनन्द और ज्ञान के स्वभाव से अभिन्न, ऐसी अन्तर में दृष्टि होना, उसे अन्तर में समाधि अर्थात् शान्ति होती है। उसे आनन्द के स्वभाव के सुख का वेदन होता है। आहाहा!

अतीन्द्रिय सुख, वह समाधि। आत्मा का जो अतीन्द्रिय आनन्द, आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान से भरा पड़ा पूरा तत्त्व है। आहाहा! समझ में आया? वस्तु है आत्मा, उसमें अनन्त बेहद ज्ञान, बेहद आनन्द, अनन्त शान्ति अर्थात् चारित्र, वीतरागता और स्वच्छता और प्रभुता, ऐसी अनन्त शक्तियों की मर्यादा बिना के सामर्थ्यवाली शक्तियों का वह भण्डार है। आहाहा! उसको भण्डारी कहते हो न तुम? तुम्हारे मित्र को। कैसा भबूतमल। वह भण्डारी है न? उसका ... है। वह भण्डारा-फण्डारा नहीं। यह भण्डार है। आहाहा!

कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन न, प्रभु! तेरी चीज़ में तो... वस्तु है न! अस्ति है

न! अस्तिवाला पदार्थ है न! तो अस्तिवाले पदार्थ में क्या है ? उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता... आहाहा! ऐसी-ऐसी अनन्त शक्ति, गुण, सत्त्व, स्वभाव से भरपूर यह पदार्थ है। आहाहा! उसे मुझे अब अनुभव करना है, कहते हैं। इसलिए अनुभव के लिये मैं पर के साथ बोलने जाऊँ तो विकल्प उठेंगे, ऐसा कहते हैं। और वह जिसे मैं समझाना चाहता हूँ, वह तो मुझे इन्द्रियों द्वारा जड़ दिखाई देता है। वह तो कुछ समझते नहीं। यह कहते हैं, देखा!

सर्वथा नहीं जानते-नहीं समझते और जिसमें जानने की सामर्थ्य है,... अन्दर जानने की जिसकी शक्ति है। आहाहा! जिसकी भूमिका में जानने का स्वभाव है, ऐसा जो यह भगवान आत्मा... आहाहा! यह जानने के स्वभाववाली शक्ति **वह चैतन्यस्वरूप आत्मा, अरूपी होने से,...** वह तो अरूपी है। भगवान आत्मा में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं है। वह **इन्द्रियों द्वारा दिखता नहीं;...** आहा! वह इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होता। इन्द्रियों द्वारा तो यह जड़ और रूपी ज्ञात होता है।

अतः अन्तरात्मा विचारता है... अन्तर आत्मा। आहाहा! मैं शुद्ध आनन्दघन अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति हूँ। आहाहा! मैं यह पुण्य और पाप के विकल्प, राग और शरीरादि वह मुझमें नहीं है। जो मुझमें यह है—ऐसा माने, वह बहिरात्मा है। बहिरात्मा अर्थात् ? जो आत्मा में नहीं है, ऐसी जो पुण्य और पाप की वृत्तियाँ और शरीर, वह बहिर् है। और बहिर् है, वह मेरे हैं, यह माननेवाले को बहिरात्म मिथ्यादृष्टि मूढ़ कहा जाता है। आहाहा! समझ में अया ? कहाँ गया ?

यहाँ तीन प्रकार की व्याख्या आयी है न! उसमें यह अन्तरात्मा की बात चलती है। आत्मा की तीन दशायें—एक बहिरात्मदशा, एक अन्तरात्मदशा, एक परमात्मदशा। बहिरात्मदशा अर्थात् क्या ? कि जो प्रभु आत्मा आनन्द और ज्ञान के स्वभाव से छलाछल स्वभाव से भरा है। उसे अपना न मानकर, उसमें से निकल जाये ऐसे पुण्य और पापभाव और उनसे पृथक् शरीर, वाणी, कर्म वह परचीज़ बहिर् है। आत्मा के स्वभाव में नहीं है। उस बहिर् चीज़ को मेरी माने, वह बहिरात्मा कहा जाता है। वह मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। आहाहा! समझ में आया ?

बहिर्—जो चैतन्य के स्वभाव में नहीं। शरीर, वाणी, कर्म, यह स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देश और पुण्य-पाप के भाव, वे स्वभाव में नहीं हैं। वह स्व-भाव, अपना... स्व-अपना भाव। आनन्द और ज्ञान का भाव। उसमें यह पुण्य और पाप तथा शरीर, वाणी, मन नहीं है। स्त्री, कुटुम्ब उसमें नहीं है। वे नहीं, उसमें उसे अपना माने, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि मूर्ख आत्मा है। कहाँ गये सब तेरे आये या नहीं? सब आ गये। देरी हो गयी थोड़ी। कहो, समझ में आया? आहाहा!

अब अन्तरात्मा। बहिरात्मा की व्याख्या की। अन्तरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव। अर्थात् धर्म की पहली सीढ़ीवाला। धर्म की पहली श्रेणीवाला। वह क्या मानता है? क्या जानता है? मैं तो पुण्य और पाप के विकल्प से भिन्न हूँ। क्योंकि पुण्य और पाप की दोनों वृत्तियाँ हैं, वे आस्रव हैं। मेरा तत्त्व तो ज्ञायक आनन्द और शुद्ध है। इसलिए मैं इस आस्रवतत्त्व से भिन्न हूँ और शरीर-वाणी तो अजीव है। उससे तो भिन्न हूँ ही। आहाहा! समझ में आया? अरे! ऐसी बातें धर्मकथा। उसमें कुछ करो, यह करो, व्रत करो, अपवास करो, यात्रा करो, यह तो समझ में आये। क्या समझना है इसमें अब? अनादि काल का अज्ञानी ने माना है कि मैं आहार को छोड़ूँ। तो आहार तूने ग्रहण किया है तो छोड़ूँ? आहार तो जड़ चीज़ है। वह तो जड़ का अस्तित्व है। उस जड़ के अस्तित्व में तेरा तो अभाव है और तुझमें उस जड़ का अभाव है। तो फिर जड़ को छोड़ूँ, यह कहाँ से आया? आहाहा! अज्ञानी ऐसा मानता है कि यह आहार छोड़ता हूँ, यह रस छोड़ता हूँ। वह परचीज़ जो अस्तित्व धराती है, उसके कारण से, वह इसमें नहीं। तथापि उसे छोड़ता हूँ, (ऐसी मान्यतावाला) यह उसका स्वामी होता है, वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

तब अन्तरात्मा, वह चीज़ जाये और आवे, वह उसके कारण से है; मेरे कारण से नहीं। मुझमें जो कुछ पुण्य और पाप के विकल्पों की वृत्ति होती है, वह चीज़, मेरा स्वरूप जो शुद्ध चैतन्यघन है, उसमें वह नहीं है। इसलिए वह मैं नहीं हूँ। उसमें वह नहीं, इसलिए, वह मैं नहीं। आहाहा! ऐसी कठिन बात। पोपटभाई! यह सब छह लड़के और पैसे यह तुम्हारे नहीं? वे उनमें हैं। आहाहा!

अन्तरात्मा। वह पहले बहिरात्मा की बात की। अन्तरात्मा, अन्तर, अन्दर में जो वस्तु है, जो पुण्य और पाप के रागरहित चीज़ है, उसे अपनी अनुभव करता है और मानता है। तथापि अभी अस्थिरता में उसे राग-द्वेष के भाव होते हैं, इसलिए उसे परमात्मा न कहकर उसे अन्तरात्मा कहा जाता है। और परमात्मा—अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा। वे तो पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान की दशा को प्राप्त हुए। उन्हें अब अस्थिरता के राग-द्वेष भी नहीं और अपूर्णता भी नहीं। ऐसी पूर्ण दशा को प्राप्त हो, उन्हें परमात्मा कहा जाता है। कोई जगत का कर्ता है, इसलिए परमात्मा है, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

अपना परमस्वरूप ज्ञान, शान्ति और आनन्द से (परिपूर्ण है)। शान्ति शब्द से चारित्र—वीतरागता। आनन्द शब्द से सुख। उससे पूर्ण भरा है। ऐसी प्रतीति और अनुभव हुआ, वह अन्तरात्मा। परन्तु परमात्मा को तो उस पर्याय में पूर्णदशा प्रगट हो गयी। अरिहन्त भगवान, सिद्ध भगवान। समझ में आया? महाविदेह में अरिहन्त भगवान विराजते हैं। सीमन्धर भगवान वर्तमान में विराजते हैं महाविदेह में। अरिहन्तपद में हैं। उन्हें यह पूर्णदशा प्रगट हो गयी। और शरीररहित हो जायेंगे, तब सिद्ध होंगे। यह चौबीस तीर्थंकर हैं, वे तो शरीररहित होकर सिद्ध हुए हैं अभी। अभी अरिहन्त नहीं हैं। वे णमो सिद्धाणं में हैं और सीमन्धर भगवान महाविदेह में विराजते हैं, वे णमो अरिहंताणं में हैं। वे परमात्मपद को प्राप्त हैं। वह अपना जो परमस्वरूप शक्तिरूप से था, उसे व्यक्तरूप प्रगट करके पूर्णानन्द की दशा और पूर्ण ज्ञान को प्राप्त हो, उसे परमात्मा कहते हैं। उसमें से यह अब अन्तरात्मा की बात है।

जिसने भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, मेरी भूमिका में, मेरे अस्तित्व में, मेरी सत्ता में पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शान्ति से भरपूर मेरी सत्ता है। मैं यह पुण्य-पाप, दया-दान, व्रत-भक्ति के जो विकल्प उठते हैं, उनसे मैं भिन्न हूँ। आहाहा! ऐसा जिसने आत्मा को राग से भिन्न करके आत्मा के सत्ता के शुद्धस्वभाव को अनुभव किया और जाना है, उसे अन्तरात्मा धर्मी कहा जाता है। आहाहा! वह अन्तरात्मा विचार करता है। है? कि किसके साथ बोलूँ? आहाहा!

'किसी के साथ बोलना या वचन-व्यवहार की प्रवृत्ति करना निरर्थक है...

आहाहा! अब इसमें धन्धा-व्यापार की तो कहाँ बातें रहीं? वह तो उसके कारण से... परमाणु अजीवतत्त्व है पैसा, दाना, मकान वह तो उसके कारण से आवे, उसके कारण से जाये और उसके कारण से टिकते हैं। उसमें आत्मा का कुछ अधिकार नहीं है। आहाहा! इस प्रकार अन्तरात्मा अपने स्वरूप को ज्ञातादृष्टा के भाव से अनुभव करता हुआ ऐसा विचार करता है। यह तो बोलना भी बन्द करके ध्यान में जाने के लिये कहते हैं। आहाहा!

अतः अन्तरात्मा विचारता है कि 'किसी के साथ बोलना या वचन-व्यवहार की प्रवृत्ति करना निरर्थक है... अभी इसका स्पष्टीकरण आयेगा, हों! **क्योंकि जो जाननेवाला चैतनद्रव्य है, वह तो मुझे दिखता नहीं...** आहाहा! बापू! यह तो मार्ग अन्तर का है। यह वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर में यह मार्ग है। ऐसा मार्ग अन्यत्र कहीं नहीं है। तीन काल में कहीं नहीं होता। आहाहा! कहते हैं, **और इन्द्रियों द्वारा जो रूपी शरीरादि जड़पदार्थ दिखते हैं, वे चेतनारहित होने से...** इसमें चेतना नहीं है, इसमें-जड़ में। चेतनावाला आत्मा तो भिन्न है। यह तो जड़ है, मिट्टी है। वाणी-जड़ मिट्टी है। आहाहा! **कुछ भी जानते नहीं,...** यह चेतनारहित होने से जानते नहीं। **तो मैं किसके साथ बात करूँ?** मौन होकर ध्यान में रहने की यह एक कला है। आहाहा! कहो, हसुभाई! अब ऐसी बात धारकर, उसे अब पत्थर का वापस हकारना। परन्तु वहाँ रुपये मिलते हैं न? रुपये मिलते हैं? ममता मिलती है। यह पैसा यहाँ कहाँ घुस गया? पैसा, वह मेरा है, ऐसी ममता इसे मिलती है। मानता है कि मुझे पैसा मिला। उल्टा मानता है। आहाहा!

धर्मी जीव... भगवान आत्मा चैतन्य के अस्तित्व से भरपूर वह मैं किसके साथ बोलूँ? बाद में आयेगा, हों! बोलना वह कहीं आत्मा की क्रिया नहीं है। परन्तु वह विकल्प है और उसे तोड़ना के लिये बात करते हैं। आहाहा! मैं बोलते, उसे समझाते, सामने की चीज़ तो जड़ है। वह तो कुछ समझे नहीं। और अन्दर में चेतन है, वह तो दिखता नहीं। तब मैं किसके साथ बोलूँ? आहाहा! तब उसमें कोई प्रश्न करे कि ऐसा बोले और फिर बातें वापस बोलने की करते हैं। यह सम्प्रदाय में प्रश्न हुआ। बापू! यह शैली आवे, तब ऐसी आवे। समझ में आया? तथापि उसका निर्धार यह है कि बोलना,

वह मेरी क्रिया नहीं है। और बोलना, वह मेरा निरर्थक जाता है। जड़ जानता नहीं, चेतन जानता है, वह दिखता नहीं। आहाहा! ऐसा उपदेश!

मैं किसके साथ बात करूँ? किसी के साथ भी बातचीत करना बनता नहीं है; अतः अब तो मुझे अपने स्वरूप में रहना ही योग्य है,... बोलने की भाषा भी मेरी नहीं और विकल्प उठे कि बोलूँ, वह विकल्प भी मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरात्मा जीव, ऐसा जानता और मानता है। समझ में आया? एक व्यक्ति आता था। (कहे), हम धर्म सरल मानते थे और तुमने कर दिया महँगा। एक व्यक्ति ऐसा आया था। बापू! धर्म तो है, वह है, भाई! तुझे धर्म की खबर नहीं। भगवान की पूजा की, यात्रा की, (इसलिए) हो गया धर्म। भाई! ऐसा नहीं है, बापू! इस पूजा-यात्रा में जो देह की क्रिया तो जड़ की है। उसमें बहुमान का भाव आवे, वह तो शुभराग पुण्य है। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं कि **बोलने का विकल्प-राग करना योग्य नहीं है।** यहाँ लाना है। बोलने का विकल्प उठता है, वह राग है। आहाहा! केवली परमात्मा को जो वाणी आती है, उसमें राग नहीं है। भगवान जो अरिहन्त परमात्मा उन्हें तो वीतराग होने के पश्चात् केवलज्ञान होता है और उन्हें वाणी निकलने में उन्हें राग नहीं होता। वाणी स्वतन्त्र निकलती है। केवली को ऐसा नहीं कि इसे मैं समझाऊँ, इसलिए बोलूँ। ऐसा है कुछ? वह तो जड़ की भाषा है, उसके कारण से निकलती है। स्वयं तो केवली हैं। स्वयं तो जानते हैं कि इस काल में वाणी निकलेगी, इस काल में इस व्यक्ति को समझना पड़ेगा (-समझ में आयेगा) उसके कारण से। वे सब जानते हैं। आहाहा! परन्तु छद्मस्थ को अभी पूर्ण दशा प्राप्त नहीं हुई, इसलिए उसे बोलने का जो विकल्प आवे, वह मैं किसलिए करूँ? क्योंकि उसमें मुझे लाभ नहीं, इसी प्रकार उसे लाभ नहीं। वह अन्दर न ज्ञात हो, उसे आत्मा मैं व्यक्त करना चाहता हूँ, वह तो ज्ञात होता नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग कठिन भाई। आहाहा!

इस श्लोक में आचार्यदेव ने विभावरूप बाह्यविकल्पजाल से छूटने का... क्या कहा यह? कि यह विभाव है। मैं दूसरे को समझाऊँ, ऐसी जो वृत्ति उठती है न? वह

विकल्प है, विभाव है, राग है, दु:ख है। आहाहा! भाई! बिच्छू काटे, सर्प काटे तो दु:ख होता है। पुत्र मर जाये दो वर्ष के विवाहवाला, विवाह करके तुरन्त, तो दु:ख होता है। यह दु:ख कहाँ से आया? कहते हैं। भाई! तुझे खबर नहीं। यह समझाने का विकल्प है, वह राग है, वह आकुलता है। आहाहा! दु:ख है। यह तो धीरे से समझने की चीज़ है, बापू! आहाहा!

कहते हैं, **इस श्लोक में आचार्यदेव ने विभावभाव...** जो समझाने का विकल्प उठता है, वह विभावभाव है, वह स्वभावभाव नहीं। आहाहा! चैतन्य का स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा और आनन्दस्वरूप, उससे (विपरीत) वृत्ति विकल्प उठे, वह तो आनन्द से उल्टी दशावाला दु:खरूप भाव है। आहाहा! उसे **विकल्पजाल से छूटने का एक उत्तम उपाय दर्शाया है।**

विशेष - किसी के साथ बोलना, यह व्यवहार कथन है;... अब स्पष्टीकरण करते हैं। **निश्चयनय की दृष्टि से कोई जीव, बोल सकता ही नहीं है।** वाणी आत्मा कर नहीं सकता। आहाहा! क्योंकि वाणी की ध्वनि, वह जड़ की दशा है। वह भाषा की ध्वनि है। उस भाषा की ध्वनि आत्मा नहीं कर सकता। गजब! बड़े-बड़े पत्थर तोड़े, पर्वत तोड़े, रेल निकाले नीचे से। नहीं निकलती? रेल रास्ते में आती है। ... आती है उसके पहले। ऊपर। रेल पूरी चले। यह सब कर सकता है न? मनुष्य कर सकता है न?

मुमुक्षु : अंग्रेज सरकार ने....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं किया। वह तो जड़ की अवस्था है। भगवान! तुझे खबर नहीं, भाई! वह जड़ के रजकणों की अवस्था का उस प्रकार का काल है, इसलिए उन रजकणों की अवस्था, उस क्षण में ऐसी उत्पन्न हुई है। आहाहा! भाई! कठिन भाई यह तो। दुनिया से तो सब विरुद्ध है। कहो, मोहनलालजी! यह इलायची की थैलियाँ लावे कहाँ से? मुम्बई के बाहर से लावे कहीं से? उसमें—गोदाम में। आत्मा लावे या नहीं? कहते हैं कि यह बोलना है न, बोलना? आवाज है न? रेकोर्डिंग उतरती है न? आत्मा उतरे उसमें? यह तो जड़ है। आहाहा! जड़ की जो ध्वनि उसे आत्मा बोले, ऐसा कहना यह व्यवहार का कथन है।

निश्चयनय की दृष्टि से... अर्थात् सच्ची दृष्टि से। निश्चय अर्थात् सच्ची दृष्टि से **कोई जीव, बोल सकता ही नहीं है।** आहाहा! कहो! मैंने इसे एक घण्टे धोधमार समझाया। भाषण चला। भगवान! शान्त हो न! यह भाषण की पर्याय तो जड़ की है न। आहाहा! यह परमाणु की दशा है, भाई! तू तो ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाववाला तत्त्व, वह भाषा की पर्याय में कहाँ प्रविष्ठ हुआ है? बहुत सूक्ष्म काम।

जो वाणी निकलती है, वह भाषावर्गणारूप पुद्‌गलों का वचनरूप परिणमन है;... आहाहा! वचनवर्गणा। वर्गणा अर्थात् समूह। भाषा के परमाणु का समूह है। उसमें से भाषा उठती है। आत्मा से नहीं। आत्मा तो अरूपी है। भाषा तो रूपी है। आहाहा! कहाँ इसे मिथ्याशल्य लगती है, इसकी इसे खबर नहीं। मैं भाषा करूँ, बराबर भाषा बोलूँ, एक घण्टे भाषण में त्रुटक पड़े बिना भाषा बोलूँ। अरे! भगवान! सुन तो सही प्रभु! भाषा तो जड़ है। परमाणु की दशा है, अजीव रजकण की वह पर्याय है। आहाहा! उसे आत्मा कर सके? ऐसा आत्मा पंगु? भाई! पर के लिये पंगु। पर का नहीं करने के लिये पंगु है। अपने स्वरूप की रचना करके स्थिर होने के लिये पुरुषार्थी है। आहाहा! जगत से बहुत उल्टा-विरुद्ध है, हों! आहाहा!

वह आत्मा का कार्य नहीं है। भाषा की दशा है, वह तो अजीव रजकण की दशा है। वह अजीव की दशा, वह आत्मा का कार्य नहीं। ऐसा सुना भी नहीं हो। भाई, मोहनलालजी! एक तो और धन्धे में रचे-पचे हों और धन्धे में से निकलकर जहाँ सुनने जाये तो ऐसा करो... ऐसा करो... ऐसा करो... पर की दया पालन करो। यहाँ कहते हैं कि पर की दया आत्मा पाल नहीं सकता। क्योंकि पर के जीव को शरीर के संयोग में रहना, यह उसकी पर्याय के कारण से है। तूने उसका विकल्प किया, इसलिए वहाँ दया पले, परद्रव्य की अवस्था का अस्तित्व तेरे कारण से रहता है, (ऐसा तीन काल में नहीं है)। भारी कठिन बातें, बापू! यह तो सब उड़ाकर अन्तर में (जाने की बात है)। आहाहा! कहते हैं, यह कार्य मेरा नहीं।

धर्मी सम्यग्दृष्टि अन्तर आत्मा ज्ञानस्वरूप से विराजमान, उसके भानवाला, ऐसा जानता और मानता है कि रजकण की भाषा की ध्वनि उठती है, वह कार्य मेरा नहीं है।

कहो, फिर यह क्या तुम्हारे तेल का सुधार करना और... वहाँ सब करते हैं, यह सुमनभाई करते हैं, ऐसा लोग कहते हैं। ऐसो में। क्या कहलाता है वह? (रिफाईनरी) ।यह करते हैं, लो! आठ हजार का वेतन मुफ्त देते होंगे कोई? काम-बाम अच्छा करते होंगे तब न? यह अवकाश का वेतन मिलता है, इसे महीने का। किसका? यह क्या कहलाता है? ऐसो। ऐसो नहीं? उड़ता घोड़ा। यह था। यह तो अपने पहले का जाना हुआ। ऐसो की कल्पनी है न? अब तो सरकार ने ले ली है ऐसो की कम्पनी। परन्तु उसमें है। आहाहा! वह तेल साफ करने में है। तेल साफ करना कहलाता है उसे? क्या कहलाता है? (रिफाईनरी) हमारी भाषा है। तुम्हारी ऐसी। गुजराती भाषा। आहाहा!

भगवान तो ऐसा कहते हैं, तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर (कहते हैं) कि भाषा की पर्याय होती है, उसे आत्मा नहीं करता। तू किसके करे? बापू! भाई! 'मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञान है, शकट का भार ज्यों श्वान खींचे।' श्वान। बड़ी गाड़ी होती है न? दो सौ मण (भरा हो)। नीचे कुत्ता (हो)। नीचे कुत्ता हो जरा छुए तो कहे, मुझसे चलती है। चले। ऐई! पोपटभाई! इसी प्रकार दुकान की गद्दी पर ठीक से बैठे और पाँच-पाँच दस-दस हजार की बिक्री हो तो यह सब मुझसे होता है। ऐसा (माननेवाला) वह तो कुत्ते जैसा है।

यहाँ तो वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर ने छह द्रव्य देखे। जाति से छह द्रव्य। आत्मा, पुद्गल, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल। भगवान के ज्ञान में छह द्रव्य आये हैं। और वे भी अनन्त आत्मा, परमाणु अनन्त, कालाणु असंख्य, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश एक-एक। इन प्रत्येक द्रव्य की पर्याय का करनेवाला वह-वह द्रव्य है। उसकी पर्याय दूसरा करे तो उसकी पर्याय / कार्य बिना का वह द्रव्य हुआ, तो ऐसा नहीं हो सकता। आहाहा! भारी कठिन। भंगभेद कठिन।

कहते हैं, यह वचनरूप भाषावर्गणा, वह कार्य मेरा नहीं है। **उस कार्य में अज्ञानदशा में जीव के बोलने का विकल्प (इच्छा)...** बोलने में, भाषा की दशा में अज्ञानी की इच्छा, वह मात्र निमित्त है। निमित्त का अर्थ? उससे होता है, ऐसा नहीं। आहाहा! है? **अज्ञानदशा में जीव के बोलने का विकल्प (इच्छा) निमित्तमात्र है।** यह

१००वीं गाथा में आया है न? भाई! (समयसार गाथा) १०० में। जरा इसके साथ मिलाने के लिये। परवस्तु की जो क्रिया शरीर, वाणी, मन की होती है, उसमें निमित्त कौन? उपादान तो उससे होता है। परन्तु उसमें निमित्त कौन? कि अज्ञानी का जो योग और राग का कर्ता होता है, उस-उस योग और राग को निमित्त कहा जाता है। कठिन बातें, भाई!

फिर से। १००वीं गाथा है, समयसार की १०० वीं। जो यह शरीर, वाणी, यह परवस्तु उसका जो अस्तित्व है—अस्ति। उसके काल में वह पर्याय होती है। उसे आत्मा तो नहीं करता। होवे तो वह जड़ की पर्याय जड़ से। परन्तु उसमें निमित्त कौन? कि निमित्त जो कोई राग और योग की कम्पन का करनेवाला जो अज्ञानी, उसे निमित्त कहा जाता है। आहाहा! यह वहाँ अज्ञानी लिया है न? सूक्ष्म पड़े, परन्तु बापू! मार्ग तो यह है। आहाहा!

अरे...! भाई! भगवान परमात्मा यह केवलीपण्णंतो धम्मो। मांगलिक में प्रतिदिन बोले। अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगल, केवलीपण्णंतो धम्मो (मंगलं)। परन्तु किसे? अरिहन्ता शरणं, सिद्धा शरणं, साहू शरणं, केवलीपण्णंतो धम्मो शरणं। यह शरण क्या? भाई! यह राग और योग जो कंपते हैं, उसका भी कर्ता नहीं होता और, उसका ज्ञाता रहता है और उसके ज्ञान में जो क्रिया जड़ में होती है, वह इस ज्ञान में ऐसे निमित्त होती है। अज्ञानी उस जड़ की क्रिया में उसका योग और इच्छा निमित्त होती है, क्यों? कि योग का कम्पन और इच्छा का कर्ता होता है इसलिए। यह ज्ञाता और दृष्टा रह नहीं सकता इसलिए। न्याय से समझ में आता है? आहाहा! हसमुखभाई! सब सूक्ष्म है, हों! तुम्हारे मुश्किल-मुश्किल से... समझना पड़ेगा, सुखी होना हो तो। यह दुःखी होने के गोते खाकर मर गया। आहाहा! यह पैसा दो-पाँच करोड़ आवे, धूल करोड़ आवे, वह सुखी है। बड़ा दुःखी है। समझ में आया? और इस पैसे के स्वामी हम हैं, यह माननेवाले, जैसे भैंस का स्वामी पाड़ा, वैसे जड़ के स्वामी जड़ हैं। यहाँ तो ऐसी बात है, भाई! यहाँ कहीं मक्खन-बक्खन नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : मक्खन महँगा हो गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मक्खन भी महँगा हो गया। आहाहा!

कहते हैं, जो पर के कार्य। पर जीव बचते हैं न, उसके कारण से। उसकी आयुष्य के कारण से। इसे विकल्प आया कि उसे बचाऊँ। परन्तु वह विकल्प कहीं उसे बचा नहीं सकता। एक बात। तब वह बचने का कार्य जो वहाँ हुआ, उसमें अज्ञानी के विकल्प को निमित्त कहा जाता है। क्योंकि वह विकल्प का कर्ता होता है, ज्ञाता-दृष्टा नहीं रहता इसलिए। आहाहा! और धर्मी जीव को विकल्प हो, उसे वह जानता है। कर्ता नहीं होता। आहाहा! राग है, वह विकल्प है, विभाव है। सम्यग्दृष्टि जीव उसका रचनेवाला नहीं होता। परन्तु उसका जाननेवाला रहता है। इसलिए मिथ्यादृष्टि राग और योग के कल्पन का कर्ता, उस पर के कार्यकाल में वह कार्य तो वहाँ होता है, उसके काल में, परन्तु यह राग और कम्पन का कर्ता और उसे निमित्तरूप से कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? उस पत्थर में रंग छिड़कते हैं न तुम्हारे... क्या कहलाता है? टाईल्स। अलग-अलग छिड़कते हैं न? कहते हैं कि वह क्रिया तो जड़ की जड़ में होती है। उसके-जड़ के कार्यकाल में उस परमाणु का उस प्रकार से ऐसे पड़ने का कार्यकाल है। उसके कारण से वह होता है। अब यह कार्यकाल तो उससे है परन्तु उसे निमित्त किसे कहना उसमें? कि जो कोई विकल्प उठाता है और उस विकल्प का कर्ता होता है, वह कर्ता होनेवाला उस कार्यकाल में निमित्तरूप से—उपस्थितरूप से कहा जाता है। आहाहा! इतना सब सीखना!

तब धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव, मैं तो ज्ञान, दर्शन और आनन्दस्वरूप हूँ। यह विकल्प जो उठा पर के कार्यकाल के समय, वह विकल्प भी मेरा कर्तव्य नहीं। आहाहा! मेरे स्व-परप्रकाशक ज्ञान की दशा में वह विकल्प और वह क्रियाकाल उसका है, वह मेरे ज्ञान में निमित्त होता है। मेरे ज्ञान में वह निमित्त होता है। उसके कार्य में मैं निमित्त होता हूँ, (ऐसा नहीं)। आहाहा! बहुत सूक्ष्म पड़े, हों! ऐसा मुम्बई में सूक्ष्म पड़े। वहाँ दस-दस हजार लोग इकट्ठे हों, उसमें स्थूल बातें की जाती हैं। परन्तु बैंगलोर में ऐसा नहीं वाँचन होता, हों! वापस। यहाँ तो निवृत्ति (रही न)। वहाँ तो जरा दृष्टान्त आवे, ऐसा आवे। दस-दस हजार में। यहाँ भोपाल जाना है, वहाँ पचास हजार लोग इकट्ठे होनेवाले हैं, लों! माघ कृष्ण दूज। बड़ा मन्दिर। पचास हजार, कोई तो लाख कहते थे, खीमचन्दभाई।

लाख ... है। भगवान का कुण्डलपुर है न? भगवान महावीर भगवान की। वहाँ गजरथ है। वे लोग अधिक देखने आते हैं। यहाँ तो जिसे समझने की गरज हो, वह आवे। तो भी कहते हैं, ५० हजार आयेंगे, लो। माघ कृष्ण दूज। अब उसमें ऐसी बात रखे तो? परन्तु अमुक-अमुक शैली से बात तो ऐसी ही आती है। परन्तु अमुक शैली से.. दृष्टान्त देकर, ऐसा करके समझे। आहाहा!

कहते हैं कि **उस कार्य में अज्ञानदशा में जीव के बोलने का विकल्प (इच्छा) निमित्तमात्र है।** ...देखो न! यह सब १००वीं गाथा का डाला है। १००वीं गाथा को मिलान करते हैं। इसने सुना है न! सब सुना है। यहाँ व्याख्यान सुनने के बाद यह टीका की है। उसने सुना है। कुछ पढ़ा था, नहीं? क्या? छोटाभाई। बी.ए. (बी.ए. ओनर्स) क्या कहा यह? यह शरीर है न देखो यह। यह मुख ऐसे-ऐसे चलता है। यह उसका कार्य है। किसका? यह जड़ का। यह कार्य तो उसके स्वकाल में अर्थात् उस रजकण की पर्याय उसके जन्मक्षण में अर्थात् उत्पत्ति के काल में, वह भाषा ऐसी-ऐसी होती है। वह कार्य आत्मा तो करता नहीं। परन्तु अज्ञानी आत्मा, जो राग के विकल्प की रचना करनेवाला मैं हूँ, ऐसा जो ज्ञान, राग का कर्ता होता है, वह उस कार्यकाल में उसका निमित्त कहा जाता है। क्योंकि उसकी दृष्टि पर के ऊपर है। आहाहा!

धर्मी और ज्ञानी की दृष्टि चैतन्यस्वभाव के ऊपर है। सम्यग्दृष्टि अभी चौथे गुणस्थान में, हों! आहाहा! अभी तो चौथे की खबर नहीं होती और यह सब साधु होकर बैठे। व्रत लेकर। धूल भी नहीं। आहाहा! कहते हैं, जिसे अन्दर आत्मा का ज्ञान हुआ। ज्ञान की अपेक्षा से आत्मज्ञान, श्रद्धा की अपेक्षा से समकित। इस सम्यग्दर्शन के भान में जो धर्मी, उसे राग होता है, वह उसे नहीं होता। उसका वह जाननेवाला होता है। यह राग है, ऐसा जानता है। मुझमें नहीं। मुझमें तो स्व और पर के ज्ञान की उत्पत्ति (होती है), वह मैं। राग की उत्पत्ति, वह मैं नहीं। आहाहा! ऐसा भेदज्ञान ऐसा स्वरूप वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर के अतिरिक्त ऐसा विभाजन कहीं है नहीं। समझ में आया?

महाविदेह में भगवान परमात्मा विराजते हैं, वहाँ कुन्दकुन्दाचार्य गये थे। यह

सब वाणी कुन्दकुन्दाचार्य की है। टीका आचार्य की। देखो! सामने है न? यह कुन्दकुन्दाचार्य है। यह टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य है। टीकाकार। समयसार, प्रवचनसार, ... क्या कहलाता है? पंचास्तिकाय की। नियमसार के टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव। टीका करनेवाले, हों! मूल श्लोक ... यह ऐसा कहते हैं कि शास्त्र की रचना के काल में परमाणु की पर्याय का कार्यकाल था, वह हुआ। उसमें निमित्त हम नहीं। आहाहा! उसमें निमित्त तो राग और कम्पन का कर्ता हो, वह कार्य के काल में मैं निमित्त हूँ, ऐसा (अज्ञानी) मानता है। आहाहा! गजब बात है न। निमित्त भी नहीं। उस काल में जो विकल्प जरा उठा और कार्यकाल तो अक्षर की पर्याय का उस प्रकार से रचने का हुआ था, उसमें इच्छा निमित्त कहना वह अज्ञानी की इच्छा निमित्त कहना। आहाहा! ज्ञानी को तो इच्छा और वह कार्य उसके ज्ञान में यह निमित्त होते हैं। सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा! बापू! तेरी लीला अलौकिक है। आहाहा! जिसने भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप, ऐसा जहाँ अनुभव किया और जाना सम्यग्दर्शन में। उसे अक्षर का रचना, वह कार्य तो मेरा नहीं, परन्तु उस कार्य में निमित्तरूप विकल्प को, योग को कहना, वह मैं नहीं। योग और विकल्प मैं नहीं। मैं तो उसका जाननेवाला हूँ। आहाहा!

बापू! प्रभु का मार्ग अलग है। वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर तीर्थंकरदेव के मार्ग की पद्धति बहुत सूक्ष्म, भाई! अरे! इसे समझे बिना अनन्त काल से भटकता है, दु:खी है। थोड़ा काल मनुष्य में आवे, २५-५०-६० वर्ष रहे। उसमें मरकर जाये ढोर में, नरक में। आहाहा! बापू! तेरे भटकने के... यह तूने रोकर तो दु:ख सहन करे परन्तु देखनेवाले को रुदन आया। ऐसे तेरे दु:ख थे, भाई! तुझे खबर नहीं। भूल गया। आहाहा! ...गुलाबचन्दभाई ने न्याय रखा है न? कि यह बोलने का जो विकल्प, उस कार्य में अज्ञानदशा में जीव का बोलने का विकल्प निमित्तमात्र है। यह उसका अर्थ है। इतना अर्थ किया, यह इसका अर्थ किया। कि जड़ के कार्य तो जड़ के कारण से होते हैं। पर के, आत्मा के कार्य की पर्याय भी उसके कारण से होती है। उस काल में इच्छा उसे निमित्त कही जाती है। किसकी? उस अज्ञानी की इच्छा। अज्ञानी इच्छा का कर्ता होता है, इसलिए इच्छा मेरी है, ऐसा माना है, ऐसी इच्छावाला जीव, उसकी इच्छा उस कार्य के समय निमित्त कही जाती है। परन्तु इच्छा मेरे स्वरूप में ही नहीं है, ऐसा सम्यग्दृष्टि

जीव... आहाहा! मुझमें तो इच्छा और मेरा ज्ञान हो, ऐसा मैं स्व-परप्रकाशक ज्ञान हूँ। ऐसे ज्ञानी को वह इच्छा ज्ञान में जानने में निमित्त होती है। परन्तु इच्छा पर को निमित्त होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! कहो, समझ में आया? कुछ समझ में आया, ऐसा कहा जाता है न?

बापू! इसने सत्य का घर देखा नहीं। आहाहा! और ऐसा का ऐसा हाँक रखा है वीतराग के नाम से। भगवान दया पालने का कहते हैं, भगवान व्रत पालने का कहते हैं, भगवान पूजा-भक्ति का कहते हैं, भाई! सुन न, बापू! भाई! यह तो अन्दर विकल्प आवे, उसे बतलाया है। वह करनेयोग्य है और कर्तव्य है, ऐसा नहीं बतलाते। आहाहा! कर्तव्यरूप से तो ज्ञाता-दृष्टापने रहना, यह राग आवे, उसे जानने के कार्य में रहना, राग के कार्य में नहीं जाना, पर के कार्य में तो निमित्तरूप से भी नहीं जाना। आहाहा! मोहनभाई! आहाहा! ऐसा मार्ग है, बापू!

विकल्प और वाणी — इन दोनों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। न तो विकल्प के कारण ही वाणी निकलती है और न वाणी के कारण, विकल्प ही होता है। अज्ञानी को इस तथ्य का परिज्ञान न होने से, वह ऐसा मानता है कि 'मैंने बोलने की इच्छा की तो वाणी निकली,' लेकिन तात्त्विक दृष्टि से विचारने पर यह सत्य नहीं है। भाषावर्गणा का वाणीरूप परिणमन... उस-उस परमाणु का भाषारूप होने का काल **उसके अपने कारण से है, स्वतन्त्र है; वह इच्छा से निरपेक्ष है...** वाणी का निकलना, वह इच्छा की सापेक्ष है, इसलिए वाणी निकलती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण ८, रविवार, दिनांक ०५-१-१९७५, श्लोक-१८-१९, प्रवचन-२६

गाथा १८ चलती है। यह समाधितन्त्र है। आत्मा को शान्ति किस प्रकार प्राप्त हो? शान्ति कहो, समाधि कहो, धर्म कहो या मोक्ष का मार्ग कहो। तो कहते हैं कि पर से भिन्न हूँ, ऐसा भान तो है परन्तु अब मैं किसके साथ बोलूँ? मौन करके अन्तर में लीन होने की विधि कहते हैं। आहाहा! ... मैं किसके साथ बोलूँ? जो बोलूँ, वह सामने सुननेवाला तो जड़ है। इन्द्रिय से दिखता शरीर, वह तो जानता नहीं। आहाहा! जाननेवाला है, वह इन्द्रियों से दिखता नहीं। अन्तर में लीन होने की यह पद्धति है।

यहाँ आया है। **भाषावर्गणा का वाणीरूप परिणमन...** जो भाषा है, वह जड़, उसकी दशा भाषा की स्वतन्त्र होती है। यह तो गुजराती है। समझ में आया? वाणी की परिणमन दशा उसके कारण से (होती है)। भाषा की अवस्था है, वह आत्मा की इच्छा की अपेक्षा बिना (होती है)। आहाहा! क्योंकि उन परमाणुओं में उस समय में भाषा होने की उत्पत्ति का काल है। इसलिए होती है। आहाहा! **वह इच्छा से निरपेक्ष है...** आहाहा! मिलाया है न! इच्छा होती है, इसलिए भाषा की पर्याय होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! भाषा की अवस्था, उन परमाणुओं का समूह भाषा होने के योग्य उसकी पर्याय में वह भाषा होती है। उसे इच्छा की अपेक्षा हुई, बोलने की इच्छा हुई, इसलिए भाषा की पर्याय होती है—ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

तथापि 'मैं बोलता हूँ'... मैं बोलता हूँ। आहाहा! कहा था न एक बार? अहमदाबाद में एक व्यक्ति आया था। पन्द्रह दिन रहा, सुना। फिर किसी के पास गया। उसने प्रश्न किया, महाराज! यह बोलता कौन है? यहाँ की भाषा सुनकर गया कि बोलना—भाषा आत्मा करता नहीं। इसलिए वहाँ उसने पूछा कि भाषा कौन बोलता है? तब वह कहता है, सुन, यह कौन बोलता है? तेरा बाप बोलता है यह? पोपटभाई! अरे भगवान! बापू! आहाहा! आचार्य नाम धरानेवाले, हों! पन्द्रह दिन यहाँ सुना कि भाषा आत्मा करता नहीं। भाषा स्वतन्त्र है। तो उसने वहाँ जाकर पूछा, इसलिए उसने ऐसा जवाब दिया कि कौन बोलता है? यह तेरा बाप बोलता है? तू नहीं बोलता? अरे! भगवान! बापू! मर जायेगा, हों! यहाँ सब चलेगा। आहाहा!

भाई! यह जड़ परमाणु तत्त्व है—अजीवतत्त्व और अजीवतत्त्व की वर्णणा के २३ प्रकार हैं। उनमें यह रजकणों का समूह-वर्गणा अर्थात्। रजकणों का समूह-उसमें भाषा होने की योग्यता हो, वह भाषारूप होता है। उस समय का उसे भाषा पर्यायरूप होने का उसका उत्पत्ति काल है। आहाहा! यह आत्मा ने इच्छा की, इसलिए बोला जाता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात! मोहनलालजी! ऐसी कठिन बात, भाई! आहाहा!

'मैं बोलता हूँ'—ऐसा माननेवाला जीव, जीव और अजीवतत्त्वों में एकत्वबुद्धि करता है। क्योंकि जीव उस भाषा की पर्याय से भिन्न है और भाषा की पर्याय है, वह जीव से, इच्छा से भिन्न है। आहाहा! यह मैं बोलता हूँ, ऐसी जो मान्यता है, वह जड़ और चैतन्य की एकताबुद्धि की मान्यता है। आहाहा! कहो, हसुभाई! तो यह सब व्यापार-ब्यापार करते हैं, वह नहीं? अभिमान? आहाहा! भाषा की समय की पर्याय यहाँ इच्छा हो, तब होती है; तथापि वह भाषा की पर्याय इच्छा के कारण हुई नहीं है। आहाहा! इच्छा का काल और भाषा होने की परमाणु की पर्याय का काल एक समय में है, तथापि इच्छा है तो भाषा की पर्याय हुई (—ऐसा नहीं)। आहाहा! गजब बातें हैं। एक तत्त्व की दूसरे तत्त्व के साथ मिलावट कर दी है। जड़ का तत्त्व वह मुझसे होता है, ऐसे जीव और जड़ की एकताबुद्धि, वह मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? आहाहा! यह तो मैं शरीर को ऐसे रख सकता हूँ, दवा करके, सम्हाल करके, नहा-धोकर साफ रखता हूँ। साबुन से ऐसे रखता हूँ।

मुमुक्षु : सच्ची बात उड़ जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह बात उड़ जाती है।

भगवान! जो जड़ की पर्याय का काल है, अर्थात् उस प्रकार से जड़ में होता है। मैं उसे ऐसा करता हूँ शरीर को... आहाहा! वह जीव और जड़-अजीवतत्त्व की एकताबुद्धि है। वह महामिथ्यात्व है। वह अनन्त संसार में उत्पत्ति का स्थान है। आहाहा! ऐसी बात वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के अतिरिक्त (कहीं नहीं है)। अनन्त तत्त्व हैं न? एक तत्त्व हो, तब तो यह प्रश्न उठे नहीं। अनन्त तत्त्व है तो अनन्त तत्त्व की पृथक्ता एक-एक समय में पृथक्ता से काम चलता है। उसके बदले आत्मा (मानता

है कि) इच्छा करता हूँ, इसलिए ऐसा बोलता हूँ। कहते हैं कि वह भाषा की दशा और आत्मा की दशा दोनों को इसने एक किया। आहाहा! तत्त्व की श्रद्धा से इसकी विपरीत मान्यता हुई।

इस विपरीतमान्यता केकारण उसको अनन्त संसार की कारणभूत अनन्तानुबन्धी कषाय हुए बिना रहती नहीं। अनन्त संसार का कारण ऐसा मिथ्यात्वभाव और अनन्तानुबन्धी एक साथ होते हैं। आहाहा! समझ में आया? मैं आत्मा, इच्छा करूँ, वह भी मिथ्यात्वभाव है। ऐसे इच्छा विकारी दशा, भगवान आत्मा निर्दोष है, निर्मल स्वभाववान है। ऐसा निर्दोष स्वभाववान, उसे यह राग मेरा कर्तव्य है तो स्वभाव शुद्ध का राग कर्तव्य (है), ऐसा माननेवाले पूरे शुद्धस्वरूप को उसने अशुद्ध माना है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! समझ में आया?

और उस इच्छा के काल में भाषा की दशा हुई, तब उस काल में कैसे हुई? इच्छा हुई और भाषा हुई कैसे? उस इच्छा के काल में, बापू! तुझे खबर नहीं। परमाणुओं में वर्गणा जो जड़ की है समूह... वर्ग-वर्ग नहीं कहते हैं? एकड़िया-बगड़िया को वर्ग कहते हैं न वर्ग? स्कूल में। पहला वर्ग, दूसरा वर्ग, तीसरा वर्ग। वर्ग अर्थात् बहुत लड़कों का समूह, उसे वर्ग कहते हैं। उसी प्रकार बहुत रजकणों का समूह, उसे वर्गणा कहते हैं। बहुत वर्ग का समूह, उसे वर्गणा कहते हैं। समझ में आया? इस भाषावर्गणा को मैं करता हूँ, यह अनन्त संसार के कारणभूत मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय हुए बिना उसे रहता ही नहीं। आहाहा! इसे बहुत धीरज करनी पड़ेगी।

ज्ञानी को अस्थिरता के कारण बोलने का विकल्प आने पर... धर्मी को बोलने का विकल्प-वृत्ति उठती है। **भी, स्वभाव की दृष्टि से उसे अभिप्राय में...** उसके अभिप्राय में (अर्थात्) श्रद्धा की अपेक्षा से **उसे विकल्प का निषेध वर्तता है...** क्यों? कि धर्मी की दृष्टि स्वभाव पर होती है। आहाहा! चैतन्यमूर्ति ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि होने से राग के परिणमन का वह कर्ता नहीं होता। आहाहा! और जिसे ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि नहीं, स्वभाव सन्मुख की जिसे दृष्टि नहीं, उसे राग के सन्मुख की दृष्टि होने से उस राग का अज्ञानभाव से कर्ता मानता है। बहुत सूक्ष्म भारी। उसमें वापस दया पालो, यह

करो, यह छोड़ो, आहार छोड़ो, पानी छोड़ो, रस छोड़ो। कहते हैं कि वह जड़ की चीज़ छोड़ी, मैंने छोड़ी, ऐसा माननेवाला मेरे अधिकार की बात थी छोड़ने की, (ऐसा मानकर) वह जड़ का स्वामी हुआ। चैतन्य की और जड़ की उसे एकताबुद्धि हुई। पण्डितजी! ऐसी बातें! आहाहा!

भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है—जानने-देखनेवाला है। उसके स्वभाव में पर की पर्याय हो, उसमें निमित्त होना, वह भी उसका स्वभाव नहीं। उसका करना तो नहीं परन्तु उसमें निमित्तकर्ता होना, वह भी उसका स्वभाव नहीं। आहाहा! प्रवीणभाई! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई! आहा! अब यहाँ तो चलता है। क्योंकि राग का विकल्प है, वह विकार है, विभाव है, दुःख है। उसके ऊपर जिसकी दृष्टि है, वह रागवाला मानकर राग के परिणमन का कर्ता मैं हूँ, ऐसा मानता है। आहाहा! समझ में आया?

सवेरे आया था न? कि द्रव्य में जो पर्याय होती है, वह द्रव्य उसका कर्ता है। पर्याय का सम्बन्ध यहाँ है। ऐसा आया था न? ऐसा नहीं। पर्याय जो अवस्था होती है, उसका द्रव्य कर्ता है। अर्थात् द्रव्य के साथ ऐसा सम्बन्ध है। पर्याय का ऐसा सम्बन्ध नहीं। पर की पर्याय के साथ कर्तापना या यह पर्याय पर से कर्ता हो, ऐसा सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! यह तो भगवान के मार्ग का अन्त, अन्तिम अन्त है, संसार का अन्त लाना हो उसे। आहाहा! कहो, हीराभाई! क्या यह सब व्यापार करते हो न तुम बड़े-बड़े क्या कहलाता है? क्या कहलाता है? गोहाटी। नमक। वहाँ तो काजू और द्राक्ष का धन्धा है। हम गये थे न वहाँ? काजू की जाति। हम गये गोहाटी गये थी। नहीं? गोहाटी। कलकत्ता के उस ओर। गृहस्थ बहुत पैसेवाले। बहुत पैसेवाले। उनका धन्धा बड़ा है। कलकत्ता है, वहाँ है ... वहाँ गये थे। काजू और द्राक्ष जहाँ हम उतरे थे, वहाँ देने आये थे। फिर जहाँ गये थे, वहाँ देने आये। तो यह धन्धा कर सकता है या नहीं? नरम व्यक्ति है। पाँच-दस मिनिट बैठे। दुकान में चरण किये और दस हजार रुपये रखे। कहा, किसके? वह कुछ बोले नहीं। कलकत्ता से गोहाटी गये थे न? ... वर्ष। आहाहा! भगवान! यह द्राक्ष और काजू और रुपये, यह तो जड़ चीज़ है। जड़ की पर्याय यहाँ से वहाँ जाना, उसका कर्ता आत्मा नहीं है। ऐसी बात सुनी भी नहीं हो, मोहनलालजी! भाग्यशाली अब आ गये इसमें। आहाहा! बात तो ऐसी है, भगवान! क्या कहें?

यह भेदज्ञान की बातें हैं। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व से भेदरूप-भिन्नरूप है। तो भिन्न, वह दूसरे तत्त्व का क्या करे? आहाहा! यहाँ तो इच्छा भी आस्रवतत्त्व (है) भगवान स्वभावतत्त्व से वह आस्रवतत्त्व भिन्न है। आहाहा! ज्ञायकतत्त्व, विकारी आस्रवतत्त्व, ये दोनों तो भिन्न हैं। वह भिन्न का क्या करे? आहाहा! गजब बात है, भाई! क्यों? कि ज्ञायकस्वभाव है, उसकी दृष्टि तो ज्ञायक पर है। आहाहा! राग होता है, ऐसा कहा न? धर्मी को अस्थिरता के कारण से बोलने का विकल्प आता है। आहाहा! परन्तु स्वभाव की दृष्टि से धर्मी की दृष्टि स्वभाव पर होती है। ज्ञायकस्वभाव, चैतन्यस्वभाव, जाननस्वभाव का अस्तित्व, वह मैं हूँ। राग, वह मैं नहीं। आहाहा! राग तत्त्व आस्रवतत्त्व, आत्मा ज्ञायकतत्त्व। नौ तत्त्व है न? मोहनलालजी! जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। नौ तत्त्व की कुछ खबर नहीं होती। जयन्तीभाई! ऐसी बातें हैं।

कहते हैं कि यह जो विकल्प उठा, वह आस्रवतत्त्व है। तो ज्ञानी उस आस्रवतत्त्व का कर्ता नहीं होता। आहाहा! क्यों? कि मैं तो ज्ञायकस्वभाव हूँ। जाननस्वभाव और आस्रवस्वभाव दोनों भिन्न हैं। आहाहा! समझ में आया? **स्वभाव की दृष्टि से...** जाननस्वभाव, ज्ञायकस्वभाव ऐसी धर्मी की दृष्टि वहाँ होती है। आहाहा! उस **दृष्टि से उसे अभिप्राय में उस विकल्प का निषेध वर्तता है...** भगवान आत्मा जाननस्वभाव स्वरूप उसके बोलने का विकल्प उस स्वरूप नहीं है। आहाहा! यह तो उसका कुरूप है। उस कुरूप की वृत्ति मेरे स्वरूप की नहीं है। आहाहा! हसमुखभाई! बहुत सूक्ष्म बातें, हों! आहाहा!

क्योंकि वह जानता है कि विकल्प, वह राग है, जो आत्मा का स्वरूप नहीं,... आहाहा! यहाँ तो बोलने का विकल्प उठा कि दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का विकल्प-वृत्ति उत्पन्न हुई, वह ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि होने से उस विकल्प का तत्त्व मेरे स्वभाव का नहीं है। आहाहा! समझ में आया? **अपितु आत्मा से भिन्न है।** धर्मी जीव अर्थात् कि सम्यग्दृष्टि जीव अर्थात् कि जो स्वरूप ज्ञायक पूर्ण है, उसकी जिसे स्वसन्मुख से प्रतीति हुई है, ऐसा जीव। आहाहा! स्वसन्मुखता में तो ज्ञायकभाव है और राग तो विमुखपने में है। आहाहा! इससे उस धर्मी का वह स्वरूप नहीं होने से, 'वह मेरा स्वरूप है'— ऐसा मानता नहीं। आहाहा!

यह दया का विकल्प, बोलने का विकल्प भी मेरा मानता नहीं, वह किस चीज़ को मैं मेरी मानूँ? कहो, पोपटभाई! यह मेरे पुत्र, यह मेरे पिता। अरे! आत्मा को पुत्र और पिता कैसा? भाई! परन्तु अब बहुत सूक्ष्म बातें हैं। यह मेरा शरीर, यह मेरे कर्म, मैंने कर्म बाँधे, वे मुझे (भोगना पड़ेंगे)। परन्तु कर्म ही तेरे नहीं। सुन न! आहाहा! शिवलालजी! श्रीपालजी! यह तो श्रीपाल है। श्री अर्थात् स्वरूप की लक्ष्मी का पालनेवाला (आत्मा) है। आहाहा!

भगवान! चैतन्यस्वभावी प्रभु आत्मा, वह स्वभाववान और स्वभावदृष्टिवान। स्वभाववाला या स्वभावदृष्टिवाला। समझ में आया? वह राग को क्या करे? वह राग को करे नहीं और भाषा की पर्याय को करे, (वह तो कहीं रह गया)। आहाहा! सेठ! यह बीड़ियों का कुछ करे नहीं, ऐसा कहते हैं। कानपुर में जाओ तो कितने रुपये आवे प्रतिदिन। २५ हजार, ५० हजार। उगाही करने जाये वहाँ... बड़ा व्यापार। ... लाओ.. लाओ। कितने ... दिये हैं? क्या है यह? भगवान! एक बार सुन तो सही, प्रभु! आहाहा!

यह चैतन्य के स्वभाव की जातिरहित विकल्प, प्रभु! आहाहा! और विकल्प की जातिरहित वह जड़ की दशा। क्योंकि विकल्प की जाति आस्रव की है और पैसा जाने-आने की जाति अजीव की है। आहाहा! ऐसा भेदज्ञान जड़ से और विकल्प से भिन्न होना, तब उसे मैं पूर्ण ज्ञायकस्वभाव हूँ, ऐसे ज्ञेय में ज्ञायक का भान होने पर, उसे सच्ची प्रतीति आती है। समझ में आया? अब इसमें वाद-विवाद करने जाये तो....

अभी कोई कहता था? जीणावाले कहते थे। वहाँ है न? जीणावाले भाई! कौन? बंसीधर। लो, यह किया। ... यह तो हमारे एक यहाँ थे... बैरिस्टर नहीं? क्या कहलाते हैं? सोलिसीटर। चिमनलाल चकु, सोलिसीटर। (संवत्) १९९७ में। ३४ वर्ष हुए। कहा, भाई! जड़ की अवस्था आत्मा नहीं कर सकता। (वह कहे, लो) यह किया। ऐसा हुआ था, हों! वहाँ वह पण्डित ऐसा कहता है—बंसीधरजी। अरे! भगवान! ऐसा होने में अन्दर में क्या हुआ, इसकी तुझे खबर है? तू आत्मा है, इसकी तुझे खबर है? आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। उस समय ज्ञान की पर्याय उसमें होती है और वह जड़ की पर्याय जड़ में होती है। आहाहा! ऐसा ही कहा था, १९९७ में। यहाँ आया था। एक

सोलिसीटर आया था। जड़ का कर्ता। लो किया, भाई! इसमें त्रिराशि है, कहा। त्रिराशि अर्थात्? जो ऐसा हुआ उसका निमित्त कर्म है। वह अपने उपादान से ऐसा हुआ है और आत्मा की पर्याय अपने से हुई है। आहाहा! पर्याय के काल में ऐसा हुआ। परन्तु पर्याय से ऐसा हुआ, ऐसा नहीं। समझ में आया? ९७। वह है न तुम्हारे? चिमनलाल चकु, तुम बोले न। अरे! भगवान! आहाहा! वह तो पागल-पागल कहे, हों! लोग। हम पूरे दिन यह करते हैं, वाणी करते हैं। भाई! यह ऐसे होना उस काल में तू आत्मा जानता है कि आत्मा की पर्याय अन्दर यह हुई? और उस काल में जड़ की ऐसे हुई, वह मेरी पर्याय से हुई, ऐसा तूने कहाँ से जाना? समझ में आया? ... ऐसी बातें बहुत सूक्ष्म, हों! यह तो यहाँ होता है। बाहर निकलें तब सूक्ष्म नहीं लिया जाता। यह तो धीरे-धीरे धीमे-धीमे अन्तर की भेदज्ञान की बातें हैं, भाई!

कहते हैं, ज्ञान को विकल्प का निषेध वर्तता है। **अतः किसी के साथ बात करने का विकल्प करना, वह दोष है...** किसी के साथ बात करने का विकल्प करना, वह दोष है। आहाहा! दूसरे को समझाने के लिये वृत्ति उठाना, वह दोष है। आहाहा! कहो, सुजानमलजी! मार्ग तो ऐसा है, भाई! मार्ग की पद्धति जाने बिना यह अनन्त काल से गोता खाता है। आहाहा! अरे! बाह्य में कोई शरण नहीं। शरण का नाथ प्रभु, वह तो ज्ञानानन्दस्वभावी ज्ञाता-दृष्टा है। उस स्वभाव में राग को करने का अवकाश कहाँ? पर का करने की बात तो दूर रह गयी। समझ में आया?

किसी के साथ बात करने का विकल्प करना,... हो, परन्तु है दोष। आहाहा! **ऐसी समझपूर्वक जो स्वरूप में लीनतारूप मौन का सेवन करता है,...** ऐसी समझणपूर्वक। ऐसा तो कहे, हम मौन रहते हैं। मैं भाषा नहीं बोलता, इसलिए नहीं होती। भाषा बोलूँ तो होती है। यह तो अज्ञान है। अज्ञान का मौनपना अज्ञान में है। आहाहा! समझ में आया? **ऐसी समझपूर्वक...** ऐसी अर्थात्? मैं एक ज्ञायकस्वभाव हूँ। बोलने का विकल्प है, वह दोषरूप है। उसका रचना, वह मेरी जाति का स्वभाव नहीं। और वह दोष होने से भाषा की दशा हुई, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! प्रवीणभाई! यह सब लोहे के धन्धे करते हो न तुम? हिम्मतभाई नहीं आये? मुम्बई गये हैं। अभी क्या है वहाँ? ... आहाहा!

ऐसी समझपूर्वक... अर्थात्? भाषा की पर्याय का मैं कर्ता नहीं। वह जड़ की पर्याय जड़ के काल में होती है, विकल्प भी विकल्प के काल में (होता है), मेरी समझण में उसका ज्ञान हो, परन्तु वह मेरी चीज़ है, ऐसा उसे ज्ञान में नहीं है, ऐसी समझणपूर्वक जो मौन रहे, उसका मौनपना सच्चा। इस समझण के बिना हम मौन रहते हैं। बारह महीने काशी में वह नहीं करते? अन्यमति में करते हैं। रणछोड़जी ने किया था, दामनगर में। बाहर में (एक) वर्ष मौन। उसमें क्या? धूल का भान नहीं कि यह क्या है और यह नहीं बोलती भाषा, वह क्यों नहीं बोली जाती? यह जड़ की पर्याय नहीं। मैं मौन रहा, इसलिए बोला नहीं जाता, (यह तो मिथ्यात्व है)। आहाहा!

उसको ही सच्ची वचनगुप्ति होती है... जिसे वाणी की पर्याय उसके काल में होती है, इच्छा होती है, वह स्वभाव में दोष है और स्वभाव-स्वरूप जो ज्ञाता, उसका यह दोष कर्तव्य नहीं है। गुण का कर्तव्य दोष होगा? आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप और राग, वह इच्छा, वह दोष और दुःखस्वरूप। यह आनन्दस्वरूप (आत्मा) दुःख को रचे? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें हैं, हों! हसुभाई! इसे समझना पड़ेगा ... अरे! जिसे जन्म-मरण के सिर पर अनन्त भव खड़े हैं, भाई! पर की एकताबुद्धि से पर का संयोग भव का नहीं छूटे। क्या कहा? राग और पर की आत्मा की एकताबुद्धि से, वह यहाँ एकता है, वह संयोग नहीं छूटेगा, इसके भव का अभाव नहीं होगा। आहाहा! इसे यह समझण अन्तर में करनी पड़ेगी, भाई! करनी पड़ेगी अर्थात् बेगारी से, ऐसा नहीं। समझणपूर्वक इसका सहज स्वभाव है, भाई! तू चैतन्य है। तुझमें, तेरे पाक के पाक में तो ज्ञान की पर्याय, आनन्द की पर्याय, श्रद्धा की पर्याय, शान्ति की पर्याय, यह तेरे क्षेत्र का पाक है। आहाहा! रागादि का विकल्प, प्रभु! तेरे क्षेत्र का पाक है? वह तो अध्धर से काँटे उगे हैं पर्याय में। आहाहा!

ऐसी वचनगुप्ति से अन्तर्बाह्य वचनप्रवृत्ति का नाश स्वतः होता है। ऐसा जिसका विकल्प और पर, वह मेरा स्वरूप नहीं—ऐसी जिसे अन्तर स्वभाव दृष्टि हुई है, उसे वचनगुप्ति अन्तर में होती है। समझ में आया?

श्लोक - १९

एवं बहिर्विकल्पं परित्याज्यान्तर्विकल्पं परित्याजयन्नाह -

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥ १९॥

परैरुपाध्यादिभिरहं यत्प्रतिपाद्यः परान् शिष्यादीनहं यत्प्रति-पादये तत्सर्वं मे उन्मत्तचेष्टितं मोहवशादुन्मत्तस्येवाखिलं विकल्पजालात्मकं विजृम्भितमित्यर्थः। कुत एतत्? यदहं निर्विकल्पको यद्यस्मादहमात्मा निर्विकल्पक एतैर्वचनविकल्पैर-ग्राह्यः॥१९॥

इस प्रकार बाह्यविकल्पों का परित्याग करके, आभ्यन्तरविकल्पों को छुड़ाते हुए कहते हैं —

अन्य मुझे उपदेश दे, मैं उपदेशूँ अन्य।
यह मम चेष्टा मत्तसम, मैं अविकल्प अनन्य॥ १९॥

अन्वयार्थ - (परैः अहं प्रतिपाद्यः) अन्य के द्वारा मैं कुछ सीखनेयोग्य हूँ अर्थात् अन्य उपाध्यायादि मुझे कुछ सिखाते हैं अथवा (अहं परान् प्रतिपाद्ये) मैं किसी अन्य को कुछ सिखाता हूँ या सिखा सकता हूँ (यदि मैं ऐसा विकल्प करता हूँ), (तत् मे उन्मत्तचेष्टितं) तो वह मेरी पागलपन की चेष्टा है (यत् अहं निर्विकल्पकः) क्योंकि मैं तो निर्विकल्पक हूँ अर्थात् वचन-विकल्पों से अग्राह्य हूँ।

टीका - पर द्वारा अर्थात् उपाध्यायादि द्वारा मुझे सिखाया जाता है और दूसरों को-शिष्यों आदि को मैं सिखाता हूँ, ये सब मेरी उन्मत्त (पागल) चेष्टा है—मोहवशात् उन्मत्तता (पागल के) समान ही ये सब विकल्पजालरूप चेष्टा प्रवर्तती है—ऐसा अर्थ है। किस वजह से (उन्मत्त चेष्टा) है? क्योंकि मैं (आत्मा) तो निर्विकल्पक अर्थात् वचन विकल्पों से अग्राह्य हूँ।

भावार्थ - अध्यापकादि मुझे सिखाते हैं तथा मैं अन्य शिष्यादिकों को सिखाता हूँ—ऐसा विकल्प करूँ (तो) वह मेरा उन्मत्तपना-पागलपना है क्योंकि मेरा वास्तविक स्वरूप तो निर्विकल्प है अर्थात् मैं समस्त विकल्पों से अग्राह्य हूँ—पर हूँ।

आत्मा का स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा है। किसी को सिखाना या उसका भला-बुरा करना, वह वास्तव में आत्मा का स्वभाव नहीं है क्योंकि 'कोई द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य का कर्ता है ही नहीं, किन्तु सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमते हैं'— ऐसा विचारकर सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा, अन्तर के विकल्पों को तोड़कर, स्वरूप में लीन होने का प्रयत्न करता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

विकल्प दूर करके, परमात्मतत्त्व में लीन होने की प्रेरणा करते हुए श्री अमितगति आचार्य कहते हैं —

सर्व निराकृत्य विकल्पजालं, संसारकान्तारनिपातहेतुम्।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो, निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे॥२९॥

अर्थात्, संसाररूप दुर्गम जंगल में भटकाने के हेतुभूत विकल्प जालों को दूर करके, अपने आत्मा को सर्व से — द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से भिन्न अनुभव करते हुए, तू परमात्मतत्त्व में लीन हो।[1]

उन्मत्तता सम्बन्धी स्पष्टीकरण —

उन्मत्तता दो प्रकार की है —

१. श्रद्धा-अपेक्षा उन्मत्तता, और २. चारित्र-अपेक्षा उन्मत्तता।

१. तत्त्वार्थसूत्र में दर्शायी गयी उन्मत्तता, श्रद्धा-अपेक्षा से है। मिथ्यादृष्टि, सत् और असत् का भेद नहीं जानता। वह पागल पुरुष की तरह अपनी रुचि-अनुसार वस्तु को समझता है। जैसे - मदिरा पीकर उन्मत्त हुआ पुरुष, माता-पत्नी का भेद नहीं जानता होने से, कभी माता को पत्नी और पत्नी को माता कहता है और वह किसी समय पत्नी को पत्नी और माता को माता भी कहता है तथापि वह सही समझपूर्वक वैसा कहता है, यह बात नहीं है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को भी वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होने से, उसके विकल्प, मिथ्यामान्यता के कारण, उन्मत्त पुरुष के समान होते हैं।

---

१. जो संसार पतन के कारण, उन विकल्प जालों को छोड़।
निर्विकल्प निर्द्वन्द आत्मा, फिर-फिर लीन उसी में हो॥ *- श्री भावना बत्तीसी, काव्य-२९*

२. प्रस्तुत श्लोक में जो उन्मत्तता दर्शायी है, वह अन्तरात्मा की चारित्र-अपेक्षा से है; श्रद्धा अपेक्षा नहीं, क्योंकि ज्ञानी को भी अस्थिरता के कारण वैसे विकल्प उठते हैं किन्तु उसको अभिप्राय में उनका आदर नहीं है। जहाँ तक विकल्प उठते है, वहाँ तक निर्विकल्प नहीं हुआ जा सकता; अतः आचार्यदेव ने विकल्प तोड़कर, निर्विकल्प होने का निर्देश किया है और अन्तरात्मा की भूमिका के विकल्पों को चारित्र-अपेक्षा से उन्मत्तपना कहा है॥१९॥

श्लोक - १९ पर प्रवचन

इस प्रकार बाह्यविकल्पों का परित्याग करके, आभ्यन्तरविकल्पों को छुड़ाते हुए कहते हैं — आहाहा! पूज्यपादस्वामी सन्त थे। देव जिनके पैर पूजते थे। यह भी भगवान के पास गये थे। जैसे कुन्दकुन्दाचार्य संवत् ४९ में (गये थे)। यह २००-३०० वर्ष बाद सीमन्धर भगवान विराजते हैं, वहाँ गये थे। वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाया। १९।

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥ १९॥

आहाहा! **टीका - पर द्वारा अर्थात् उपाध्यायादि द्वारा मुझे सिखाया जाता है...** है? पर द्वारा अर्थात् पर अर्थात् उपाध्याय, आचार्य, साधु आदि द्वारा मुझे जो सिखाया जाता है। ऐसा क्यों कहा? कि उपाध्याय को ऐसा है। साधु तो स्वरूप को साधते हैं। स्वरूप। साधु का वास्तविक स्वरूप है वह उपदेश भी नहीं करते। ऐसी बात है। उपदेश का अधिकार उपाध्याय को है। आचार्य का अधिकार शिक्षा-दीक्षा देने का है।

कहते हैं, **उपाध्यायादि द्वारा मुझे सिखाया जाता है और दूसरों को-शिष्यों आदि को मैं सिखाता हूँ,...** आहाहा! **ये सब मेरी उन्मत्त (पागल) चेष्टा है...** लो, मोहनलालजी! पागल आया पागल। अपने (गुजराती में) गांडा कहते हैं न। आहाहा! पर द्वारा मुझे सिखाया जाता है और मैं शिष्य को सिखाता हूँ। आहाहा! **ये सब मेरी उन्मत्त (पागल) चेष्टा है...** पाठ में यह है। पाठ में है न? **'उन्मत्तचेष्टितं'**। आहाहा!

आनन्दस्वरूप भगवान, ज्ञानस्वरूपी आत्मा को यह विकल्प उठे कि मैं पर से समझता हूँ या मैं पर को समझाता हूँ, यह विकल्प है, पागल है, कहते हैं। आहाहा! आचार्य स्वयं कहते हैं, देखो!

मेरे शुद्ध आनन्दस्वरूप में इस विकल्प का तो अभाव है। ऐसे अभावस्वभाव में से यह विकल्प उठे, वह तो कहते हैं कि पर के आधीन होकर (उठा), वह तो उन्मत्त चेष्टा है। आहाहा! पागल जैसे चेष्टा करता है न? बन्दर होता है न बन्दर-बन्दर। वह बैठा हो तो... ऐसा किया करता है। यह चेष्टा, वह तीव्र कषाय है। यह बन्दर देखे हैं न? बन्दर। किया ही करे। हमारे यहाँ बन्दर बहुत थे गुजरात में। पालेज में बहुत बन्दर। जंगल में। ७७ में ... बैठे-बैठे ऐसे-ऐसे करे। और उसमें उसने मदिरा पी हो। देख लो उसकी चेष्टा। उसमें यदि उसे भूत लगा हो। ... देखे, हों! सब। और उसे यदि बिच्छू काटा हो। आहाहा! फिर देखो वह पागल बन्दर।

इसी प्रकार भगवान आत्मा एक तो शरीर को मेरा मानकर मिथ्यात्व का पागलपन, उसमें वह विकल्प जो राग उठे, उसे मेरा मानकर पागलपन... आहाहा! उसमें विपरीत मान्यता की तेज मदिरा साथ में आयी हो, पागलपन बढ़ गया। आहाहा!

यहाँ तो मुनि स्वयं कहते हैं। है सन्त आचार्य आनन्दकन्द में रमनेवाले। आहाहा! हमको भी पर को समझाने का विकल्प उठता है। आहाहा! हमारे बड़े-गुरु-हमको समझाने बैठे और समझें। यह क्या कहते हैं? क्योंकि दूसरे मुझे समझावे तो मुझे समझ में आये, यह बात पागल है। ऐई! उसके समझाने की दशा तो उसके गुण में से उसके कारण से आती है। आहाहा! समझ में आया? और मैं दूसरे को समझाऊँ ऐसा विकल्प, कहते हैं कि वह जीव भी उसके ज्ञान की दशा से समझता है। उसके बदले मैं उसे समझाऊँ। उसकी पर्याय से उसके आश्रय से वह समझे। मैं उसे समझाऊँ, यह विकल्प अस्थिरता का पागल जैसा है, कहते हैं। आहाहा! मिथ्यात्व का विकल्प तो पागल है परन्तु यह अस्थिरता का ऐसा विकल्प... आहाहा! हद की है न समाधि को। प्रभु! विकल्प भी छोड़ और अन्दर स्थिर हो। भाई! तेरी चीज़ में विकल्प का होना, वह भी दोष होता है। परन्तु तीर्थंकर गोत्र बँधता है न?

श्रीमद् में एक वाक्य आया है, भाई! समझानेवाला... तीर्थंकरगोत्र बाँधे... आता है? एक है। इस ओर के पृष्ठ पर है। गोत्र बाँधे न। आहाहा! पीछे के भाग में है। एक भी जीव को सच्चा समझ में आये ... तीर्थंकरगोत्र बाँधे। उसमें है ...तीर्थंकरगोत्र ... परन्तु वह विकल्प है वही दोष और पागलपन है। आहाहा! उससे तीर्थंकरगोत्र बँधता है वह तो जड़ की पर्याय है और उस जड़ की पर्याय का उदय तो केवल (ज्ञान) होगा, तब होगा। आहाहा! तुझे लाभ क्या हुआ उसमें? समझ में आया? आहाहा! यह विकल्प हुआ ऐसा ... उससे तो पुण्य प्रकृति बँधती है। फिर यह तीर्थंकर... में जायेंगे। ... वह तो जड़ की पर्याय बँधने में निमित्त हुआ। और जड़ की पर्याय का जब उदयकाल आयेगा, उसका तब तो संयोग की भी ... वह भी उपादान। अपने आप होगी, तब यह निमित्त कहलायेगा। आहाहा! उसमें तुझे लाभ क्या है? सोलहकारण भावना, आता है या नहीं?

मुमुक्षु : दरशविशुद्धि भावना भावना भाय, सोलह तीर्थंकर पद पाय।

पूज्य गुरुदेवश्री : पद पाय। 'दर्शनविशुद्धि भावना भाय, सोलह तीर्थंकरपद पाय, परमगुरु हो।' ऐई! श्रीचन्दजी! यह श्रीचन्दजी बहुत बोलते हैं। आहाहा! यह किस प्रकार की बात! दुनिया में ऐसी मेल न खाये, ऐसी बात है। कहते हैं कि जो भाव समझाने में उठे और उसमें से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह दोष है, कहते हैं। तीर्थंकरगोत्र बांधने का भाव दोष है। कहीं धर्म से बँधता है? आत्मा का धर्म जो वीतरागीदशा, उससे कर्म बँधता है? राग से बँधता है। वह तो अधर्म है। आहाहा!

(संवत्) १९८५ का वर्ष था। पौष महीना था। ८५। कितने वर्ष हुए? ४५-४६। बोटाद में थे, बोटाद में। उसमें (सम्प्रदाय में) थे न। व्याख्यान चलता था। लोग बहुत बहुत भरते थे। तब कीर्ति बहुत थी न सम्प्रदाय में। हजार-पन्द्रह सौ लोग। उसमें कहा कि भाई! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव धर्म नहीं है। ४६ वर्ष पहले सम्प्रदाय में। ... जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव धर्म नहीं है। धर्म से बन्धन नहीं और बन्धन पड़े, जिस भाव से, वह धर्म नहीं। दो बातें की थी। और जो व्रत का भाव है, पंच महाव्रत और बारह व्रत का भाव, वह आस्रव है। सभा तो बोले नहीं, सुने।

परन्तु हमारे ... हमारे गुरु भाई साथ में थे। वह यह सुनकर वोसरे... वोसरे... वोसरे। वोसरे का अर्थ समझते हो ? यह बात और यह सिद्धांत हमारे नहीं चाहिए। छोड़। कौन माने ? वे क्या बोले इसकी भी खबर नहीं होती सभा को। मैं समझा, कहा, इन्हें रुचा नहीं, सुहाया नहीं। और उनके गुरुभाई को कहेंगे। देखो ! मैंने तो ऐसा कहा था वहाँ। व्याख्यान पूरा हुआ। ठीक, तुम्हें न सुहाता हो तो बैठा रहना था न उठकर भागे किस लिए ? वोसरे-वोसरे तो क्या हो गया ? कहा। अर्थात् तुमको सच्ची बात बैठी है, ऐसा हो गया ? वे बेचारे .... मूलचन्दजी को बतलाने के लिये। यह ... ऐसे करते थे वहाँ मैंने ऐसे किया। ठीक भाई !

यहाँ तो कहते हैं कि पंच महाव्रत के विकल्प हैं, साधु के जो अट्ठाईस मूलगुण दिगम्बर में कहलाते हैं। श्वेताम्बर में दूसरा प्रकार है। यह मूलगुण के विकल्प भी दोषरूप है। आहाहा ! परन्तु जिसे अन्तर आत्मा में निश्चय सम्यग्दर्शनसहित साधुपद प्रगट हुआ होता है, और ऐसे भाव उस भूमिका में होते हैं। परन्तु वे भाव गुणस्वरूप भगवान आत्मा को मदद नहीं करते परन्तु विरुद्ध भाव से उसे तो बन्धन पड़ता है। आहाहा ! व्रत के भाव को तो आस्रव कहा है तत्त्वार्थसूत्र में। तत्त्वार्थसूत्र। व्रत है, वह तो पुण्यास्रव है। वह कहीं धर्म नहीं। आहाहा ! व्रत है अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य वह विकल्प है। धर्मी जीव उस विकल्प का कर्ता नहीं होता, तथापि होते हैं। आहाहा ! समझ में आया ?

यह शिष्यों को मैं सिखाता हूँ, यह सब मेरी पागल चेष्टा है। **मोहवशात् उन्मत्तता (पागल के)...** यह राग की अस्थिरता की बात है। मोह अर्थात् मिथ्यात्व नहीं। राग भी मोह है न। अर्थात् ? परसन्मुख का वह राग का सावधानपना है। स्वसन्मुख का नहीं। आहाहा ! अर्थात् वह विकल्प जो करना, होना, उसमें परसन्मुख की सावधानी है। आहाहा ! भगवान कुन्दकुन्दाचार्य तो मोक्षपाहुड़ में कहते हैं, '**परदव्वादो दुग्गइ।**' परद्रव्य की ओर के झुकाववाली जो वृत्ति उठी है, वह चैतन्य की गति की चैतन्य जाति नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ? यह विकार है, हो। जब तक पूर्ण वीतराग न हो, तब तक ऐसा विकल्प आता है, व्यवहार होता है। है दु:खरूप। बहुत कठिन ! ऐसा मार्ग वीतराग का।

मोहवशात् उन्मत्तता (पागल के) समान ही ये सब विकल्पजालरूप चेष्टा प्रवर्तती है... आहाहा! मैं... मुझे सिखावे मेरे गुरु तो मुझे लाभ हो, ऐसा जो विकल्प उठा है (वह उन्मत्तता है)। आहाहा! वीतराग मार्ग, बापू! अन्तर स्वभाव ज्ञायक चैतन्य में दृष्टि होकर अर्थात् सावधानरूप से स्थिर होना, वह इसकी सावधानी की क्रिया है। उसमें से हटकर ऐसा विकल्प होता है, हो, किन्तु दोषरूप है। आहाहा! यह चेष्टा **सब विकल्पजालरूप चेष्टा...** विकल्प की जाल। **ऐसा अर्थ है।**

किस वजह से (उन्मत्त चेष्टा) है? क्योंकि मैं (आत्मा) तो निर्विकल्पक अर्थात् वचन विकल्पों से अग्राह्य हूँ। मैं के वचन से मैं ग्राह्य नहीं। ऐसे दूसरे के ग्राह्यपना, इस वचन द्वारा उसका आत्मा नहीं। आहाहा! उपदेश हो और उससे सामनेवाले को ज्ञान हो, उस उपदेश से उसे ज्ञान हो, ऐसा आत्मा नहीं है। आहाहा! **क्योंकि मैं (आत्मा) तो निर्विकल्पक अर्थात् वचन विकल्पों से अग्राह्य हूँ।** गुरु मुझे सिखावे तो उस वचन के विकल्प से मैं ग्राह्य नहीं। इसी प्रकार मैं दूसरे को सिखाऊँ ऐसा वचन, विकल्प से उसका आत्मा भी ग्राह्य नहीं। ... तो पार न आवे। तीर्थंकर ने उपदेश किया। मोक्षमार्गप्रकाशक में नहीं आता आठवें (अधिकार) में? तीर्थंकर गणधरदेवों ने उपदेश करके उपकार किया। मैं भी उस उपकार की बात करता हूँ। मोक्षमार्गप्रकाशक में आठवें अध्याय (में) पहले शुरुआत में लिया है। यह निमित्त के कथन। उस काल में है, उसे समझाते हैं। आहाहा!

भावार्थ - अध्यापकादि... अध्यापक अर्थात् उपाध्याय समझना। **मुझे सिखाते हैं तथा मैं अन्य शिष्यादिकों को सिखाता हूँ — ऐसा विकल्प करूँ (तो) वह मेरा उन्मत्तपना-पागलपना है...** ओहोहो! दिगम्बर सन्तों की वीतरागता के वीराना कैसे हैं, ऐसा देखो न। अरे! मैं उपदेश देने से विकल्प होता है, वह तो पर में सावधानी जाती है। मेरी सावधानी चुराई जाती है। आहाहा! जितनी मेरे स्वरूप की सन्मुखता में स्वभाव सावधानी है, उतनी धर्म की मेरी दशा है। जितना स्वभाव का आश्रय होने पर भी विशेष आश्रय को छोड़कर और पर के आश्रय में जो विकल्प-राग उठता है, वह बन्ध का कारण है। पागलपन। यहाँ तो आचार्य कहते हैं, पागलपन। आहाहा! गजब किया है न! अन्तर आनन्द में समाने के लिये इस विकल्प को जहर कहकर... आहाहा! छुड़ाते हैं।

मैं अन्य शिष्यादिकों को सिखाता हूँ—ऐसा विकल्प करूँ (तो) वह मेरा उन्मत्तपना-पागलपना है... आहाहा! **क्योंकि मेरा वास्तविक स्वरूप तो निर्विकल्प है अर्थात् मैं समस्त विकल्पों से अग्राह्य हूँ—पर हूँ।** आहाहा! इस वाणी से भी मैं ज्ञात नहीं होता और वाणी सुनते हुए जो विकल्प उठा, उससे ज्ञात नहीं होता, ऐसी तो मेरी चीज़ है। आहाहा! समझ में आया? **पर हूँ।** विकल्प और वाणी से पर हूँ। **आत्मा का स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा है।** वह तो जानने-देखनेवाला है। **किसी को सिखाना या उसका भला-बुरा करना, वह वास्तव में आत्मा का स्वभाव नहीं है क्योंकि 'कोई द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य का कर्ता है ही नहीं, किन्तु सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमते हैं' — ऐसा विचारकर सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा, अन्तर के विकल्पों को तोड़कर, स्वरूप में लीन होने का प्रयत्न करता है।**

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण ९, सोमवार, दिनांक ०६-१-१९७५, श्लोक-१९-२०, प्रवचन-२७

इसका **विशेष - विशेष - विकल्प दूर करके, परमात्मतत्त्व में लीन होने की प्रेरणा करते हुए श्री अमितगति आचार्य कहते हैं—** यहाँ तो परद्रव्य की कोई पर्याय कर नहीं सकता और पर को समझाने के लिये जो विकल्प उठता है, वह नुकसानकारक है। आहाहा! और उस विकल्प से वाणी मैं कर सकता हूँ, यह तो मिथ्यात्वभाव है। परन्तु विकल्प को कर सकता हूँ, वह भी मिथ्यात्वभाव है। विकल्प की अस्थिरता हो, वह दोष है। मिथ्यात्वभाव नहीं। धर्मी अपने अन्तरात्मा में रहने के लिये ऐसा विचार करता है और उपदेश ऐसा दिया है, ऐसा कहा न?

संसाररूप दुर्गम जंगल में... आहाहा! चौरासी के अवतार संसार भयानक जंगल, भयानक जंगल। कहाँ जाकर अवतरित होगा? विकल्प के कारण संसार में कहाँ जाकर अवतरित होगा? अज्ञानी। ज्ञानी को तो खबर है कि विकल्प है, वह दोष है। समझ में आया? आहाहा! स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, परिवार, धन्धा, वह मेरा है और मैं उन्हें कर सकता हूँ, ऐसा जो विकल्प कहाँ संसार में इसे भटकायेगा?

मिथ्यात्वरूपी अन्धकार में पड़ा है। आहाहा! चौरासी के भयंकर जंगल में पटकेगा वह मिथ्यात्वभाव। परन्तु विकल्प जो है जरा अस्थिरता का... आहाहा! वह भी संसार को प्राप्त करेगा। भव प्राप्त करायेगा। चाहे तो तीर्थंकरगोत्र का विकल्प हो। वह भव करायेगा। आहाहा! तीर्थंकरगोत्र का विकल्प भी दो भव कराता है। स्वर्ग को और फिर अन्तिम। दो भव तो कम से कम कराता है। ओहोहो! यहाँ तो सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा में स्थिर होने के लिये ऐसा विचारता है कि पर का मैं कुछ कर दूँ या पर से लूँ, ऐसा जो विकल्प, वह तो मिथ्यात्व है। परन्तु अस्थिरता का जो विकल्प है, वह भी संसार में भव कराता है। आहाहा!

दूर करके,... इसलिए विकल्प को दूर करके। आहाहा! **अपने आत्मा को सर्व से—द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से भिन्न अनुभव करते हुए,...** उसे—सम्यग्दृष्टि आत्मा को राग से—विकल्प से भिन्न करता हुआ **तू परमात्मतत्त्व में लीन हो।** आहाहा! बाह्य

की ओर झुकते विकल्प, वह राग की वृत्ति है, वह संसार के भव (करायेगा), वह स्वयं संसार है। आहाहा! विकल्प है, अशुद्ध है, वह संसार है और वह भव का कारण है। ओहो! मैं आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसे विकल्प को छोड़कर। आहाहा!

भिन्न अनुभव करते हुए,... जड़ कर्म, शरीर, वाणी और भावकर्म विकल्प शुभ-अशुभ। इनसे भिन्न अनुभव करने पर **तू परमात्मतत्त्व में लीन हो।** परम स्वरूप भगवान आत्मा... विकल्प को छोड़ दूँगा तो स्वरूप में लीन होऊँगा। तुझे आनन्द का लाभ होगा, और परम स्वरूप की स्थिरता तुझे प्राप्त होगी। आहाहा! कठिन बातें, भाई!

यहाँ तो (अन्य मत में) भगवान ने ऐसा कहा था और भगवान ने ऐसा कहा था। स्त्री को छूट दी है न... अरे! कहाँ-कहाँ बातें भगवान के नाम से कराते हैं। बहुत वेदना कराते थे, भगवान ने रोका, पर को रोके। भाई! भगवान का उपदेश ऐसा नहीं था। उनका उपदेश—उसमें—वाणी में ऐसा था कि तू तो परपदार्थ से भिन्न है इसलिए... आया न? उसमें आ गया न? **सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से परिणमते हैं।** आहाहा! ऐसा भगवान का उपदेश था।

प्रत्येक वस्तु उसके काल में अपने स्वभाव अर्थात् फिर रागरूप हो या शुद्धरूप हो, उसके स्वभावरूप से परिणमता है, ऐसा विचार कर सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा अन्तर के विकल्प को छोड़कर स्वरूप में लीन होने के लिये प्रयत्न करता है। समझ में आया? ऐसा वीतरागमार्ग के स्वरूप में था। वीर ने ऐसा वर्णन किया था। आहाहा! प्रभु! तू पर से भिन्न है। पर की चिन्ता तो निरर्थक, तुझे नुकसान करनेवाली है। परन्तु दूसरे के लिये मैं धर्म समझाऊँ-प्राप्त कराऊँ—ऐसा जो विकल्प भी प्रभु! वह तुझे नुकसान करेगा। आहाहा!

इसलिए तेरा हित करना हो तो... आहाहा! सुखी होना हो तो धर्म के पंथ में पड़ना हो तो... आहाहा! वह शुभ विकल्प जो है दूसरे को समझाने का या दूसरे से समझने का, उस विकल्प को भी छोड़ दे। प्रभु! तेरा स्वरूप आनन्दमय है। आहाहा! ज्ञान और दर्शन और आनन्द ऐसी तेरी चीज़ है। क्योंकि वस्तु निर्विकल्प है। ऐसे विकल्प द्वारा तो अटकना हो जाता है। आहाहा! उसे छोड़कर स्वरूप में-परमात्मस्वरूप

महाप्रभु परम स्वरूप शुद्ध नित्यानन्द प्रभु, ऐसे परम स्वरूप में लीन होता है। विकल्प को छोड़कर। आहाहा! ऐसा उपदेश है भगवान का। यह तो आचार्य कहते हैं। तत्त्व में लीन हो जायेगा।

उन्मत्तता सम्बन्धी स्पष्टीकरण। यहाँ उन्मत्तता कही है न कि दूसरे को उपदेश करूँ, ऐसा विकल्प, हों! वाणी का स्वामी भले न हो। विकल्प का स्वामी भले न हो परन्तु विकल्प आता है न! और दूसरे से मैं समझूँ, ऐसा जो विकल्प है, वह तो मिथ्यात्व है। समझ में आया? वह मिथ्यात्व की उन्मत्तता है। आहाहा! गजब बात है। यह उन्मत्तता... दूसरे को समझाऊँ तो मुझसे समझे और बोलूँ तो (दूसरे) समझे, यह नहीं, परन्तु मात्र विकल्प आता है, वह अस्थिरता की उन्मत्तता है। समझ में आया?

उन्मत्तता दो प्रकार की है — १. श्रद्धा-अपेक्षा उन्मत्तता, और २. चारित्र-अपेक्षा उन्मत्तता। १. तत्त्वार्थसूत्र में दर्शायी गयी उन्मत्तता,... तत्त्वार्थसूत्र में अन्तिम सूत्र में ३२वाँ सूत्र है, उसमें उन्मत्तता बतायी है। **श्रद्धा-अपेक्षा से है। मिथ्यादृष्टि, सत् और असत् का भेद नहीं जानता।** मिथ्याश्रद्धावन्त, 'मेरा सत् स्वरूप चिदानन्द है और रागादि परवस्तु असत् है, मुझमें नहीं।' आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब, परिवार तो कहीं रह गये। पर उन्हें और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु आत्मा में होनेवाले विकल्प... आहाहा! वे विकल्प निश्चय से सत् नहीं। सत् ऐसे भगवान आत्मा का वह स्वरूप नहीं। यह अज्ञानी सत् और असत् के भेद को-पृथक्ता को नहीं जानते। आहाहा!

वह पागल पुरुष की तरह अपनी रुचि-अनुसार वस्तु को समझता है। वह स्वयं पर में मेरा मानता हूँ, वह तो आसक्ति है। ऐसा माने। आसक्ति भी नहीं। आसक्ति तो पर को अपना न माने तो भी अस्थिरता का भाव आवे, उसका नाम आसक्ति है। आहाहा! बहुत इसे भूल जाना पड़ेगा। आहाहा! भाई! तेरी चीज़ अन्दर स्वरूप वीतराग मूर्ति से विराजमान आत्मा निर्विकल्पस्वरूप है। उसमें पर को अपना मानना, राग को अपना मानना, शरीर को अपना मानना, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार जो अत्यन्त भिन्न उसके कारण से आये, उनके कारण से जाते हैं और उनके कारण से टिके हैं। आहाहा! समझ में आया?

पागल का दृष्टान्त नहीं दिया? एक पागल था। वह गाँव के बाहर निकला।

पत्थर-बत्थर होगा बड़ा, बैठा थोड़ी देर। और वहाँ आये राजा और सेना। राजा और रानी, हाथी और घोड़े आये। यह मेरे... मेरे... मेरे... परन्तु कहाँ है ? क्या है ? दस बजे का समय। नदी में पानी (था), इसलिए खाना हो वह खाकर, पानी पीना और दो घण्टे विश्राम लेना हो। चार बजे जोड़ दे वापस, उसमें वह पागल बैठा था तो कहे, देखो! यह मेरा राजा आया, यह रानी मेरी है, यह सब लड़के, नौकर हैं, सैनिक हैं, यह हाथी है।

इसी प्रकार यह आत्मा जहाँ आया, वहाँ शरीर आया, स्त्री आयी, पुत्र आये, पैसे आये (वे) मेरे। परन्तु कहाँ थे तेरे ? वह तो पर चीज़ उसके कारण से आयी है। आहाहा! मलूकचन्दभाई! गजब! मोक्षमार्गप्रकाशक का दृष्टान्त दिया है। आहाहा! पागल बैठा नदी के किनारे। वहाँ नदी का पानी देखकर सेना खाने (पीने) उतरी। आहाहा! मेरा राजा। इसी प्रकार जहाँ जन्मा वहाँ शरीर मेरा, बड़ा हुआ तब स्त्री मेरी और पुत्र हुआ तो पुत्र मेरे। वह तो लश्कर उसके कारण से आया है, कहीं तेरे कारण से आया नहीं। गजब काम कठिन।

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ का हुकम है। आहाहा! यह चीज़ तो उसके कारण से यहाँ आयी है और उसके कारण से वर्तमान परिणम रही है। तेरे कारण से आयी नहीं और तेरे कारण से वह परिणमती नहीं। आहाहा! उसकी अवधि हुई। दो बजे, तीन बजे वहाँ वे चलने लगे। तब यह पागल कहता है कि क्यों जाते हो ? हाथी चलने लगे। क्यों जाते हो पूछे बिना ? वे कहे, यह पागल लगता है। आहाहा! इसी प्रकार जहाँ अवधि पूरी होती है तो स्त्री मरे, पुत्र मरे, पत्नी मरे, पुत्र मरे। वह तो उनकी अवधि से यहाँ आये थे और अवधि लेकर यहाँ रहे और अवधि पूरी होने पर चले जाते हैं। आहाहा! पोपटभाई! भारी कठिन। आहाहा! ऐसे करोड़ों रुपये, बँगला, छह-छह लड़के बापूजी... बापूजी करे, यह सब आया है, नया नहीं आया ? आहाहा! परन्तु पागल है, कहते हैं। यह मिथ्यादृष्टि पागल, हों! मेरे हों, वे आवे न भाई मेरे पास। यह मेरे अंगी तो है, ऐसा कहते हैं न ? यह हमारे अंगित व्यक्ति हैं। धूल भी नहीं अंगित। तेरे अंग हों, वे अलग रहें ? आहाहा!

तेरे अंगित ज्ञान-दर्शन और चारित्र ये तेरे अंगित हैं। आहाहा! इसके बदले

परिवार और मित्र अच्छे मिले तो हमारे अंगित व्यक्ति। हमारे हित के चाहनेवाले हैं। हमारे दु:ख के काल में मदद करने आकर पहुँचें। धूल भी नहीं आते, सुन न! आवे तो उनके कारण से आवे। उसमें तेरा दु:ख वे कहाँ मिटावे? आहाहा!

मिथ्यादृष्टि, सत् और असत् का भेद नहीं जानता। वह पागल पुरुष की तरह अपनी रुचि-अनुसार वस्तु को समझता है। जैसे - मदिरा पीकर उन्मत्त हुआ पुरुष,... मदिरा पीकर पागल हुआ पुरुष **माता-पत्नी का भेद नहीं जानता होने से,...** शराब के नशे में, यह मेरी माँ या यह मेरी पत्नी, ऐसा नहीं जानता। स्त्री का वेश जानता है। आहाहा! **कभी माता को पत्नी और पत्नी को माता कहता है...** शराब के नशे में। आहाहा! वस्त्र समान देखकर। आहाहा!

बोटाद में बना था। एक मोढ था मोढ लड़का। उसकी नयी माँ थी। नयी माँ। वस्त्र पहने हुए उसकी नयी माँ ने उसकी स्त्री के। स्त्री गयी धोने। कपड़े लेकर धोने गयी। और उसकी माँ थी—नयी माँ। उसकी स्त्री के वस्त्र पहनकर सो रही थी। उसमें उसे विषय की वासना आयी वहाँ। थपका मारा। उसकी माँ समझ गयी। बेटा! बहू नहाने गयी है। स्त्री के वस्त्र पहने हुए, उसकी स्त्री के। इसलिए उसे ऐसा लगा कि वह है। ऐसा देखने आवे, वहाँ वह समझ गयी। बेटा! बहू नहाने गयी है। एकदम वृत्ति रुक गयी।

इसी प्रकार जगत के प्राणी जो जगत की चीज़ है, उसे ठीक से जरा आवे तो मेरी। तो वह चीज़ कहती है, बापू! मैं तो मेरे कारण से आयी हूँ, तू किसलिए मथता है? आहाहा! इसी प्रकार जिसे ज्ञान हो, उसे पर की वृत्ति, मेरे हैं यह वृत्ति रुक जाती है, एकदम। चाहे तो शरीर सुन्दर हो या वाणी हो। आहाहा! यह मकान और पैसे के विस्तार हो। आहाहा! परन्तु वे तो पर हैं, प्रभु! वे मेरी चीज़ नहीं हैं। मुझमें नहीं हैं। उनमें मैं नहीं हूँ। वे मुझमें नहीं हैं। आहाहा! ऐसी दृष्टि होने पर उसे पर को मेरेपने में उन्मत्तपने का पागलपन नाश हो जाता है। आहाहा! समझ में आया?

रुचि-अनुसार वस्तु को समझता है। जैसे - मदिरा पीकर उन्मत्त हुआ पुरुष, माता-पत्नी का भेद नहीं जानता होने से,... नहीं। उसकी नयी माँ थी, परन्तु वस्त्र पत्नी

के पहने हुए, इसलिए यह पत्नी है, ऐसा उसे लग गया। आहाहा! वह महिला भी खानदानी। भाई! बहू नहाने गयी है। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि परवस्तु को तू (मेरी) मानता है। भगवान ऐसा कहते हैं कि वह तो उसके कारण से परिणमकर आती है। तू क्यों मेरी मानकर बैठा? आहाहा! समझ में आया? धर्मदृष्टि बापू! कठिन है। उसमें सामायिक किये, प्रौषध किये, प्रतिक्रमण किये और धर्म हो गया। धूल भी धर्म नहीं। वहाँ मिथ्यात्व पोषित होता है। आहाहा! शरीर की क्रिया रजकण, उसके कारण से आये हैं। उसकी क्रिया होने पर वह मेरी होती है और मैं उसे करता हूँ... आहाहा! (यह) मिथ्यादृष्टि का उन्मत्त भाव है पागलपन का। पागल है। समझ में आया?

और वह किसी समय पत्नी को पत्नी और माता को माता भी कहता है, तथापि वह... पागलपन से कहता है। मदिरा के नशे में कहता है। उसकी बात सच्ची नहीं है। आहाहा! **तथापि वह सही समझपूर्वक वैसा कहता है, यह बात नहीं है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को...** दृष्टि जिसकी विपरीत है, वह **वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होने से,...** आहाहा! देखो न! सवेरे आया था। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय, है उसमें से आती है। आहाहा! और नहीं, और होती है तो भी वह अन्वय के सम्बन्ध से होती है। अन्वय अर्थात् द्रव्य और उसकी शक्ति है। तीन बातें वर्णन की हैं। द्रव्य-गुण और पर्याय। द्रव्य की अन्वयशक्ति द्वारा वह स्वयं व्यतिरेक अन्वय शक्ति को पाते हैं। आहाहा! यह पर्याय नयी होती है, यह इसके गुण को पाती है और गुण तो द्रव्य में है। अब किस समय की पर्याय तुझसे पर की हो? और तेरी पर्याय किस समय में पर से हो? आहाहा! ऐसी मूल बात की खबर नहीं होती। यह तत्त्व की, सत् के स्वरूप की खबर नहीं होती। और (मानता है कि) धर्म करें और हम धर्म करते हैं। पैसा दे तो पैसे का अभिमान, पैसा हमारा, हम खर्च करते हैं। मिथ्यादृष्टि की उन्मत्तता—पागलपन—गहलता है। ऐसा अर्थ है। हमारा मकान, हम देते हैं जाओ, धर्म में, धर्मशाला में। भगवान! मकान ही तेरा कहाँ है? आहाहा! और देता हूँ इसे (-मकान को), दान में, जाओ। यह मिथ्यात्व की गहलता है। **विकल्प, मिथ्यामान्यता के कारण, उन्मत्त पुरुष के समान होते हैं।**

२. प्रस्तुत श्लोक में... चलते श्लोक में। १९वें श्लाक मैं। **जो उन्मत्तता दर्शायी**

है, वह अन्तरात्मा की चारित्र-अपेक्षा से है;... पर को मानने की अपेक्षा से वह नहीं है। आहाहा! अब जगत स्त्री को तो अर्धांगना कहता है आधा अंग यह और आधा अंग वह। ऐसा होगा? हमारे घर से। ऐसा नहीं कहते? कौन है? हमारे घर से। हमारे घर से अर्थात् क्या? आहाहा! यह मान्यता तो मिथ्यात्व की गहलता है, कहते हैं। आहाहा!

यहाँ जो कहना चाहते हैं, वह सम्यग्दृष्टि को पर की मान्यता का मिथ्यात्व का नाश हुआ है, स्व स्वरूप से मैं हूँ, उसमें दूसरी चीज़ कोई मेरी नहीं है। मेरी है वह मुझमें परिपूर्ण पड़ी है। आहाहा! ऐसी दृष्टिवन्त को भी यह जो उपदेश देने का विकल्प है, उसे उन्मत्त चारित्रदोष की अपेक्षा से कहा है। आहाहा! समझ में आया?

श्रद्धा अपेक्षा नहीं,... इसमें जो कहा, वह श्रद्धा अपेक्षा से नहीं। वह तो विकल्प उठा, इतनी बात है अस्थिरता की। परन्तु उसे मैं समझा सकता हूँ, यह बात तो दृष्टि में है नहीं। ऐसे स्वयं सुनने में विकल्प है, तथापि यह सुनता हूँ, वहाँ से मेरी ज्ञानदशा आती है—होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! मेरी ज्ञान की पर्याय का प्रवाह तो अन्तर में दृष्टि मेरी है, जहाँ वस्तु है, वहाँ से आती है। इसलिए उसे विकल्प की श्रद्धा का दोष नहीं। आहाहा! गणधर भी सुनते हैं। आहाहा! परन्तु यह सुनने में जो विकल्प है... आहाहा! उसमें उन्हें भान है कि यह विकल्प है और यह सुनता हूँ, इसलिए अन्दर गुण की निर्विकारी पर्याय होगी—ऐसा हम नहीं मानते। आहाहा! कठिन बात, भाई! उसकी दृष्टि में तो यह जो कुछ पर्याय प्रवाहित होती है निर्मल, वह द्रव्य की मेरी दृष्टि है। वस्तु की महासत्ता की मुझे श्रद्धा की प्रतीति हुई है स्वसन्मुख में, उसमें से आयेगा, इसलिए यह विकल्प सुनने का, यह मिथ्यात्व नहीं है। समझ में आया? आहाहा! बात तो ऐसी कठिन। हा..हो... हा...हो... अभी तो।

कहते हैं कि इस सम्यग्दर्शन में भी ऐसा जो विकल्प उठे, वह चारित्र का दोष है। समझ में आया? स्त्री के विषय के समय भी समकिती को जो विकल्प उठता है, वह उसे दुःखरूप भासित होता है। उसमें मुझे मजा आता है, ऐसी दृष्टि तो गयी है। मजा तो मेरे आनन्दस्वरूप में आता हूँ, तब मुझे मजा आता है। ऐसी धर्मी को दृष्टि होने से विषय के भोगकाल में भी वृत्ति जो उठी है, उसमें मजा है, ऐसा वह मानता नहीं।

इसलिए वह श्रद्धा के उन्मत्तपने का दोष नहीं है। आहाहा! परन्तु अस्थिरता के चारित्र का दोष है। आहाहा!

श्रद्धा दोष और चारित्र दोष के बीच बड़ा अन्तर है। समझ में आया? सूक्ष्म में सूक्ष्म राग है, वह मेरा है और मुझे उसमें मजा आता है अथवा विषय के काल में स्त्री के शरीर के संग से मुझे मजा आता है, यह मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्व दोष है। आहाहा! समझ में आया? कान में पड़ा कि आज पाँच लाख पैदा हुए। सट्टा में या यह जो कुछ करते हों, बड़ा धन्धा हो तो होता है। यह सुनते हुए उसे हर्ष आता है कि आहाहा! 'मुझे मिले'। यह मिथ्यात्व का दोष है परन्तु यह मुझे मिले नहीं। मेरे पुण्य के कारण यह आये। उसकी जो वृत्ति आसक्ति की उठी, मेरे नहीं, परन्तु ऐसी वृत्ति उठी, वह चारित्रदोष। आहाहा! पोपटभाई! आहाहा!

ज्ञानी को भी अस्थिरता के कारण वैसे विकल्प उठते हैं... ऐसी वृत्ति होती है। **किन्तु उसको अभिप्राय में उनका आदर नहीं है।** आहाहा! अरे! यह मेरे पुरुषार्थ की कमी के कारण यह आया है। अभिप्राय में उसका आदर नहीं है। आहाहा! चाहे तो शुभ हो या अशुभ हो। यह धर्मदेश के भगवान के घर की बातें ऐसी हैं। आहाहा! यह वस्तु है। **उसको अभिप्राय में उनका आदर नहीं है।** आहाहा! अशुभभाव हो या शुभभाव हो, वह आस्रवतत्त्व है, उसकी ज्ञानी को एकता नहीं। एकता नहीं; पृथक्ता वर्तती है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

जहाँ तक विकल्प उठते है, वहाँ तक निर्विकल्प नहीं हुआ जा सकता;... ऐसी जो वृत्ति उठे अस्थिरता की... आहाहा! यहाँ तक अन्तर में निर्विकल्प आनन्द की वेदन दशा होना, वह होती नहीं। उतना विघ्न करती है। अब यहाँ (अज्ञानी) कहता है कि शुभ करते-करते निश्चय होगा। राग करते-करते अरागी दशा होगी। बहुत विपरीत मान्यता। व्यवहार से निश्चय होता है, यह खोजता है शास्त्र में से। आहाहा! बापू! यह तो व्यवहार वहाँ था कषाय की मन्दता का, उसका लक्ष्य छोड़कर, किसका लक्ष्य इसे छोड़ना और कहाँ यह गया बतलाने के लिये, कहीं ऐसा कहा हो कि व्यवहार से यह होता है। यह व्यवहारनय के वचन हैं, यह झूठे नय के वचन हैं। आहाहा! समझ में आया?

परन्तु अन्दर भगवान आत्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का जो लाभ होता है, वह तो अन्तर में से होता है। है, उसमें से होता है और नहीं पर्याय और हुई, तो भी वह गुण और द्रव्य को सम्बन्ध में रखकर होती है। उसे छोड़कर नहीं होता। आहाहा! कठिन ऐसा उपदेश! **अतः आचार्यदेव ने विकल्प तोड़कर,...** पूज्यपादस्वामी आचार्य वीतरागी सन्त थे। **निर्विकल्प होने का निर्देश किया है और अन्तरात्मा की भूमिका के विकल्पों को चारित्र-अपेक्षा से उन्मत्तपना कहा है।** आहाहा!

अन्तरात्मा ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु, उसके भान की भूमिका में... आहाहा! उस विकल्प को चारित्र की अपेक्षा से उन्मत्तपना कहा है। गजब स्पष्टीकरण किया है। साधारण व्यक्ति पकड़ सके। श्रीमद् में भी आता है। ज्ञानी को उन्मत्त अवस्था हुई हो तो भी उसका ध्यान वहाँ है। यह भाषा आती है, चारित्र की अपेक्षा से। पाठ तो किसी समय इसमें हो, कहीं ऐसी वस्तु... बाहर में ऐसा दिखाई दे, तथापि उसे अन्तर में तो अन्तरात्मा की ओर का ही झुकाव है। यह कहते हैं अन्दर। खबर है? ... ऐसा तो श्रीमद् ने बहुत कहा है परन्तु जरा यह बाहर का रह गया। श्वेताम्बर और दिगम्बर की भिन्नता रह गयी, इसलिए लोग पकड़ में छोड़ते नहीं। भाई! यहाँ तो मार्ग तो जैसा वीतराग का कहा, वह होना चाहिए। आहाहा!

वहाँ तो ऐसा कहा न कि वस्त्र का धागा रखकर, टुकड़ा रखकर मुनिपना माने, वह निगोदम् गच्छई—निगोद जायेगा। क्योंकि उसने पूरे नौ तत्त्व की विपरीत दृष्टि कर डाली है। ऐसा कहा। अब यह वस्त्र-पात्र इतने रखना, इतने धोना और मुनिपना! आहाहा! बहुत विरुद्ध हो गया। पवैयाजी! अब तो क्या करें? अब तो आ गये। पहले... आहाहा! ऐसा मार्ग है, हों! ऐसा वस्तु का स्वरूप है। समझ में आया?

कोई ऐसा कहता है कि वह तो चारित्रदोष है। यहाँ बचाव करके यह कहे। वस्त्र-पात्र रखना (परन्तु) मूर्च्छा नहीं रखना। क्योंकि मूर्च्छा को परिग्रह कहा है। भाई! प्रवचनसार में तो कहा है भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने कि पर की हिंसा का कदाचित् भाव न हो और हिंसा हुई, तथापि उसका दोष नहीं लगता। अप्रमत्तभाव... परन्तु परिग्रह तो एक कण भी रखे तो उसे पापबन्धन होता है। है न? आहाहा! यह पक्ष से नहीं कहा।

वस्तु के स्वरूप में यह स्थिति है। कि बाह्य पदार्थ को रखने की वृत्ति है, उसमें मुनिपना नहीं है। आहाहा! हम बाह्य वस्तु छोड़कर बैठे, इसलिए मुनिपना है—ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

यह तो भगवान आत्मा अन्तर स्वरूप आनन्द का जहाँ अनुभव है, सम्यक् अनुभव हुआ है, उसका स्वसंवेदनज्ञान हुआ है स्व के समीप से, उसे स्वसन्मुख में स्थिरता होकर जो चारित्र हो, उसे विकल्प हो तो अट्ठाईस मूलगुण का होता है, वह चारित्रदोष। और उसकी दशा होती तो नग्न ही होती है। परन्तु वह नग्नपना और विकल्प है, वह मुनिपना है—ऐसा नहीं है। आहाहा! कठिन बात, भाई!

यहाँ तो ऐसा कहा कि जिसका... इसमें ही आयेगा आगे। जिसे बाह्य परिग्रह न हो ऐसे वेश का आग्रह, वह वेश का आग्रह है, वह भी मुक्ति का कारण नहीं। समझ में आया? आयेगी गाथा। आगम में आग्रह हो जिसे कि यह होता है अथवा नहीं होता, यह नहीं होता, ऐसा नग्नपना, ऐसा आग्रह हो कि इससे मोक्ष होगा, वह आग्रह मिथ्या है। वह आग्रह छोड़ दे। नग्नपना और विकल्प जो है पंच महाव्रत का, वह मोक्ष का कारण नहीं। आहाहा! समझ में आया? है अन्दर, हों! आगे आयेगा। यह भाई कहते थे। लालन-पण्डित लालन ... देखो! इसमें—समाधिशतक में ऐसा कहा है कि वेश का आग्रह नहीं रखना कि नग्नपना हो, अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प हो, ऐसा आग्रह नहीं रखना। चाहे जो हो। ऐसा नहीं कहा वहाँ। सुन न! लालन थे न? तुम्हारे घर में रहते थे। वे ऐसा कहते थे। खिंचड़ी बहुत करे।

यह तो कहते हैं कि यह नग्नपना और विकल्प जो है व्यवहार का, वह मुक्ति का कारण है, ऐसा माने, उसका आग्रह छुड़ाया है। परन्तु इससे निमित्त दूसरा होगा, स्वरूप की दृष्टि और चारित्र अन्दर प्रगट हुआ और विकल्प मुनिपने के अतिरिक्त का, पंच महाव्रत के अतिरिक्त का दूसरा हो या नग्नपना के अतिरिक्त भी हो, ऐसा नहीं होता, इतना सिद्ध किया है। समझ में आया? इसमें कठिन भाई!

श्लोक - २०

तदेव विकल्पातीतं स्वरूपं निरूपयन्नाह -

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नैव मुंचति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥ २०॥

यत् शुद्धात्मस्वरूपं। अग्राह्यं कर्मोदयनिमित्तं क्रोधादिस्वरूपं। न गृह्णाति आत्मस्वरूपतया न स्वीकरोति। गृहीतमनन्तज्ञानादिस्वरूपं। नैव मुञ्चति कदाचिन्न परित्यजति। तेन च स्वरूपेण सहितं शुद्धात्मस्वरूपं किं करोति? जानाति। किं विशिष्टं तत्? सर्वं चेतनमचेतनं वा वस्तु। कथं जानाति? सर्वथा द्रव्यपर्यायादि-सर्वप्रकारेण। तदित्थम्भूतं स्वरूपं स्वसंवेद्यं स्वसंवेदनग्राह्यम् अहमात्मा अस्मि भवामि॥२०॥

उसी विकल्पातीत (निर्विकल्प) स्वरूप का निरुपण करते हुए कहते हैं —

बाह्य पदार्थ नहीं ग्रहे, नहीं छोड़े निजभाव।
सबको जानेमात्र वह, स्वानुभूति से ध्याव॥२०॥

अन्वयार्थ - (यत्) जो अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप (अग्राह्यं) अग्राह्य को अर्थात् क्रोधादिस्वरूप को (न गृह्णाति) ग्रहण नहीं करता और (गृहितं अपि) ग्रहण किए हुए को अर्थात् अनन्त ज्ञानादि गुणों को (न ऐव मुञ्चति) भी नहीं छोड़ता तथा (सर्व) सम्पूर्ण पदार्थों को (सर्वथा) सर्व प्रकार से अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से (जानाति) जानता है, (तत् स्वसंवेद्य), वह अपने अनुभव में आनेयोग्य चेतनद्रव्य (अहं अस्मि) मैं हूँ।*

टीका - जो अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप है, वह अग्राह्य को अर्थात् कर्मोदय के निमित्त से होते हुए क्रोधादिरूप को ग्रहण नहीं करता अर्थात् उनको आत्मस्वरूपपने स्वीकार नहीं करता और ग्रहण किये हुए अनन्त ज्ञानादि स्वरूप को छोड़ता ही नहीं

---

* जो णिय भाउ ण परिहरइ जो पर-भाउ ण लेइ। जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ॥

अर्थात् जो, अनन्तज्ञानादिरूप निज भाव को कभी छोड़ता नहीं है, काम-क्रोधादि परभावों को कभी ग्रहण नहीं करता, समस्त ही पदार्थों को मात्र सदा जानता है; वही शिव, शान्तस्वरूप है।

(श्री परमात्माप्रकाश, अध्याय-१/१८)

अर्थात् कभी भी उनका परित्याग नहीं करता—ऐसे स्वरूपवाला शुद्धात्मस्वरूप क्या करता है ? जानता है। क्या जानता है ? समस्त चेतन व अचेतन वस्तुओं को (जानता है)। किस प्रकार जानता है ? वह सर्वथा अर्थात् द्रव्य-पर्यायादि को सर्व प्रकार से (जानता है)। इससे ऐसा स्वसंवेद्यस्वरूप अर्थात् स्वसंवेदन से ग्राह्य स्वरूप, वह मैं-आत्मा हूँ।

भावार्थ - शुद्धात्मा, अनुभवगम्य चैतन्यद्रव्य है। वह नहीं ग्रहण करनेयोग्य राग-द्वेषादि को ग्रहण नहीं करता और ग्रहण किये हुए आत्मिक गुणों को-अनन्त ज्ञानादि गुणों को नहीं छोड़ता। वह सम्पूर्ण पदार्थों को सर्वथा-द्रव्य-गुण-पर्यायसहित जानता है।

'जो निजभाव को नहीं छोड़ता, किसी भी परभाव को ग्रहण नहीं करता; सर्व को जानता-देखता है, वह मैं हूँ — ऐसा ज्ञानी चिन्तन करता है।[१]'

विशेष स्पष्टीकरण -

आत्मा, परद्रव्य को जरा भी ग्रहण नहीं करता तथा नहीं छोड़ता, क्योंकि परनिमित्त के आश्रय से हुए-प्रायोगिकगुण की सामर्थ्य से तथा स्वाभाविक-वैस्रसिकगुण की सामर्थ्य से आत्मा द्वारा परद्रव्य का ग्रहण करना तथा छोड़ना अशक्य है।[२]

आत्मा के परद्रव्य का ग्रहण-त्याग कहना तो व्यवहारनय का कथनमात्र है। निश्चयनय से तो वह परद्रव्य का ग्रहण-त्याग कर सकता ही नहीं है। जब जीव, आत्मस्वरूप में लीन होता है, तब रागादि विकार स्वयं छूट जाता है; उसे छोड़ना नहीं पड़ता और आत्मिकगुण स्वयं प्रगट होते हैं।

जब आत्मस्वरूप सम्पूर्णरूप से प्रगट होता है, तब आत्मा के ज्ञानगुण की पर्याय भी केवलज्ञानरूप से प्रगट होती है। इस केवलज्ञान की ऐसी अनन्त महिमा है

---

१. णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केइं। जाणदि पस्सदि सव्वं सो हं इदि चिंतए णाणी॥
अर्थात् जो, निजभाव को नहीं छोड़ता, किञ्चित् भी परभाव को ग्रहण नहीं करता, सर्व को जानता-देखता है, वह मैं हूँ — ऐसा ज्ञानी चिन्तवन करता है। *(श्री नियमसार, गाथा ९७)*

२. श्री समयसार, गाथा-४०६, श्री प्रवचनसार, गाथा-३२ और श्री समयसार, कलश-२७६

कि वह अनन्त द्रव्यों के अनन्त गुणों को और उनकी त्रिकालवर्ती विकारी-अविकारी अनन्त पर्यायों को सम्पूर्णरूप से एक ही समय में सर्वथा प्रत्यक्ष जानता है।[1]

ज्ञान, परपदार्थों को जानता है—ऐसा कहना भी व्यवहारनय का कथन है। वास्तव में तो आत्मा को, अपने को जानते हुए, समस्त परपदार्थ ज्ञात हो जाते हैं—ऐसी ज्ञान की निर्मलता-स्वच्छता है।

तथा वह आत्मस्वरूप स्वसंवेद्य है अर्थात् अपने आत्मा के ही अनुभव में आवे, वैसा है। गुरु, उनकी वाणी अथवा तीर्थङ्कर भगवान की दिव्यध्वनि भी उसका अनुभव करा सके, वैसा नहीं है; जीव अनुभव करे तो वह निमित्तमात्र कहलाती है। वह (आत्मस्वरूप) स्वानुभवगोचर है। आत्मा स्वयं ही उसे पहिचानकर, अनुभव कर सकता है।

इस प्रकार वास्तव में आत्मा के परद्रव्य का तथा रागादि का गहण-त्याग नहीं है, वह सर्वज्ञ है और मात्र स्वानुभवगोचर है॥२०॥

श्लोक - २० पर प्रवचन

उसी विकल्पातीत (निर्विकल्प) स्वरूप का निरुपण करते हुए कहते हैं — २०वीं गाथा। निर्विकल्प स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं।

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नैव मुंचति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥ २०॥

जो अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप है,... है। शुद्ध स्वरूप चैतन्यघन प्रभु निर्मलानन्द का सहज स्वरूप है आत्मा का, वह **अग्राह्य को अर्थात् क्रोधादिरूप को ग्रहण नहीं करता...** आहाहा! कर्म के निमित्त से हुए रागादि भाव को ग्रहण नहीं करता। आहाहा! राग को जिसने ग्रहण नहीं किया, ऐसा जो स्वरूप है। परवस्तु को ग्रहण किया है तो छोड़ता हूँ, ऐसा तो वहाँ नहीं। भाई! आहाहा! उसका अर्थ कोई ऐसा कर डाले कि

१. श्री प्रवचनसार, गाथा-३७, ३८, ३९, ४१, ४७, ४८, ४९, ५१ में यह विषय स्पष्टरूप से आया है।

नग्नपना न हो, विकल्प पंच महाव्रत के न हों, वस्त्र का विकल्प हो, वस्त्रसहित हो तो भी उसे मुनिपना आवे, होवे—ऐसा नहीं है। आहाहा! भारी कठिन।

वस्त्र छूट गया है, नग्नपना हो गया है, पंच महाव्रत के विकल्प हैं, इसलिए मुनिपना है—ऐसा नहीं है। समझ में आया? क्योंकि इसने राग ग्रहण किया ही नहीं। आहाहा! छोड़े क्या? आहाहा! शुद्धात्मा भगवान पूर्णानन्द का नाथ ज्ञान का सागर चैतन्य। जहाँ ज्ञान की दशा ही उछलती है, उसकी तरेंगे ज्ञान की जाति की उठती हैं, ऐसे भगवान आत्मा में राग और पर को ग्रहण किया नहीं। अग्राह्य है। आहाहा! कर्मोदय निमित्त से क्रोधादिरूप ग्रहता है अर्थात् कि वह आत्मस्वरूप है, ऐसा स्वीकारता नहीं। शुद्धात्मस्वरूप है, ऐसा जहाँ दृष्टि में सम्यक् हुआ, वह कर्म के निमित्त से होनेवाले रागादि को आत्मस्वरूपपने स्वीकार नहीं करता। पंच महाव्रत के परिणाम और नग्न शरीर की-अजीव की दशा, उसे शुद्ध स्वरूप में स्वीकार नहीं करता, वह मेरा नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

और **ग्रहण किये हुए अर्थात् अनन्त ज्ञानादि गुणों को छोड़ता नहीं...** आहाहा! भगवान आत्मा में अनन्त ज्ञानस्वभाव, अन्वय शक्ति ध्रुव ऐसे अनन्त ज्ञान को जो ग्रहण किया है अर्थात् अनन्त ज्ञानमय है, उसे कभी छोड़ता नहीं। अग्राह्य को ग्रहण नहीं करता और ग्रहण किया है, उसे छोड़ता नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसा उपदेश इसलिए... परन्तु लोग अब सुनते हैं। बापू! मार्ग यह है, भाई! चौरासी के भवभ्रमण में बापू! दु:खी हुआ है, भाई! मिथ्यात्व के कारण नरक और निगोद के भव करके असह्य ऐसे दु:खों को सहन किये हैं। भाई! तू भूल गया। बाहर के यह पथारा—देखकर भूल गया कि मैं दु:खी था। आहाहा! कुछ शरीर ठीक, पैसा ठीक, इन्द्रियाँ ठीक (मिली), इस ठीक में भूल गया। आहाहा!

कहते हैं, परन्तु जिसे तू ठीक कहता है, ग्रहण नहीं किया न जीव ने। आहाहा! अरे! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उस भाव को भगवान शुद्धस्वरूप ने ग्रहण नहीं किया। समझ में आया? आहाहा! और जो शुद्धस्वरूप में शुद्ध ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि जो शक्तियाँ हैं, उन्हें कभी इसने छोड़ा नहीं। गुणी ने गुण को छोड़ा नहीं। आहाहा!

और गुणी ने राग को, परवस्तु को कभी ग्रहण नहीं किया। आहाहा! समझ में आया? है न?

ग्रहण किये हुए अर्थात् अनन्त ज्ञानादि गुणों को... ओहोहो! वस्तु है आत्मा, वह तो स्वभाववान है। परन्तु उसका स्वभाव अनन्त ज्ञान है। वर्तमान में, हों! जिसका ज्ञानस्वभाव, उसे हद क्या? उसे मर्यादा क्या? जिसका श्रद्धास्वभाव, उसे हद क्या? जिसका आनन्दस्वभाव, उसे मर्यादा क्या? आहाहा! ऐसे आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त दर्शन, अनन्त स्वच्छता, अनन्त जीवत्वशक्ति इत्यादि अनन्त कर्ता, अनन्त करण ऐसी शक्तियाँ वह जीव ने कभी छोड़ी नहीं। आहाहा! इस गुणी ने गुण को छोड़ा नहीं और इस गुणी ने राग को ग्रहण नहीं किया। आहाहा! ऐसी बातें हैं, भगवान! आहाहा! दृष्टान्त और दलील और कथायें हों न तो बहुत अच्छा लगे लोगों को। ऐसा हुआ, रावण ने ऐसा किया, ध्यान किया, विद्या में... राम को कहा। यह विद्या साधता है, ऐसी विद्या साधता है कि फिर सीता नहीं मिलेगी।

राम कहते हैं कि यह विद्या साधने में भगवान के पास बैठा है। इसे हम विघ्न नहीं कर सकेंगे। आहाहा! एक सीता क्या, ऐसी हजार सीता जाये और न मिले। परन्तु मैं नहीं करूँगा। आहाहा! सीता को लेने गये हैं, तब वह विद्या साधता है भगवान के पास बैठकर। वे कहते हैं कि साहेब! यह ऐसी विद्या साधता है कि फिर इसमें सीता नहीं मिलेगी। ऐसी विद्या साधता है। भाई! आहाहा! देखो! पुरुषोत्तम पुरुष! धर्मात्मा अन्तरात्मा है न! उनसे कहा कि ऐसा करता है यह। हम तुझे लेने आये हैं, सीता! इस विद्या के साधन में नहीं मिले। लाख सीता न मिले परन्तु किसी की विद्या साधन में विघ्न करे, यह हमारा धर्म नहीं है, बापू! यह होना होगा वह होगा। अन्त में तो लक्ष्मण वासुदेव हैं, वह चाहे जैसी विद्या उसने साधी हो परन्तु उसे मरना ही होगा। सीता लेकर ही रहेंगे। ऐसा विश्वास नहीं उन्हें? शास्त्र से सुना नहीं उन्होंने कि वासुदेव प्रतिवासुदेव को मारता है और प्रतिवासुदेव का राज्य वासुदेव को मिलता है। वे वासुदेव हैं, मैं बलदेव हूँ। आहाहा! दूसरा नहीं होता। आहाहा! देखो! अन्तरात्मा की .... विकल्प आया है सीता यहाँ क्यों लेकर आये? क्यों रावण ले गया? लेकर ही रहेंगे। तथापि यह

विघ्न आया बीच में, उसे दूर नहीं करते। आहाहा! यह हमारी पद्धति होगी तत्प्रमाण लेंगे। लक्ष्मण... रावण मारता है विद्या। लक्ष्मण असाध्य हो जाते हैं। देखो! यह विद्या साधी... आहाहा! ऐसा हम वहाँ पालेज में बोलते थे। प्रतिक्रमण करें न, बाद में। यह तो (संवत्) १९६४-६५ की बात है।

'आये थे तब तीन जनें और...' लक्ष्मण को बोलते हैं राम। 'आये थे तब तीन जनें और जाऊँ एकाएक।' ... प्रभु भाई! 'माताजी खबरें पूछेंगी उन्हें क्या-क्या उत्तर दूँगा बाँधव ? जाग न हो जी... बांधव बोल एक बार जी...' एक बार तो बोल। यह भाषा यह रची है। परन्तु बात तो ऐसी है। यह वहाँ पालेज में प्रतिक्रमण की, उसे भाई, फिर यह बोले बाद में। धर्म करें। ऐई... पोपटभाई! दुकान बन्द करके फिर प्रतिक्रमण हो न शाम को। शाम को बन्द करके प्रतिक्रमण करें। बोलनेवाला मैं। दूसरा कौन बोले ? सब सुने। कण्ठ भी तब बहुत ठीक था न! मुसलमान कहे, कानजीभाई यहाँ आओ, बोलो कुछ। लोटिया की दुकान थी। आहाहा!

अरे! मैं माता के पास अकेला जाऊँगा। परन्तु मेरा भाई वासुदेव है, वह कभी मर नहीं सकता, ऐसा अन्दर में है। परन्तु चारित्र के अस्थिरता के दोष के कारण, वह सब खड़ा होता है। वासुदेव किसी से नहीं मरते। वासुदेव प्रतिवासुदेव को मारते हैं, राज लेते ही हैं। श्रद्धा में तो है। परन्तु चारित्रदोष के कारण ऐसे विकल्प उठे हैं। समझ में आया ? तथापि कहते हैं कि इस विकल्प को स्वभाव ने ग्रहण नहीं किया। आहाहा! और जो अनन्त ज्ञानादि स्वरूप भगवान आत्मा का, उसे छोड़ता नहीं, छोड़ा नहीं। ऐसा अनुभव किया है। आहाहा! मेरी शक्ति का संहार कोई कर सके, ऐसा तीन काल में नहीं है। मेरी शक्तियों के स्वभाव को मैंने छोड़ा नहीं और विकल्प को (जिसने) लक्ष्मण मेरा भाई कहता हूँ, उसे मैंने ग्रहण नहीं किया। आहाहा! समझ में आया ? यह ज्ञानी की पद्धति अलग प्रकार की है, भाई! दिखे मिथ्यादृष्टि जो क्रिया करता है वैसी क्रिया लगती है इसे। आहाहा!

कहते हैं, यह आत्मस्वरूपपने राग को और शरीर को और भाई को तथा स्त्री को ग्रहण नहीं किया। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा! क्या समझ में आया इसमें.. ?

यह यह पुत्र, क्या नाम लिया? अमरावती। वहाँ ऐसा है? यह कहता था। एक बार कहता था यह कि ऐसा वहाँ नहीं। बात सच्ची है, बापू! यह तो वस्तु दूसरी। आहाहा! यह ...नहीं लड़का ... पिता। यह कहता था एक दिन, हों! ऐसी बातें कहीं नहीं हैं। सुनने को नहीं मिलती। बात सच्ची, भाई! आहाहा!

कहते हैं कि प्रभु भगवान आत्मा, जिसमें अनन्त शक्तियों के स्वभाव से भरपूर प्रभु, अनन्त गुण का पिण्ड, एक-एक गुण जो अपरिमित अनन्त सत्त्व के शक्तिवाला भगवान आत्मा ने उसे ग्रहण किया है, उसे छोड़ा नहीं। यह ग्रहण किया है, उसे छोड़ा नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! फाट... फाट होकर अन्दर भगवान जगे ऐसा है यह तो। आहाहा! तुझसे न रहा जाये अब, ऐसा भगवान तू है न, प्रभु! आहाहा! मेरी शक्तियों के पिण्ड को मैंने छोड़ा नहीं। और राग को तथा परवस्तु को मैंने ग्रहण नहीं किया। अग्राह्य को ग्रहण नहीं किया और ग्रहण है उसे छोड़ा नहीं। गजब बात है! अस्ति-नास्ति की। अस्ति-नास्ति की, भाई! आहाहा!

धर्मी आत्मा को इस प्रकार से जानता है कि... सम्यग्दृष्टि जीव (जिसे) सत् का साक्षात् हुआ है, वह सत् दृष्टिवन्त... आहाहा! सत् है न वह द्रव्य और गुण? उस सत् का जिसे अन्दर भान हुआ है... आहाहा! वह ऐसा मानता है कि मैंने मेरी सत् की शक्तियाँ जो अनन्त पड़ी हैं, उन्हें मैंने कभी छोड़ा नहीं। गुणी गुण को कैसे छोड़े? आहाहा! और वह गुणी, जिसमें नहीं राग और शरीर और वाणी और पर, यह गुणी कैसे ग्रहण करे? आहाहा! समझ में आया? ऐसा मैं आत्मा, ऐसा कहते हैं। इसलिए कभी भी उसका परित्याग नहीं करता। अपना स्वरूप शुद्ध है। शुद्ध शक्ति।

ऐसे स्वरूपवाला शुद्धात्मस्वरूप क्या करता है? तब ग्रहण किया हुआ छोड़ता नहीं और नहीं ग्रहण किया हुआ ग्रहता नहीं। तो करता क्या है? आहाहा! यह तो वीर का मार्ग, बापू! यह कायर के काम यहाँ नहीं हैं। यह हिंजड़े का काम यहाँ नहीं है। लश्कर में लड़ने गये हिंजड़े। जामनगरवाले। यहाँ तो वीर का काम है अन्दर। आहाहा! कहते हैं, **क्या करता है?** यह विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण १०, मंगलवार, दिनांक ०७-१-१९७५, श्लोक-२०, प्रवचन-२८

यह समाधितन्त्र। पूज्यपादस्वामी। सीमन्धर भगवान के पास गये थे, उन्होंने यह समाधितन्त्र बनाया है। समाधितन्त्र कहते हैं न? २०वीं गाथा चलती है। उसकी टीका गुजराती है, हिन्दी है।

देखो! यह शुद्धात्मस्वरूप है वह, अग्राह्य कर्मोदय निमित्त से हुए **क्रोधादिरूप को ग्रहण नहीं करता...** भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप द्रव्यस्वभाव वह कर्म के निमित्त से होनेवाला शुभ-अशुभभाव विकारी, उसको स्वभाव ग्रहता नहीं। स्वभाव में वह है नहीं। आहाहा! समझ में आया? जो सम्यग्दर्शन, उसका विषय शुद्ध आत्मा, वह शुद्ध आत्मा रागादि को ग्रहता नहीं और अपनी अनन्त ज्ञान-दर्शनशक्ति है, उसको कभी छोड़ता नहीं। आहाहा! है?

कर्मोदय के निमित्त... विभावभाव है, वह तो कर्म के निमित्त के संग से, परन्तु वह अपने से होता है। परन्तु स्वभाव के संग से पुण्य-पाप का भाव होता नहीं। होता है निमित्त का संग करने से... आहाहा! शुभ और अशुभभाव। क्रोध शब्द क्यों कहा? कि स्वरूप की रुचि छोड़कर जो विकार की रुचि करता है, उसको स्वभाव (के) प्रति क्रोध है। कर्ता-कर्म में आया है, समयसार में। जरा सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा! मूल चीज़ ही सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है और सम्यग्दर्शन का विषय क्या है, उसका आश्रय लेने की चीज़ क्या है? और उसका चैतन्यस्वरूप ध्रुव, उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। एकरूप नियम त्रिकाल। आहाहा! जो ११वीं गाथा में आया है, समयसार। **'भूदत्थमस्सिदो खलु समादिट्ठी हवदि जीवो'** समयसार, कुन्दकुन्दाचार्य। ११वीं गाथा का पहला पद है। भूतार्थ। एक समय में आत्मा सत्यार्थ त्रिकाल भूतार्थ ध्रुव स्वभाव जो नित्य है, उसके आश्रय से, उसके सन्मुख होने से और निमित्त और राग और पर्याय की दृष्टि से विमुख होकर... आहाहा! सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। धर्म की पहली सीढ़ी-धर्म का पहला सोपान। आहाहा!

कहते हैं कि वह चीज़ जो सम्यग्दर्शन जिसके आश्रय से उत्पन्न होता है, वह

चीज़ कैसी है ? आहाहा ! सूक्ष्म है, भगवान ! थोड़ी बात है । अभी प्रवृत्ति बाहर की बहुत चलती है और बाहर से होता है, ऐसा मान रखा है । तो यह चीज़ ऐसी नहीं । तो कहते हैं कि सम्यग्दर्शन वह चीज़ कोई विकल्प से आत्मा प्राप्त होता है, निमित्त से होता है, राग से होता है, व्यवहार से, ऐसा है नहीं । वह तो शुद्ध चैतन्यघन पूर्णानन्द का आश्रय करने से-उसकी सन्मुखता करने से सम्यग्दर्शन होता है । यह त्रिकाल एक नियम । सम्यग्दर्शन का जो विषय वह चीज़ कैसी है ? कहते हैं कि अग्राह्य । कर्म के निमित्त से अपने में अपने कारण से पुण्य-पाप का भाव जो (होता) है, वह विकार है । विकार को कभी शुद्धस्वभाव ने ग्रहण नहीं किया । है पाठ ? '**यदग्राह्यं न गृह्णाति**' आहाहा ! वह ग्रहनेयोग्य नहीं है ।

भगवान शुद्ध चैतन्यस्वरूप पूर्ण आनन्द और ज्ञानस्वरूप, वह राग को ग्रहनेयोग्य वह चीज़ ही नहीं । आहाहा ! उसका अर्थ कि व्यवहार का जो भाव है राग, उसको वह ग्रहता नहीं । आहाहा ! अग्राह्य है न ? पहला शब्द है '**यदग्राह्यं**' । जो भगवान शुद्ध चैतन्य -स्वरूप नित्यानन्द जिसमें अनन्त बेहद ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य— ऐसी-ऐसी अनन्त शक्तियाँ-गुण-स्वभाव जिसके स्वभाव में ऐसा स्वभाव पड़ा है । आहाहा ! ऐसी चीज़ राग को ग्रहती नहीं । आहाहा ! समझ में आया ? राग शब्द का (अर्थ) व्यवहार जो दया, दान, व्रत, भक्ति, व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प आता है, होता है, जब तक वीतरागस्वभाव पूर्ण न हो, तब तक ज्ञानी को भी ऐसा शुभभाव आता है । परन्तु उस स्वभाव ने विभाव को ग्रहण किया नहीं । आहाहा ! धर्मी जीव तो उसको ग्रहे बिना पृथक् रखकर उसको जानता है । ऐसी बात बहुत कठिन, बापू ! आहाहा ! समझ में आया ?

शुद्ध आत्मस्वरूप है, वह अग्राह्य को, अर्थात् कर्मोदय के निमित्त से होते हुए क्रोधादिरूप को ग्रहण नहीं करता,... आहाहा ! जो १२वीं गाथा में कहा । सम्यग्दर्शन तो स्वभाव के आश्रय उत्पन्न हुआ, ऐसा ११वीं गाथा में कहा । १२वीं गाथा में कहा कि व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है । रागादि आता है । परन्तु वह जाना हुआ प्रयोजनवान है । आदरणीय है नहीं । आहाहा ! '**तदात्वे प्रयोजनवान्:**' ऐसा संस्कृत में है । १२वीं गाथा संस्कृत में है । '**तदात्वे**' उस काल में जो राग आता है, वह जाननेयोग्य है । स्वभाव

उसको ग्रहता नहीं। अर्थात् स्वभाव ग्रहता नहीं तो स्वभाव दृष्टिवान समकिती भी उसका स्वीकार नहीं करता। आहाहा! समझ में आया? ऐसी चीज़ है। सेठ! आहाहा! बड़ी चीज़... बापू! यह तो तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव तीर्थंकर महाप्रभु का यह हुकम है, यह आदेश है। आहाहा!

भगवान! तेरी चीज़ क्या है? वह तो शुद्ध आनन्दघन शुद्ध स्वरूपी पवित्र आनन्दघन है। ऐसा शुद्ध स्वभावी भगवान,... बीच में राग, जब तक सर्वज्ञ परमात्मा न हो आत्मा, तब तक राग आता है। भक्ति का, दया का, दान का भाव आता है। परन्तु वह स्वभाव उसको ग्रहण नहीं करता और स्वभाव की दृष्टिवन्त भी अपना मानता नहीं, स्वीकार नहीं करता। आहाहा! जानता है कि है। समझ में आया? आहाहा!

ग्रहण नहीं करता, अर्थात् उनको आत्मस्वरूपपने स्वीकार नहीं करता... आहाहा! आत्मस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द ज्ञायक ऐसे आत्मस्वरूपपने वस्तु (है, उसमें) राग आता है, उसको ग्रहता नहीं। आत्मस्वरूपपने स्वीकारता नहीं। श्रीपालजी! ऐसी बात बहुत कठिन पड़े जगत को। बाहर में तो विकल्प क्या चीज़ है? ऐसा सम्यग्दर्शन करना, वह अपूर्व चीज़ है, भाई! बाकी तो बहुत किया अनन्त बार। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं कि वस्तु जो है सम्यग्दर्शन का विषय अथवा जिसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, वह चीज़ शुद्धात्मस्वरूप उसने राग का कभी स्वीकार नहीं किया, अन्तर में ग्रहण नहीं किया। आहाहा! आत्मस्वरूप, वह राग का स्वीकार नहीं करता कि मैं हूँ। क्योंकि वह राग की क्रिया है, वह आस्रव की क्रिया है। राग आस्रव है। आहाहा! और भगवान आत्मा... आस्रव से ज्ञायकभाव भिन्न है। आहाहा! समझ में आया? ये तो भगवान की अपूर्व बात है, प्रभु! बाहर से पकड़ लिया है न कि ऐसे-ऐसे निमित्त से हो जाता है और व्यवहार से होता है। वह वस्तु का स्वरूप ही ऐसा नहीं है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहाहा! पोपटभाई! आहाहा!

ये दान करे बहुत पाँच-पचास लाख का। उतना तो न करे। परन्तु पाँच-पचास हजार का करे। पचास हजार दिये हैं, वहाँ वढवाण। दो करोड़ में से पच्चीस लाख दे दे? परन्तु दे तो भी उसमें राग की मन्दता करे तो वह पुण्य-शुभभाव है। आत्मस्वरूप

जो दृष्टि का विषय है, उस आत्मस्वरूप को राग को ग्रहण किया नहीं। गिरधरभाई! गिरधरभाई को वहाँ नहीं देते थे। परन्तु बहुत मुश्किल से मिला। बैठे थे वहाँ। पचास हजार पोपटभाई ने और पचास हजार कौन? तलकशीभाई। बड़ा मन्दिर होता है न। वढवाण में दिगम्बर मन्दिर। यहाँ काठियावाड़ में तो कोई दिगम्बर था ही नहीं। नया मन्दिर बनता है। तीस तो मन्दिर बने हैं। वह भी उसके कारण से, हाँ! पुद्गल की पर्याय की रचना पुद्गल के कारण से परावर्तन होकर बनी है। बनानेवाला ऐसा कहे कि मैंने बनाया। ऐसा है नहीं। शुभभाव हो। शुभभाव हो। समझ में आया?

परन्तु यहाँ तो कहते हैं... आहाहा! भगवान आत्मस्वरूप है, (वह) आत्मस्वरूपपने से राग का स्वीकार नहीं करता। है? पाठ का अर्थ है। संस्कृत में है। देखो! '**कर्मोदयनिमित्तं क्रोधादिस्वरूपं। न गृह्णाति आत्मस्वरूपतया न स्वीकरोति**' संस्कृत में है। २० गाथा। समझ में आया?

और ग्रहण किये हुए अनन्त ज्ञानादि स्वरूप को छोड़ता ही नहीं,... आहाहा! वस्तु जो आत्मा है,... वस्तु क्यों कहा? गोम्मटसार में कहा है। वस्तु क्यों कहा? कि उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि शक्तियाँ बसती हैं-रहती हैं, इसलिए वस्तु कहने में आता है। वस्तु, जिसमें अनन्त शक्तियाँ बसी है। गोम्मटसार में है। आहाहा! ये वास्तु करते हैं न वास्तु? मकान का। तो मकान में वास्तु करते हैं या जंगल में वृक्ष के ऊपर करते हैं?

वैसे वस्तु भगवान आत्मा, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती गोम्मटसार के रचयिता कहते हैं, वस्तु क्यों कहा? भगवान आत्मा को वस्तु क्यों कहा? और रजकण परमाणु को भी वस्तु क्यों कहा? कि जिसमें अनन्त गुण बसते हैं, रहते हैं, निवास करते हैं। आहाहा! समझ में आया? यह वस्तु, हों! आपके मकान का वास्तु नहीं। वे वहाँ ले जानेवाले हैं न। वास्तु (के लिये)। कहो, समझ में आया? अभी कहने में आये रामजीभाई के बेटे का। आहाहा! ऐसा कहते हैं कि एक दिन वहाँ रहना। हमारे चन्दुभाई रात को रहेंगे वहाँ, नया मकान बनाया है। ... कौन बनाये? गजब बात है, प्रभु!

उस रजकण की पुद्गलपर्याय जो है, वह उसका जन्मक्षण है। १०२ गाथा में आ

गया है। प्रवचनसार। प्रवचनसार में अमृतचन्द्राचार्य महाराज स्पष्ट करते हैं कि पुद्गल जो जड़ है, उस समय उत्पन्न होने का क्षण है। तो उसके काल में वह पर्याय उत्पन्न होती है। पर के कारण से उत्पन्न होती है, ऐसा है नहीं। आहाहा! और अन्दर विकल्प आता है राग-अशुभ हो या शुभ, तो कहते हैं कि आत्मस्वरूपपने उसका स्वीकार नहीं है। क्योंकि आत्मस्वभाव नित्यानन्द शुद्ध, उसमें राग का प्रवेश नहीं (होता) और शुद्ध स्वभाव में राग की पकड़ नहीं। अरे! ऐसी चीज़ है भगवान पूर्णानन्द, उसकी खबर नहीं और धर्म हो जाता है। आहाहा! अनादि काल से भ्रम में पड़ा है और तत्त्व की बात सुनी नहीं है। आहाहा!

कहते हैं कि **ग्रहण किये हुए अनन्त ज्ञानादि...** ज्ञान है न अन्दर? स्वभाव अनन्त है। केवलज्ञान की पर्याय जो है; केवलज्ञान जो है, वह पर्याय है। केवलज्ञान गुण नहीं है। अरिहन्त को जो केवलज्ञान होता है, वह पर्याय है, गुण नहीं। गुण उत्पन्न होता नहीं। उत्पन्न होता है, (वह) पर्याय उत्पन्न होती है। तो ऐसी केवलज्ञान की पर्याय है, ऐसी अनन्त अनन्त पर्याय ज्ञानगुण में पड़ी है। आहाहा! जब से केवलज्ञान होता है तो अनन्त काल (तक) नया-नया उत्पन्न होता है। वही की वही पर्याय नहीं रहती। एक समय में जो केवलज्ञान आया तो दूसरे समय वह नहीं रहता। दूसरे समय व्यय होकर, दूसरे समय दूसरे केवलज्ञान की पर्याय (होती है)। पर्याय है न? तो पर्याय उत्पाद-व्ययवाली होती है। गुण उत्पाद बिना का ध्रुव रहता है। आहाहा! समझ में आया? तो वह केवलज्ञान की पर्याय एक समय में तीन काल—तीन लोक को जानती है, ऐसा कहना भी व्यवहार है। परन्तु ऐसी पूर्ण पर्याय दूसरे समय, तीसरे समय, चौथे समय अनन्त काल तक (उत्पन्न होती है)। जब से केवलज्ञान हुआ, तब से नया-नया केवलज्ञान अनन्त काल रहेगा। ऐसी अनन्त काल की पर्याय का पिण्ड जो ज्ञानगुण है... आहाहा! समझ में आया? उस ज्ञानगुण ने राग को कभी नहीं पकड़ा। क्योंकि अनन्त ज्ञानसम्पन्न प्रभु आत्मा है।

ज्ञान अनन्त, ऐसी श्रद्धा अनन्त। श्रद्धागुण की जो पर्याय उत्पन्न होती है क्षायिक, क्षायिक, परन्तु क्षायिक पर्याय का समय एक है। दूसरे समय (दूसरी होती है)। क्योंकि

पर्याय है न ? रहती है क्षायिक सादि-अनन्त। परन्तु वही की वही पर्याय सादि-अनन्त रहती है, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया ? द्रव्य और गुण और पर्याय क्या चीज़ है, उसका ज्ञान विपरीत हो गया और धर्म हो जाता है उसको। मानता है जगत अनादि से। क्या करें ?

कहते हैं कि समकित की क्षायिक पर्याय... आहाहा! पर्याय, क्षायिक समकित भी पर्याय है। क्षायिक समकित गिरता नहीं। परन्तु क्षायिक समकित की पर्याय है, वह एक समय में एक, दूसरे समय में दूसरी, तीसरे समय में तीसरी (होती है)। क्योंकि उत्पाद नया-नया होता है। तो ऐसी क्षायिक समकित की पर्याय जो उत्पाद अनन्त (हो), ऐसी श्रद्धागुण में पर्याय अनन्त पड़ी है। श्रद्धागुण जो है, (उसमें) अनन्त पर्याय पड़ी है। इसलिए श्रद्धा अनन्त है, ज्ञान अनन्त है, आनन्द अनन्त है, वीर्य अनन्त है। आहाहा! समझ में आया ?

ऐसे **अनन्त ज्ञानादि...** आदि अर्थात् अनन्त लिया है। अनन्त शक्ति है न, अनन्त शक्तियाँ। जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति, दर्शीशक्ति, ज्ञानशक्ति, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व, सर्वदर्शीत्व, सर्वज्ञत्व, स्वच्छत्व, प्रकाश ऐसी ४७ शक्ति तो समयसार में अन्त में ली हैं। ऐसी-ऐसी अनन्त शक्तियाँ प्रभु आत्मा में हैं। वह एक-एक शक्ति अनन्त (सामर्थ्यवान) है। ऐसी अनन्त शक्तिवाला आत्मा (उसने) अपनी शक्ति को कभी छोड़ा नहीं। निगोद में रहा परन्तु अनन्त शक्ति को कभी छोड़ा नहीं। आहाहा! निगोद। अक्षर के अनन्तवें भाग में जिसकी पर्याय की व्यक्तता है। निगोद के जीव में। अक्षर ... उसके अनन्तवें भाग की पर्याय-क्षयोपशम व्यक्त है। परन्तु उसमें जो गुण हैं अनन्त, उसको तो कभी कुछ हुआ नहीं। आहाहा! समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं, **अनन्त ज्ञानादि...** अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता, अनन्त सर्वज्ञ, अनन्त सर्वदर्शी इत्यादि। ऐसे **स्वरूप को छोड़ता ही नहीं...** भगवान आत्मा अनन्त शक्ति से कभी च्युत हुआ है, ऐसा है नहीं। आहाहा! सातवीं नरक में अनन्त बार आया-उत्पन्न हुआ। रव-रव नरक। अपरिठाणे। परन्तु अपनी अनन्त शक्ति को कुछ नहीं हुआ है। समझ में आया ? पर्याय

में अन्तर है। वस्तु तो वैसी की वैसी है। आहाहा! वह कहते हैं, **अनन्त ज्ञानादि स्वरूप को छोड़ता ही नहीं, अर्थात् कभी भी उनका परित्याग नहीं करता।** यह तो समझ में आये ऐसा है। सेठ! ऐसा बहुत सूक्ष्म नहीं है। आहाहा!

ऐसे स्वरूपवाला शुद्धात्मस्वरूप क्या करता है? कहते हैं कि ऐसा शुद्धस्वरूप जो प्रभु, अपना शुद्ध स्वरूप अनन्त, उसको कभी छोड़ता नहीं और राग को आत्मस्वरूप के रूप में स्वीकार करता नहीं। तो ऐसा क्या करते हैं? **जानता है।** है न? तीसरे पद में है। मूल श्लोक।

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नैव मुंचति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥ २०॥

आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा जानता है। **क्या जानता है? समस्त चेतन व अचेतन वस्तुओं को...** सर्व वस्तु। अचेतन हो अनन्त, अचेतन अनन्त हैं रजकण / परमाणु। सबको भगवान आत्मा अपने स्वरूप को छोड़ता नहीं, राग को स्वीकारता नहीं, परन्तु अनन्त को जानता है। आहाहा! व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है, वह भी आ गया उसमें। आहाहा! पूर्वापर विरोध रहित सन्तों की श्रेणी-धारा दिगम्बर शास्त्र की अलौकिक बात है! आहाहा! अलौकिक बात!! ऐसी बात कहीं नहीं है। दूसरे सम्प्रदाय में ऐसी बात है नहीं, भाई! यह तो सर्वज्ञ परमात्मा के पथानुगामी है। उसके केडे-केडे चलनेवाले। केडे समझे? अनुसर के चलनेवाले। आहाहा!

ऐसे सन्त कहते हैं कि तुझे भव का अन्त लाना हो तो जिसमें भव है नहीं और भव का भाव जिसने ग्रहण ही नहीं किया। आहाहा! भव का भाव तो शुभ-अशुभभाव है। शुभभाव से स्वर्ग और मनुष्य मिलता है, अशुभभाव से नरक और तिर्यंच होता है। तो शुभाशुभभाव का शुद्ध स्वरूप ने स्वीकार किया नहीं—उसमें आया ही नहीं।

वह आत्मा क्या करता है? **समस्त चेतन व अचेतन वस्तुओं को (जानता है)।** क्योंकि उसका ज्ञानस्वभाव है तो पर का ग्रहण नहीं (करता), अपना (स्वभाव) त्याग (करता) नहीं तो फिर करता क्या है? जानता है। भगवान सर्वज्ञ हो, उसको भी आत्मा जानता है। और निगोद का जीव हो, उसको भी आत्मा जानता है। एक परमाणु हो

उसको भी जानते हैं। अनन्त रजकण का पिण्ड स्कन्ध हो, अचेतन महास्कन्ध आदि होता है, उसको जानता है। आहाहा! प्रभु आत्मा का कर्तव्य तो एक जानना है। आहाहा! समझ में आया? पूज्यपादस्वामी। गजब काम है! एक-एक श्लोक में कितना भर दिया है! गम्भीर वाणी। जैसे गणधर की, भगवान की वाणी में—से गणधर शास्त्र बनाते हैं, गम्भीर वाणी है। ऐसे ये सन्तों ने गम्भीर वाणी कही है।

कहते हैं कि **समस्त चेतन व अचेतन वस्तुओं को (जानता है)।** वस्तु है न, वस्तु? **किस प्रकार जानता है? वह सर्वथा...** आहाहा! केवलज्ञान हो, तब प्रत्यक्ष और श्रुतज्ञान में परोक्ष (जानता है)। इतना अन्तर है। **वह सर्वथा, अर्थात् द्रव्य-पर्यायादि को सर्व प्रकार से (जानता है)।** आहाहा! दूसरी अनन्त चीज़ है। एक ही आत्मा है, ऐसा नहीं। अनन्त आत्मा हैं। अनन्त निगोद के जीव हैं और जीव की संख्या से परमाणु की संख्या अनन्तगुनी है। पुद्गल अनन्तगुणे हैं, ये रजकण। सबको। आहाहा! जानता है। पर को जानता है, ऐसा कहना व्यवहार है। परन्तु पर को जानने की शक्ति अपने में है, उसको जानता है। आहाहा! ऐसा कठिन मार्ग है।

सर्वथा... है न पाठ? '**सर्वं**' चौथा पद है। '**सर्वं**' सर्वथा '**सर्वं**'। भगवान आत्मा स्वरूप अपना अनन्त शुद्ध है, उससे कभी च्युत हुआ नहीं और राग को कभी ग्रहण नहीं किया और जानने में अनन्त पदार्थ सर्वथा और '**सर्वं**', '**सर्वं**' त्रिकाल द्रव्य-गुण-पर्याय को जाननेवाला भगवान आत्मा है। आहाहा! ये व्यापार करनेवाला है, ऐसा है नहीं। उसको तो जाननेवाला है, ऐसा कहते हैं। ऐई! पोपटभाई! तो अभी तक क्या किया? आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा तेरी चीज़ की जाति का स्वरूप क्या है? वह तो अनन्त ज्ञान से भरा पदार्थ है, प्रभु! अनन्त ज्ञान के स्वभाव में जब दृष्टि हुई, अपने स्वभाव का स्वीकार हुआ तो विकार का अस्वीकार हुआ। तो विकार और पर को जाननेवाला रहा। आहाहा! समझ में आया?

सर्वथा अर्थात् द्रव्य-पर्यायादि... कोई भी पर्याय और कोई द्रव्य बाकी नहीं। तीन काल तीन लोक के द्रव्य-पर्याय। आहाहा! श्रुतज्ञान में भी ऐसी ताकत है। भावश्रुतज्ञान! जो अपने द्रव्य के आश्रय से स्वसंवेदनज्ञान हुआ। वह कहेंगे, मैं तो स्वसंवेदन हूँ।

आहाहा! मैं सर्वथा द्रव्य-पर्याय। द्रव्य अर्थात् पदार्थ, पर्याय अर्थात् उसकी अवस्था-हालत। केवलज्ञान भी हालत है—पर्याय है। तो सब **द्रव्य-पर्यायादि को सर्व प्रकार से...** सर्वथा और सर्व, सर्व प्रकार से (अर्थात्) द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सर्व। जानता है।

इससे ऐसा स्वसंवेद्यस्वरूप अर्थात् स्वसंवेदन से ग्राह्य स्वरूप,... आहाहा! है न? '**स्वसंवेद्यं स्वसंवेदनग्राह्यम्।**' संस्कृत में दो शब्द हैं। '**स्वसंवेद्यं**' और '**स्वसंवेदनग्राह्यम्**'। आहाहा! मैं आत्मा कैसा हूँ? सम्यग्दृष्टि चौथा गुणस्थानवाला। ऐसे आत्मा को जानता है। श्रावक तो पंचम गुणस्थान की आगे की दशा रही। वस्तु का श्रावक, हों! सम्प्रदाय के श्रावक तो सब समझने की चीज़ है। आहाहा! यहाँ तो अन्दर में-से जो स्वभाव के आश्रय से जो दृष्टि हुई और स्वभाव में लीन होकर पंचम गुणस्थान उत्पन्न हुआ... आहाहा! और बाद में मुनि हुआ तो स्वरूप का स्वसंवेदन बहुत प्रचुर हुआ। पाँचवीं गाथा में है, समयसार। प्रचुर स्वसंवेदन। समयसार की पाँचवीं गाथा की टीका में। कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं), प्रचुर स्वसंवेदन। मुझे मेरे आनन्द का बहुत वेदन हुआ है। आहाहा! वह मुनि। समझ में आया?

कहते हैं, **ऐसा स्वसंवेद्यस्वरूप, अर्थात् स्वसंवेदन से ग्राह्य...** आहाहा! स्वसंवेद्य। अपने ज्ञान से वेदन में आनेवाला वह ज्ञान से ग्राह्य है। विकल्प से, व्यवहार से, निमित्त से ग्राह्य है नहीं। आहाहा! लॉजिक से तो कहते हैं। तोड़-मरोड़कर बात नहीं करते। आहाहा! अरे! ऐसी बात सुनने नहीं मिले, तो समझे कैसे? और दृष्टि करे कैसे? आहाहा! ऐसा अनुभव का वेदन कैसे हो?

कहते हैं, **स्वसंवेदन से ग्राह्य स्वरूप, वह मैं-आत्मा हूँ।** वह मैं आत्मा। इस प्रकार का आत्मा मेरे-से ज्ञान-से वेदन में आता है। मैं पर को जाननेवाला अपनी पर्याय में रहकर पर को स्पर्श करे बिना, पर को छुए बिना... ओहोहो! अपनी पर्याय की ताकत से सर्वथा सर्व को जाननेवाला अपने से वेदनेवाला वह मैं आत्मा हूँ। आहाहा! व्यवहार और धन्धा... सेठ! बीड़ी-बीड़ी में कहाँ है? मोटर आपकी। बीड़ी देने के लिये यहाँ जाये... वहाँ जाये। आहाहा!

भगवान! तेरी चीज़ ऐसी है कि अपना अन्तर ज्ञानस्वभाव त्रिकाल, उसकी

वर्तमान पर्याय से ज्ञानस्वभाव का वेदन में आना, वह मैं आत्मा हूँ। आहाहा! रागादि मेरा आत्मा नहीं, निमित्तादि मेरी चीज़ नहीं। हो, दूसरी चीज़। उसका तो मैं जाननेवाला हूँ। मेरा माननेवाला मैं नहीं। वह चीज़ मेरी है, व्यवहार राग आता है, वह मेरी चीज़ है— ऐसा माननेवाला नहीं। और देव-गुरु-शास्त्र भी मेरा है, ऐसा मैं माननेवाला नहीं—ऐसा कहते हैं। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार और धन्धा तो कहाँ बाहर रह गये। समझ में आया? वह मैं आत्मा हूँ। संस्कृत है न। आहाहा!

'**अहमात्मा अस्मि भवामि**' आहाहा! संस्कृत में है। मैं ऐसा आत्मा हूँ। सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवाला आत्म-अनुभव करके (ऐसा कहता है कि) मैं अपने आनन्द और ज्ञान से जानने में आनेवाला, वह मैं हूँ। आहाहा! उसका नाम सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? यहाँ तो सम्यग्दर्शन की परिभाषा भी ऐसी (करते हैं कि) देव-गुरु-शास्त्र को मानो तो सम्यग्दर्शन। नौ तत्त्व की श्रद्धा करो। नौ तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा, वह भी व्यवहार विकल्प है। आहाहा! समझ में आया? **स्वरूप, वह मैं-आत्मा हूँ।'** आहाहा!

भावार्थ - शुद्धात्मा, अनुभवगम्य चैतन्यद्रव्य है। शुद्धात्मा पवित्र निर्मलानन्द प्रभु, वह अनुभवगम्य है। आहाहा! अपने ज्ञान के वेदन से गम्य है। वह राग से, व्यवहार से गम्य है, ऐसी वह चीज़ नहीं है। वस्तु ऐसी है नहीं। आहाहा! कहते हैं कि **अनुभवगम्य चैतन्यद्रव्य है। वह नहीं ग्रहण करनेयोग्य...** नहीं ग्रहण करने लायक, **राग-द्वेषादि को ग्रहण नहीं करता...** क्रोधादि शब्द लिया है। क्रोध में द्वेष, माया और द्वेष, मान। क्रोध और मान द्वेष में आता है। क्रोध और मान द्वेष में आता है। माया और लोभ वह राग में आता है। तो कहते हैं कि क्रोधादि कहा था, उसमें से निकाला। तो क्रोध और मान, वह द्वेष है। माया और लोभ, वह राग है। वह दोनों मिलकर राग-द्वेष हुआ। ऐसा राग-द्वेष मैं नहीं।

राग-द्वेषादि को ग्रहण नहीं करता... आहाहा! उस राग में व्यवहार आ गया या नहीं? ऐसा नहीं है। आहाहा! **और ग्रहण किये हुए आत्मिक गुणों को-अनन्त ज्ञानादि गुणों को नहीं छोड़ता।** अपनी गुण-शक्ति अनन्त हैं, उसमें कभी कुछ हुआ नहीं। माने अज्ञानी कि मैं मेरे गुण से च्युत हुआ हूँ, मैं राग हूँ। माने तो मिथ्यात्वभाव से माने। वस्तु

ऐसी है नहीं। आहाहा! ऐसा समकित महंगा बहुत है, कुछ लोग ऐसा कहते हैं। ज्ञानसागरजी! ऐसा कहते हैं। सोनगढ़वालों ने समकित महंगा कर दिया। सोनगढ़वाले या भगवान कहते हैं? पहले आसान था। देव-गुरु-शास्त्र को मानते हैं, इसलिए हमें समकित तो है। अब, व्रत और चारित्र लो। कैसे ले? व्रत का विकल्प तो सम्यग्दर्शन हो, बाद में आनन्द में लीनता थोड़ी होती है। उसको विकल्प व्रत का आता है। और वह व्रत का विकल्प भी आस्रव है। स्वरूप में लीन होना, वह निश्चयव्रत है। आहाहा!

शुद्धात्मस्वरूप भगवान आत्मा, वह मैं हूँ—ऐसी दृष्टि होने के बाद उसमें लीन होती है निर्विकारी दशा, उसका नाम व्रत है और उसका नाम चारित्र है। समझ में आया? पंच महाव्रत और बारह व्रत को तो आस्रव कहा है, तत्त्वार्थसार में। तत्त्वार्थसूत्र। वह आस्रव है। तो कहते हैं कि मैंने तो उस आस्रव को ग्रहण ही नहीं किया और अपनी शान्ति (आदि) शक्तियों को भी छोड़ा नहीं।

वह सम्पूर्ण पदार्थों को सर्वथा-द्रव्य-गुण-पर्यायसहित जानता है। दृष्टान्त दिया है। ९७ गाथा है न नियमसार की? कुन्दकुन्दाचार्य की गाथा है, वह ली है। **निजभाव को छोड़े नहीं,...** नियमसार, ९७ गाथा। **निजभाव को छोड़े नहीं,...** निजभाव का अर्थ? त्रिकाली शुद्ध शक्ति-गुण-स्वभाव-अनन्त आनन्द आदि को कभी छोड़ते नहीं, **किंचित् ग्रहे परभाव नहीं,...** यह कुन्दकुन्दाचार्य का वचन है। परभाव को ग्रहता नहीं। **देखे व जाने मैं वही, ज्ञानी करे चिंतन यही।** आहाहा! मैं तो सर्व को जानने-देखनेवाला हूँ। ऐसा धर्मी अन्तर में चिन्तवन करता है। दूसरा रागादि का कार्य मेरा है, ऐसा मानता नहीं। आहाहा! ... ४०६ यहाँ लागू नहीं पड़ता। ४०६ में परद्रव्य का ग्रहण-त्याग है। यहाँ तो रागादि को भी ग्रहता नहीं, ऐसी बात लेनी है। भाई!

मुमुक्षु : वहाँ परद्रव्य (लिया है)।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ आहार की बात है न? परन्तु यहाँ दिया है।

जो द्रव्य है पर, ग्रहण नहिं, नहिं त्याग उसका हो सके,
ऐसा ही उसका गुण कोई प्रायोगि अरु वैस्रसिक है॥४०६॥ (समयसार)

यहाँ क्या कहना है? भगवान कुन्दकुन्दाचार्य तो ऐसा कहते हैं कि आत्मा का

कोई ऐसा ही स्वभाव है कि, वह राग के निमित्त से विभावरूप हो या स्वभावरूप हो। परन्तु पर का ग्रहण-त्याग तो आत्मा में है नहीं। आत्मा आहार ग्रहण करे और आहार मैं छोड़ता हूँ, ऐसा वस्तु में है नहीं। आहाहा! वह शुद्ध स्वभावरूप हो या विकाररूप हो, प्रायोगिक ... भले विकार हो रागादि। परन्तु रागादि विकार से परवस्तु को ग्रहण करते हैं, ऐसा है नहीं। आहाहा! राग (गया) तो मैं स्त्री को छोड़ता हूँ, मकान को छोड़ता हूँ, ऐसा है नहीं। ज्ञानसागरजी! वह भी दीक्षित होनेवाले थे। दिगम्बर मुनि। रह गया। ... बापू! ऐसी चीज़ है। सम्यग्दर्शन दूसरी चीज़ है। अभी सम्यग्दर्शन हुआ नहीं और चारित्र आ जाये... आहाहा! समझ में आया? कहते हैं कि **निजभाव को छोड़ता नहीं,...**

यहाँ विशेष (स्पष्टीकरण) है। **आत्मा परद्रव्य को जरा भी ग्रहण नहीं करता...** कर्म को छोड़कर आहार की बात आयी। आत्मा परवस्तु कर्म को, शरीर को, वाणी को कभी ग्रहता नहीं। लो, यहाँ तो ग्रहता नहीं, ऐसा आया? (संवत्) २००६ के वर्ष में रामविजय कहे, केवली पहले समय भाषावर्गणा ग्रहे, दूसरे समय छोड़े। २००६ के वर्ष पालीताणा गये थे न जब यात्रा करने। २५ वर्ष हुए।

श्वेताम्बर रामविजय आये थे। यहाँ तो व्याख्यान चलता था ये, वो विहार करते थे। तो उसने बाद में कहा। दो सौ-तीन सौ लोग वहाँ जाते थे। यहाँ तो बहुत लोग आते थे, १०००-१५००। नहीं, केवली भी एक समय में भाषा को ग्रहते हैं, दूसरे समय में छोड़ते हैं। कहा, आत्मा (भी) कभी—समकिती भी और मिथ्यात्वी भी परद्रव्य को ग्रहते हैं और छोड़ते हैं, ऐसा तीन काल में कभी होता नहीं। सेठ!

ग्रहण-त्याग से शून्य है। शक्ति नहीं है? ४७ शक्ति में। त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति। आत्मा में ऐसा एक गुण-स्वभाव है। ४७ शक्तियाँ ली हैं—गुण। समयसार में। आत्मा में ऐसी एक शक्ति-गुण है। त्यागोपादानशून्यत्व। पर का त्याग और पर के ग्रहण से शून्य है। आहाहा! ऐसी बातें बहुत सूक्ष्म। साधारण लोगों को कैसे धर्म करना? इस तरह समझे तो धर्म हो। साधारण हो या असाधारण हो। आहाहा! कहते हैं कि परद्रव्य का ग्रहण और त्याग कहना, वह व्यवहारनय का वचन है।

क्योंकि पर निमित्त के आश्रय से हुए-प्रायोगिकगुण की सामर्थ्य से... अर्थात् क्या कहते हैं? चाहे तो अपनी पर्याय में राग हो। परन्तु राग होने से परद्रव्य को ग्रहण कर सकता है, राग आया कि मैं आहार करूँ, तो राग से आहार ले सकता है, ऐसी चीज़ नहीं। समझ में आया? और राग से रहित अपने स्वरूप का भान हुआ कि मैं तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ। तो ऐसी चीज़ कोई परद्रव्य को ग्रहण करती और छोड़ती है, ऐसा है नहीं। आहाहा! वह तो पहले आ गया। मैं तो सबको राग, परचीज़ सबको जानने-देखनेवाला हूँ। परन्तु कदाचित् ऐसा जानने-देखनेवाला न रहे और राग हो तो राग से परवस्तु का राग हुआ, कि यह ले सकता हूँ। ऐसा है नहीं। आहाहा! राग आया... वह कहते हैं, देखो!

प्रायोगिकगुण... प्रायोगिक अर्थात् राग। अपने में राग हो, द्वेष हो। तो द्वेष हुआ तो तलवार उठा सकता है, ऐसी बात नहीं। और द्वेष हुआ तो तलवार मार सकता है, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया? राग हुआ। आहार का कवल ले सकता हूँ और अन्दर कंकर आया तो छोड़ सकता हूँ, ऐसा मेरी चीज़ में है नहीं। ऐसा भगवान आत्मा का स्वरूप राग सहित हो तो भी पर का ग्रहण और त्याग आत्मा में है नहीं।

यहाँ तो विशेष लेना है। यहाँ तो राग का ही ग्रहण नहीं है, ऐसा कहना है। आहाहा! राग का ग्रहण हो तो आत्मा छूटकर रागमय हो जाये। स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टा अनन्त आनन्दमय है। हिन्दी भाषा में समझते हो न, भाई? थोड़ी-थोड़ी आती है हिन्दी भाषा। आसान भाषा है। बहुत ऐसी कठिन नहीं है। हमारी तो गुजराती भाषा है। आहाहा!

कहते हैं कि **परद्रव्य को जरा भी ग्रहण नहीं करता...** एक रजकण को भी आत्मा ग्रहे, ऐसा आत्मा में विकार से भी है नहीं। आहाहा! कलम उठाकर खातावही लिखे। नहीं सेठ? कानपुर में पैसा बहुत आता है तो लिखना तो पड़ या नहीं? कहते हैं कि कलम उठा सकता नहीं। राग हो। परन्तु कलम ले सके और छोड़ दे या जाओ, नहीं लिखना है, (ऐसा है नहीं)। आहाहा! पर चीज़ को ग्रह सकता नहीं राग हो तो भी। और आनन्द और ज्ञान हो, सम्यग्दर्शन हो तो भी पर का ग्रहण और त्याग तो आत्मा में

है नहीं। आहाहा! जवान आदमी कितना करते हैं, देखो न! अभी तो चला है न। यह बाल (वाण) में यह। जवान बाल यहीं रखे, आधे कान इतना आधे तक रखे ऐसे, और दूसरे भरवाड़ जैसे यहाँ तक रखे, यहाँ तक रखे। भरवाड़ समझते हो? गाय और बकरे को चराते हैं वह। वह रखे तो रह सकता है, ऐसा है या नहीं? ऐसा है नहीं, ऐसा कहते हैं। वह तो रहनेवाली चीज़ हो तो रहती है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ...पहले क्या करते थे? बाबरी, नाम भूल गये। दोपहर को याद किया था, भूल गये। पहले बाबरी रखते थे। अब उस बाबरी को यहाँ रखते हैं। आधा सर ढ़क दे। परन्तु वह ढ़कने की क्रिया आत्मा कर सके, विकल्प आया और वह कर सकता है, ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : एकदम सुबह....

पूज्य गुरुदेवश्री : सुबह उठकर नहा-धोकर। क्या कहते हैं आपका? कंघी होती है कंघी? यहाँ ऐसा करे... यहाँ ऐसा करे... बाद में...

यहाँ भगवान कहते हैं, प्रभु! सुन तो सही, नाथ! आहाहा! तेरी ज्ञानक्रिया हो सम्यक् तो भी उस क्रिया को ग्रहे और छोड़े, ऐसा है नहीं। और तुझे राग हो तो भी राग से ऐसी क्रिया करना और छोड़ना... आहाहा! प्रभु! आत्मा की शक्ति में ऐसी शक्ति है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? बहुत विपरीत मान्यता। विपरीत मान्यता में माने कि हम समकिती-धर्मी हैं। आहाहा! विपरीत अभिनिवेश है, वह झूठा आग्रह है, वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

इतने रस का मैंने त्याग किया। भगवान कहते हैं कि रस को ग्रहण ही नहीं किया तो त्याग किया कहाँ से आया? आहाहा! वह तो मिथ्या अभिमान है। आहाहा! श्रद्धा विपरीत है तेरी। मैं अभी रस खाता नहीं, रस छोड़ दिया है। भगवान! रस तो जड़ है। जड़ का ग्रहण और त्याग आत्मा में तो है नहीं। आहाहा! यह ४०६ गाथा का अर्थ है। यहाँ के अर्थ में तो राग का ग्रहण और राग का त्याग भी नहीं है। इस गाथा में तो यह है। राग का त्याग-राग का अभावस्वभाव ही है। शुद्ध स्वरूप में तो राग है ही नहीं। तो

राग का त्याग क्या करना ? और शुद्ध स्वरूप में राग नहीं है तो राग का स्वीकार कहाँ करना ? आहाहा ! ऐसा उपदेश बड़ा कठिन।

भगवान तो ऐसा कहते हैं। मार्ग तो ऐसा है। मानो, न मानो, रुचे न रुचे मार्ग तो ऐसा है। अनादि अनन्त परमात्मा ने ऐसा मार्ग बताया है तीर्थंकरदेव ने। समझ में आया ? वह शास्त्र यहाँ उत्कीर्ण हुए हैं, देखो ! पोपटभाई का लड़का हसमुखभाई यह मशीन लाये हैं। हिन्दुस्तान में सबसे पहली मशीन है। ईटली से आया है। पूरे हिन्दुस्तान में पहला। ये मशीन से उत्कीर्ण हुआ है। कहते हैं कि सुनो ! वह मशीन भी आत्मा ला सके नहीं और अक्षर बना सके नहीं। मशीन बना सके नहीं। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : लाये वह मूर्खता की।

पूज्य गुरुदेवश्री : लाये कौन ? आया, विकल्प था और आनेवाली चीज़ थी तो आयी। पोपटभाई ! ऐसी बात है। परन्तु ई नाम लेख, ये अपूर्व नाम रहेंगे देखो, यह लिखा (कोतराव्युं) इसने। आहाहा !

प्रभु ! तेरा मार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा ! भगवान ! तुम तो ज्ञानस्वरूप हो न। जानने-देखनेवाला कैसे परचीज़ को ग्रहण करे और छोड़े ? वह तो आहार के त्याग के प्रसंग में वह गाथा आयी है। यहाँ गाथा आयी है, उसमें तो राग का भी स्वीकार नहीं है। राग विकल्प जो है, वह भगवान आत्मा के स्वरूप में कभी स्वीकार किया ही नहीं। तो छोड़ते हैं, वह छोड़ना भी आत्मा में है नहीं। वह तो ३५ गाथा में आ गया। राग का त्यागकर्ता कहना वह परमार्थ से नहीं। परमार्थ से राग का त्यागकर्ता आत्मा नहीं। आत्मा का आनन्दस्वरूप दृष्टि में आया, बाद में लीनता करते हैं तो राग की उत्पत्ति होती नहीं। उत्पत्ति होती नहीं तो राग का त्याग किया, ऐसा कहने में आया है। समझ में आया ? आहाहा !

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, ऐसी सम्यग्दर्शन में प्रतीति अनुभव से हुई, बाद में स्वरूप में लीनता होकर इतने प्रकार का राग उत्पन्न न हुआ। यहाँ लीनता होने से राग की उत्पत्ति नहीं हुई तो राग का त्याग किया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा ! मार्ग तो मार्ग वीतराग का... ! वह कहते हैं।

क्योंकि पर निमित्त के आश्रय से हुए-प्रायोगिक... अर्थात् राग होता है **गुण की सामर्थ्य से तथा स्वाभाविक-वैस्त्रसिक गुण की सामर्थ्य से...** सम्यग्दर्शन, ज्ञान और शान्ति चारित्र की पर्याय से, **आत्मा द्वारा परद्रव्य का ग्रहण करना तथा छोड़ना अशक्य है।** परद्रव्य का ग्रहण करना और छोड़ना आत्मा द्वारा अशक्य है। आहाहा! बहुत अच्छी बात है। अलौकिक बात है। जगत से भिन्न लोकोत्तर बात है। आहाहा! केवली महाराज सन्त का मार्ग दुनिया से भिन्न जाति का है, भाई! दुनिया के साथ उसका मिलान हो सके नहीं। आहाहा!

आत्मा के परद्रव्य ग्रहण-त्याग कहना तो व्यवहारनय का कथनमात्र है। निश्चयनय से तो वह परद्रव्य का ग्रहण-त्याग कर सकता ही नहीं। परद्रव्य का ग्रहण-त्याग कर सकता नहीं। **जब जीव, आत्मस्वरूप में लीन होता है, तब रागादि विकार स्वयं छूट जाता है,...** स्वयं छूट जाते हैं का अर्थ उत्पन्न होते नहीं। आहाहा! **उसे छोड़ना नहीं पड़ता...** छोड़ना पड़ता नहीं। **और आत्मिक गुण स्वयं प्रगट होते हैं।** भगवान शुद्ध स्वरूप पूर्णानन्द और अनन्त शक्ति उसमें जब एकाग्र हुआ तो राग उत्पन्न होता ही नहीं, इतने प्रकार का। इतना लीन हुआ तो राग छोड़ना पड़ता नहीं। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। ऐसी बराबर समझ करना और श्रद्धा करना।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण ११, बुधवार, दिनांक ०८-१-१९७५, श्लोक-२०, प्रवचन-२९

समाधितन्त्र की बीसवीं गाथा फिर से लेते हैं। जो यह गाथा... आत्मा ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप है। वह राग को और रजकण को ग्रहण नहीं करता। राग है, वह आस्रव है और रजकण है, वह अजीव है। जो ज्ञानानन्दस्वभाव, वह राग को आत्मस्वरूपरूप से स्वीकार नहीं करता। आहाहा! समझ में आया? आत्मा चैतन्य ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप, वह सम्यग्दर्शन का विषय है। वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप राग और गुण-गुणी के भेद, ऐसा जो विकल्प, उसे भी अभेद चीज़ ज्ञायक ग्रहण नहीं करता। राग को वह ग्रहण नहीं करता और अनन्त ज्ञानादि स्वभाव जिसकी अनन्त शक्ति, अनन्त गुण—ऐसा जो स्वरूप, उसे वह कभी छोड़ता नहीं। आहाहा! समझ में आया? वह सम्यग्दर्शन का विषय है। आहाहा!

एक चीज़ में अनन्त आनन्द, ज्ञान आदि अनन्त शक्तियों का ध्रुवपना पड़ा है। वह कभी उसे निगोद में गया तो भी जो ध्रुवस्वरूप है, वह उसने छोड़ा नहीं। वस्तु स्वभाव जो है, उसने तो राग को भी ग्रहण नहीं किया। अज्ञानरूप से राग को अनादि से ग्रहण किया। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के विकल्प हैं, वे मेरे हैं—ऐसा ग्रहण किया। वह तो अज्ञानरूप से है। वस्तु के स्वभाव में और स्वभाव की दृष्टि में विभाव व्यवहाररत्नत्रय का जो विकल्प है... आहाहा! उसे उसने ग्रहण नहीं किया। वह आत्मा परद्रव्य को जरा भी ग्रहण नहीं करता। आहाहा! और छोड़ता नहीं।

क्योंकि परनिमित्त के आश्रय से हुए-प्रायोगिकगुण की सामर्थ्य से... अर्थात्? यहाँ तो अभी स्थूल बात करते हैं। गाथा में है, वह तो सूक्ष्म बात है। यह छठी गाथा... इसे आत्मा में धर्मदशा प्रगट हो, चैतन्यस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हो तो भी वह धर्म पर्याय पर को ग्रहण करती और छोड़ती नहीं है। इतना नहीं परन्तु कर्म के निमित्त के संग से राग होता है, तो भी उस राग के कारण परद्रव्य को ग्रहण करे या छोड़े, ऐसा नहीं होता। आहाहा! आत्मा का शुद्धस्वभाव, (उसका) सम्यग्दर्शन में भान हुआ तो कहते हैं कि उस सम्यग्दर्शन की सामर्थ्यता स्वभाव की प्रगट हुई, वह भी

परद्रव्य को ग्रहण करे या छोड़े, ऐसा उसमें नहीं है। आहाहा! शरीर, वाणी, कर्म पर को ग्रहण करे या छोड़े, वह तो स्वभाव की दृष्टि हुई तो भी नहीं और स्वभाव में नहीं, ऐसा पर्याय में कर्म के संग से स्वयं से अपने में विकार हुआ, तो भी विकार के सामर्थ्य से परद्रव्य को ग्रहण करे या छोड़े, पकड़े या छोड़े—ऐसा उसमें नहीं है। आहाहा! समझ में आया? भगवान चैतन्यस्वरूप का वीतराग ने ऐसा स्वरूप देखा है। वह जिसे अन्तर में देखने में आवे, दृष्टि द्वारा उस द्रव्य के शुद्धस्वभाव का स्वीकार हो तो वह पर्याय राग को ग्रहण नहीं करती और राग को छोड़ती नहीं। आहाहा!

सम्यग्दर्शन की पर्याय, वह त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से-स्वीकार से प्रगट होती है। आहाहा! इसके बिना का ज्ञान भी मिथ्याज्ञान है। आहाहा! जो स्वरूप चैतन्य ज्ञायक है, उसके सम्बन्ध में उसका जो ज्ञान होता है, जहाँ शास्त्र का भी नहीं, क्योंकि वह शास्त्र का ज्ञान परावलम्बी परसत्तावलम्बी ज्ञान है। आहाहा! वह भी बन्ध का कारण है। परन्तु जहाँ चैतन्य ज्ञायकस्वभाव की एकाग्रता से जो ज्ञान की दशा होती है, वह ज्ञान की दशा राग को ग्रहण नहीं करती और राग को छोड़ती नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा उसका—सम्यग्दर्शन का त्रैकालिक स्वभाव है परन्तु दर्शन का स्वभाव ऐसा है।

सामर्थ्य से तथा स्वाभाविक-वैस्रसिकगुण की सामर्थ्य से आत्मा द्वारा परद्रव्य का ग्रहण करना तथा छोड़ना अशक्य है। यह समयसार की गाथा है।

आत्मा के परद्रव्य का ग्रहण-त्याग कहना तो व्यवहारनय का कथनमात्र है। आहाहा! आत्मा राग ग्रहे या राग छोड़े, यह तो व्यवहारनय का कथन है।

मुमुक्षु : परन्तु दीक्षा ले तब तो वस्त्र छोड़ने ही पड़ते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन छोड़े? यही कहते थे न? वे भाई कहते थे। चाँदमलजी। साधु हो, तब वस्त्र छोड़ते हैं न? अरे! भगवान! सुन, भाई! वस्त्र छोड़े क्या, वह राग को छोड़ता नहीं। आहाहा! कपड़े की वह छूटने की पर्याय का उसका उत्पाद काल वहाँ से हट जाने का है, इसलिए वह वस्त्र छूट जाता है। आहाहा! जैनमार्ग! आहाहा! वास्तव में तो इस वस्त्र में वह पर्याय वहाँ रही हुई है, ऐसा नहीं है, हट जाती है, उसका

उत्पादकाल है। उस पर्याय का उस परमाणु में उत्पादकाल है, इसलिए वह हट जाती है। आत्मा उस वस्त्र को छोड़े, यह मान्यता मिथ्यात्व है। आहाहा!

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन छोड़े? कहाँ रही? जगत के सब परपदार्थ पड़े हैं। आहाहा!

यहाँ तो यह बात तो बहुत दूर रहो परन्तु पंच महाव्रत के विकल्प को आत्मा ग्रहे या राग को छोड़े, (यह उसके स्वरूप में नहीं है)। भाई! यह चैतन्यस्वरूप है, यह ज्ञानस्वरूपी प्रभु किसे ग्रहण करे और किसे छोड़े? वह तो ग्रहण-त्याग पर में हो, उसे जाने। आहाहा! राग होवे तो ज्ञानी तो जानता है। मुझमें हुआ नहीं। आहाहा! और राग जाए तो मैंने उसे छोड़ा है, ऐसा नहीं। आहाहा! गहन तत्त्व, बापू! सूक्ष्म बहुत। जन्म-मरण के अन्त को लाने का तत्त्व सूक्ष्म है। आहाहा! बाकी तो अनन्त बार मुनिपना पालन किया, पंच महाव्रत, दिगम्बर साधु, हों! अनन्त बार हुआ। अनन्त बार ग्यारह अंग का ज्ञान किया। एक अंग में अठारह हजार पद, एक पद में इक्यावन करोड़ से अधिक श्लोक। वह भी ज्ञान, ज्ञान नहीं है। आहाहा! क्योंकि परलक्ष्य से जो उघाड़ हुआ, वह आत्मा का ज्ञान नहीं है। वह आत्मा को लाभदायक नहीं है। गजब बातें, भाई! आहाहा!

भगवान आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है। उसके स्वभाव में से ज्ञान की पर्याय आती है कि जो कुछ संवर-निर्जरारूप हो, उसे ज्ञान कहते हैं। समझ में आया? इसलिए आत्मा ज्ञानस्वभावी होने से उसका ग्रहण-त्याग नहीं है। आहाहा! **जब जीव, आत्मस्वरूप में लीन होता है,...** जब यह आत्मा अपने स्वरूप में; संयोगी चीज़ से लक्ष्य छोड़कर, उस राग के और पर के जानपने के भाव का लक्ष्य छोड़कर, एक समय की पर्याय का लक्ष्य छोड़कर... आहाहा! जब वस्तु के स्वभाव में लीन होता है—एकाग्र होता है, **तब रागादि विकार स्वयं छूट जाता है;...** ऐसी बात है, भाई! अर्थात्? चैतन्यस्वभाव की नित्यता और ध्रुवता में दृष्टि देने से, उसमें स्थिर होने से राग की उत्पत्ति नहीं होती। जितने अंश में यहाँ स्थिर हुआ, उतने अंश में राग की उत्पत्ति नहीं होती, उसने राग

छोड़ा—ऐसा व्यवहारनय से कहने में आता है। ऐसा मार्ग है। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर के अतिरिक्त यह मार्ग अन्यत्र कहीं नहीं है, कहीं किसी जगह (नहीं है)। आहाहा! इसकी रीति और इसकी पद्धति भगवान के ज्ञान में आयी, ऐसी उन्होंने कही है। आहाहा!

कहते हैं कि राग छूटता है न, मिथ्यात्वभाव नाश पाता है न, वह आत्मा नाश करे – ऐसा कहना या नहीं? आहाहा! 'जिन' कहलाते हैं (क्योंकि) वे राग को जीतते हैं। यह भी व्यवहारनय का कथन है। आहाहा! भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द और वीतरागस्वभाव की मूर्ति है, उसमें जहाँ लीन होता है, तब मिथ्यात्व की पर्याय उत्पन्न नहीं होती और वह जितने अंश में रमणता—स्वरूपाचरण हुआ... इन शब्दकोशवालों ने स्वरूपाचरण स्वीकार किया है। चौथे गुणस्थान में। आज आया है। स्वरूपाचरण चौथे गुणस्थान में होता है। वे इनकार करते हैं न।... जितने अंश में अनन्तानुबन्धी का अभाव हुआ, उतने अंश में यहाँ स्थिर हुआ, तब उसका अभाव हुआ। आहाहा! सम्यग्दर्शन, त्रिकाली स्वरूप की प्रतीति करने पर जो ज्ञान का स्वसंवेदन होता है, उसमें जितनी स्थिरता होती है... आहाहा! वे तीनों एक साथ होते हैं। समझ में आया? तब उसे दर्शनमोह का उदय नहीं होता। जितना चारित्र होता है, उतना अनन्तानुबन्धी भी नहीं होता। आहाहा! जितना स्वसंवेदन ज्ञान में आया, उतनी ज्ञान की पर्याय को विघ्न करनेवाले कर्म भी नहीं होते। आहाहा! निमित्तरूप से। आहाहा! ऐसा मार्ग प्रभु का लोगों ने दूसरे प्रकार से खतौनी कर डाला है। बापू! अनन्त काल हुआ, भाई!

चौरासी के अवतार कर-करके अनन्त अवतार किये। इसने अनन्त अवतार में दुःख भोगे हैं। भगवान का आनन्द तो इसे आया नहीं। सम्यग्दर्शन बिना आनन्द की लहजत का मजा कहीं बाहर में नहीं आता। इस सम्यग्दर्शन में आनन्द आता है, इसके बिना मिथ्यात्व में तो अकेला दुःख है। आहाहा! संयोग प्रतिकूल का दुःख, वह नहीं; परन्तु स्वरूप की शुद्धता के विरुद्ध दृष्टि, वह दुःख है। उस दुःख में पीड़ित प्राणी भले सेठाई में हो, अरबोंपति में दिखाई दे, देव में दिखाई दे, वह दुःख की घानी में पिला हुआ है। आहाहा! अरे! परमात्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव का सत्य तो ऐसा है, भाई! यह

स्वयं सर्वज्ञदेव है। भगवान आत्मा सर्वज्ञदेव! सर्वज्ञशक्ति का भण्डार है। उसमें-सर्वज्ञशक्ति में दृष्टि के स्वीकार में जो सर्वज्ञस्वभाव आया, तब उसे सच्चा सम्यक् हुआ, तब उसे स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञान हुआ, तब उसे स्वरूप में स्थिरता होने के स्वरूप का आचरण (हुआ)। जो स्वरूप शुद्ध है, उसका चारित्र अर्थात् आचरण हुआ। आहाहा! उस काल में उसे कषाय छोड़ना नहीं पड़ती, कहते हैं। कषाय का उदय आता नहीं अथवा आवे, वह खिर जाता है, उसे आत्मा ने राग का नाश किया, ऐसा कहने मात्र है। आहाहा! समझ में आया?

विकार स्वयं छूट जाते हैं; उसे छोड़ना नहीं पड़ता। आहाहा! **और आत्मिक गुण स्वयं प्रगट होते हैं।** गुण शब्द से (आशय है) पर्याय। जो आनन्द और ज्ञानस्वरूपी प्रभु, उसकी अन्तर में दृष्टि पड़ने पर अनन्त गुण जो शक्ति और स्वभाव तथा गुणरूप हैं, उन अनन्त गुणों का एक अंश व्यक्तरूप से प्रगट होता है। आहाहा! समझ में आया? तब उसे राग छोड़ना नहीं पड़ता। आहाहा! स्वयं प्रगट होता है, तब विकार उत्पन्न नहीं होते। ऐसा स्वरूप है। यहाँ तक तो कल आया था।

जब निर्विकल्पदशा में आत्मा अपने स्वरूप की प्राप्ति में आता है... आहाहा! शुद्ध आनन्द और शुद्ध ज्ञानघन प्रभु की श्रद्धा और ज्ञान में स्वसन्मुखता में आता है, तब उसे विकल्प अर्थात् रागरहित निर्विकल्पदशा प्रगट होती है। आहाहा! भारी कठिन काम, भाई! वह तो ऐसा (सीधा) था, इच्छामि पडिकमणं... तस्स मिच्छामि दुक्कडम्, था लो... आहाहा! यह तो सब राग की क्रियाओं की बातें हैं।

त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमात्मा जो हुए, वे कहाँ से हुए? वह सर्वज्ञदशा आयी कहाँ से? राग की क्रिया की, उसमें से आयी? बाहर से आती है? आहाहा! सर्वज्ञस्वभाव, वह ज्ञ-स्वभावी मैं आत्मा, सर्वज्ञस्वभावी आत्मा, उसे दृष्टि और वेदन में लेने से सर्वज्ञपना है, ऐसी उसे प्रतीति होती है। मैं सर्वज्ञ हूँ, ऐसी प्रतीति होती है। आहाहा! और पश्चात् स्वरूप में सर्वज्ञ की शक्ति में स्थिर होते-होते सर्वज्ञपर्याय प्रगटरूप से परिणमती है, उसे केवली परमात्मा कहने में आता है। आहाहा! यह अरिहन्त भगवान! अरि में तो कर्मरूपी शत्रु और रागरूपी शत्रु को हनन किया, ऐसा

कहने में आता है। वहाँ शब्द पड़ा है। यह व्यवहार के कथन ऐसे होते हैं। आहाहा! भगवान ने तो अपने स्वरूप में ज्ञानस्वभाव जो सर्वज्ञस्वभाव, उसका अनुभव करके वेदन में आने के बाद अन्दर में स्थिर हुए। पूर्ण शक्ति का अवलम्बन लेकर स्थिर हुए, तब उस शक्ति में से व्यक्तता (हुई), सर्वज्ञदशा प्रगट हुई है। आहाहा! अनन्त गुण जो अन्दर शक्ति और सत्वरूप थे। उन अनन्त गुण के अन्तर घोंटन से... आहाहा! उस ज्ञान और आनन्द की क्रिया द्वारा भगवान को केवलज्ञान हुआ। ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। यह पर्याय जो साधन किया, इसलिए कहते हैं कि कर्म का अभाव हुआ, इसलिए केवल(ज्ञान) हुआ, यह तो बात है ही नहीं, परन्तु पूर्व की साधकदशा चार ज्ञान की थी, उसका अभाव करके केवल(ज्ञान) हुआ, इसलिए चार ज्ञान साधक थे, वह तो पूर्व दशा वह थी, उसे कहने की समझाने की बात है। बाकी केवलज्ञान जो हुआ, वह उत्पाद अन्दर सद्भाव था, वह उसके जन्मक्षण से उत्पन्न हुआ है। आहाहा!

यह तो अपने आया न सद्भाव सम्बन्ध से पर्याय। ११०-११-११२ प्रवचनसार। अन्दर सद्भाव पर्याय केवलज्ञान की पर्याय है, वह पर्याय है, वह कहीं गुण नहीं है। अन्दर सद्भाव गुण का है। वह है, वह हुआ है। पूर्व पर्याय नहीं थी और हुई, यह तो पर्यायदृष्टि की बात है। आहाहा! यह भी पूर्व में नहीं थी और हुई, यह भी पर्याय और गुण के समीप का सम्बन्ध है। उसे पूर्व की पर्याय के नाश के साथ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, कान्तिभाई! सूक्ष्म है। यह कहीं... ऊपर-ऊपर से पकड़े (तो हाथ नहीं आता)।

यह तो तीन लोक के नाथ वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञदेव तीर्थंकरदेव... आहाहा! जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक ज्ञात नहीं, परन्तु उसकी पर्याय को जानने पर वह पर्याय ज्ञात हो गयी। आहाहा! निश्चय से तो ऐसा कहा है, केवलज्ञान ... था न? .... कहा था यह .... चिद्विलास गुजराती। मेरे इसमें ८९ पृष्ठ है। चिद्विलास। निकला गुजराती में ९५। पर्याय का कारण पर्याय आता है न, भाई! आहाहा! वह केवलज्ञान की पर्याय का स्वकाल था, वह ज्ञान की पर्याय, पर्याय से हुई है; गुण से नहीं, निमित्त से नहीं, पूर्व के मोक्ष के मार्ग की पर्याय से नहीं। आहाहा! धीरुभाई! ऐसा मार्ग, प्रभु!

आहाहा! अरे! सुनकर अन्दर में लक्ष्य तो करे। आहाहा! अरे! ऐसे काल में न समझे तो बापू! कब समझेगा?

कहते हैं कि सम्यग्दर्शन की पर्याय हुई, आहाहा! उसने मिथ्यात्व का नाश किया, वह तो नहीं परन्तु पूर्व की पर्याय गयी, इसलिए हुई-ऐसा भी नहीं है, तथा सम्यक्त्व की पर्याय द्रव्य-गुण थे, इसलिए आयी - ऐसा भी नहीं है। आहाहा! उस पर्याय का कारण पर्याय, पर्याय का वीर्य पर्याय, पर्याय के प्रदेश का अंश वह पर्याय! आहाहा! ऐसी बात सर्वज्ञ के सिवाय ऐसी स्वतन्त्रता की बात कहीं नहीं हो सकती। जैनधर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है। जैनधर्म, वह वस्तु का स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? जैनधर्म, वह सम्प्रदाय और वाड़ा नहीं कि तुम जैन ऐसा कहते हो और हम ऐसा कहते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! 'जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म, यही वचन से समझ ले जिन प्रवचन का मर्म।' आहाहा! अरे! ऐसी वाणी कहाँ है! आहाहा! सर्वज्ञ के....

निर्विकल्पदशा हो। राग को ग्रहे और छोड़े नहीं, ऐसा चैतन्य का स्वभाव है, ऐसी जहाँ अन्तर की दृष्टि हुई, तब उस दृष्टि का आश्रय द्रव्य था, ऐसा कहा और वह है, वह ऐसा - ऐसा भी कहा और उसका जन्मक्षण—उस सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का जन्म अर्थात् उत्पत्ति का वह काल था, ऐसा कहा। आहाहा! उस पर्याय के कारण से पर्याय हुई है। पर्याय के वीर्य से पर्याय हुई है, द्रव्य-गुण से नहीं। आहाहा! ऐसी स्वतन्त्रता सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव के अतिरिक्त ऐसी स्वतन्त्रता कहीं नहीं होती, बापू! उनके वाडा में जन्मा, इसे सुनने को मिला... कहते हैं कि यह ऐसी चीज़ इसे सुनने को मिली नहीं। आहाहा! 'श्रुत परिचित अनुभूता' भगवान! दूसरी बातें तो बहुत सुनी। यह चीज़ ऐसी है, इसका सत्त्व ऐसा है, आहाहा! ऐसा तूने सुना नहीं। सुना होवे तो तुझे रुचि हुई हो, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

कहते हैं, यह पर्याय हुई, निर्विकल्प अनुभव के काल में जीव को परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का विकल्प नहीं होता। आहाहा! सम्यग्दर्शन के पाने के काल में... समझ में आया? आत्मा के शुद्ध चैतन्यघन के अनुभव अर्थात् सम्यग्दर्शन को प्राप्त काल में...

आहाहा! वह अनुभवकाल। अनुभव अर्थात्? वस्तु का जो स्वभाव है, उसे अनुसरकर जो दशा हुई; राग को अनुसरकर नहीं, पूर्व को अनुसरकर नहीं। आहाहा! उस पर्याय के अनुभव काल में जीव को परद्रव्य के ग्रहण–त्याग का राग ही नहीं होता कि मैं इसे ग्रहण करूँ और इसे छोड़ूँ, ऐसा विकल्प है नहीं। लोगों को भारी कठिन बात लगती है। सम्प्रदाय में तो यह बात है नहीं, इसलिए लगता है कि यह कहाँ की बात होगी? जैन परमेश्वर की होगी? ऐसा लगता है। उस वेदान्त जैसी होगी? भगवान! यह तो परमेश्वर की यही बात है। वेदान्त में कहाँ यह बात है! वह तो सर्वव्यापक एक आत्मा मानता है। यहाँ तो अनन्त आत्माएँ, एक आत्मा में अनन्त गुण, अनन्त गुण की एक समय की अनन्त पर्यायें, यह बात कहाँ है? समझ में आया?

कहते हैं, धर्मकाल। है? टीका में नहीं। धर्मकाललब्धि आता है, टीका में आता है। भगवान आत्मा को सम्यग्दर्शन–ज्ञान को प्राप्त करने का काल है, तब वह प्राप्त करता है, परन्तु प्राप्ति के काल में मैं इसे ग्रहूँ, आत्मा को अनुभव करूँ और राग को छोड़ूँ— ऐसा कुछ नहीं होता। आहाहा! सेठ! ऐसी सूक्ष्म बात है। लोगों को पण्डितों ने... वस्तु का स्वरूप जैसा है, उसमें फेरफार करके मनवाया। खबर नहीं। खबर बिना की बातें करना चाहे...

कहते हैं, भाई! यह जन्म–मरण के टालने का अवसर—काल है, नाथ! आहाहा! ऐसा मनुष्यभव और उसमें यह भगवान की वाणी परम सत्य का सुनना और इतने योग से... आहाहा! कहते हैं कि अन्दर में जा, भगवान! आहाहा! हमारी वाणी से भी तू अनुभव में नहीं आ सके, ऐसी चीज़ है। आहाहा! आहाहा! और उस अनुभव काल में ग्रहण–त्याग का विकल्प नहीं। वह तो उस दशा में ग्रहण करनेयोग्य का ग्रहण हो गया। आहाहा! स्वरूप में एकाग्र हो गया, यह ग्रहण किया और त्यागनेयोग्य का त्याग स्वयं हो गया। राग उत्पन्न ही नहीं हुआ। उसका सहज त्याग हो गया। आहाहा! इसलिए ग्रहण और त्याग का प्रश्न ही नहीं रहता।

जब आत्मस्वरूप सम्पूर्णरूप से प्रगट होता है,... नहीं तो यहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में भी सबको जाने–देखे, ऐसा ही उसका स्वभाव प्रगट होता है। मति–

श्रुतज्ञान में भी ऐसा है, भाई! आहाहा! सम्यक् मति और श्रुतज्ञान चैतन्य के अवलम्बन से जो हुआ, वह ज्ञान भी सम्पूर्ण तीन काल-तीन लोक के द्रव्य, गुण, पर्याय को परोक्ष रीति से जाने, परन्तु वह भी जानने का ही काम करता है। आहाहा! समझ में आया? यहाँ केवलज्ञान की बात ली है। **आत्मस्वरूप सम्पूर्णरूप से प्रगट होता है,...** भगवान आत्मा सर्वज्ञशक्ति का सत्त्ववाला तत्त्व, सर्वज्ञ के सत्त्वसहित ऐसा जो तत्त्व, जब अन्तर में अवलम्बन से सम्पूर्ण केवलज्ञान प्रगट हो, जैसी उसकी शक्ति का स्वभाव था, वैसा पर्याय में प्रगट हो, तब सम्पूर्ण केवलज्ञान कहलाता है। आहाहा!

तब आत्मा के ज्ञानगुण की पर्याय भी केवलज्ञानरूप से प्रगट होती है। इस केवलज्ञान की ऐसी अनन्त महिमा है कि वह अनन्त द्रव्यों के... अनन्त द्रव्य हैं— निगोद, सिद्ध, रजकण, अनन्त पदार्थ और अनन्त गुणों को। एक-एक द्रव्य के अनन्त गुण हैं, उन्हें **और उनकी त्रिकालवर्ती विकारी-अविकारी अनन्त पर्यायों को...** आहाहा! **सम्पूर्णरूप से एक ही समय में सर्वथा (केवलज्ञान) प्रत्यक्ष जानता है।** श्रुतज्ञान में सर्वथा पूर्ण सत् को जानते हैं। आहाहा! परोक्ष रीति से। समझ में आया? सम्यग्ज्ञान होने पर सहज स्वरूप भगवान पूर्णानन्द का आश्रय सन्मुख होकर जो सम्यग्ज्ञान हुआ, वह ज्ञान तो सर्व को जानने के स्वभाववाला है। किसी को करे और किसी को छोड़े, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। न करे और न छोड़े, ऐसा स्वभाव है। तब है क्या? ऐसा कहना है। समझ में आया? यह तो जानने का स्वभाव है। ज्ञानी राग आवे तो भी जाने, राग छूटे तो जाने, बन्ध पड़े तो जाने, बन्ध का अभाव होवे तो जाने। आहाहा! ऐसा उसका स्वरूप है।

कहते हैं, तीन काल के द्रव्य, गुण और पर्याय को, विकारी-अविकारी अनन्त पर्याय को सम्पूर्णरूप से केवलज्ञान एक समय में सर्वथा प्रत्यक्ष जानता है। प्रवचनसार में ३८ गाथा। ३७, ३८, ३९, ४१, ४७, ४८, ४९, ५१। ये सब केवलज्ञान की गाथाएँ हैं। प्रवचनसार सवेरे पढ़ा जाता है। अहो!

ज्ञान, परपदार्थों को जानता है-ऐसा कहना भी व्यवहारनय का कथन है। क्यों? कि ज्ञान पर को जानने पर, पर में एकत्व नहीं होता, तन्मय नहीं होता, वह तो

भिन्न रहकर जानता है। आहाहा! लोकालोक, तीन काल जाने परन्तु उस वस्तु से भिन्न रहकर ज्ञान जानता है; इसलिए वास्तव में तो ज्ञान, ज्ञान को जानता है। ज्ञान पर को जानता है—ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग कठिन लगे, परन्तु भाई! इसको मान तो सही! परन्तु उसका ज्ञान तो कर कि मार्ग तो यह है। आहाहा! जिसका इस प्रकार का व्यवहार सम्यग्ज्ञान भी जिसे नहीं, उसे परमार्थ से निश्चयज्ञान प्रगट नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? तथापि व्यवहार ऊपर सम्यग्ज्ञान हो, वह कहीं निश्चय सम्यग्ज्ञान प्राप्ति का कारण नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

वास्तव में तो आत्मा को, अपने को जानते हुए, समस्त परपदार्थ ज्ञात हो जाते हैं... पानी की स्वच्छता में रात्रि में चन्द्र और नक्षत्र उसमें-पानी में दिखते हैं, वह पानी का स्वरूप है; वह चन्द्र, नक्षत्र का नहीं। आहाहा! क्या कहा? पानी रात्रि में ऐसे जो स्वच्छ प्रवाहित होता जाता है, उसमें ऊपर के चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह आदि ज्ञात होते हैं, यह वे नहीं हैं। स्वच्छता पानी का स्वरूप है, उसे यह जानता है। आहाहा!

इसी प्रकार ज्ञान की समय की पर्याय की निर्मलता में लोकालोक का ज्ञान जो यहाँ परिणमा है, वह लोकालोक का नहीं, वह अपनी पर्याय उस प्रकार से परिणमी है। आहाहा! समझ में आया? रात्रि में पानी स्वच्छ बहता जाता हो। चन्द्रमा सोलह कला से खिला हो, नक्षत्र, तारे चमकते हों, वे पानी में ज्ञात होते हैं। उस पानी में ज्ञात हों, वे नक्षत्र, तारे हैं? वह तो पानी की पर्याय है। आहाहा! इसी प्रकार केवलज्ञान की पर्याय लोकालोक को जानती है, तो वह लोकालोक की पर्याय है? वह तो अपनी ज्ञान की पर्याय को जानता है, उसमें वह लोकालोक ज्ञात हो जाता है, ऐसा व्यवहार कहने में आता है। आहाहा! निश्चय से ज्ञात होता है, हों! ज्ञान की पर्याय में इतना सामर्थ्य है, उसे जानने से निश्चय से ज्ञात हो जाता है। उसे (लोकालोक को) जानना—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! ऐसा धर्म और ऐसा मोक्ष का मार्ग है। कितने ही कहते हैं कि यह नया निकाला है। सोनगढ़वालों ने नया निकाला है। अरे! भगवान! यह तो अनादि का वीतराग का (मार्ग है)। नया कौन निकाले? बापू! परमात्मा केवलज्ञानी विराजते हैं। महाविदेह में प्रभु विराजते हैं। सीमन्धर भगवान, ऐसे बीस तीर्थंकर

विराजते हैं। लाखों केवली विराजते हैं। महाविदेह में है न? पंच महाविदेह, एक-एक विदेह में... बीस है न? बत्तीस हैं। आठ-आठ हैं न ऐसे? आठ ऐसे, आठ ऐसे। सोलह ऐसे। बत्तीस पंचा ऐसा है न? विदेह पाँच परन्तु उसके भाग १६०। भरत से भी बड़ा भाग। उसमें एक-एक में अभी तो बीस तीर्थंकर विराजते हैं। किसी समय—अजितनाथ भगवान के समय में १६० तीर्थंकर थे। साक्षात् अरिहन्त परमात्मा। यह ठामणा में आता है। उत्कृष्ट होवे तो १७०। १६० वे और पाँच भरत तथा पाँच ऐरावत (के, इस प्रकार) १७० तीर्थंकर होते हैं उत्कृष्ट। अजितनाथ भगवान के समय में १७० थे। आहाहा! स्थानकवासी में ठामणा में आता है। जघन्य २०, उत्कृष्ट १७०। आहाहा! उन भगवान के पास ये कुन्दकुन्दाचार्य आठ दिन गये थे। सुनने का निमित्त और ज्ञान की पर्याय उत्पन्न होने का स्वकाल। आहाहा! वह ज्ञान होकर यहाँ आये और ये शास्त्र बनाये। आहाहा! साक्षात् भगवान त्रिलोकनाथ सीमन्धर भगवान की यह वाणी है। सन्त तो उसका अनुवाद करते हैं। आहाहा! समझ में आया? अरे! ऐसी बात कान में न पड़े, उसे समझ में कब ले और कब अन्तर में उतरे?

कहते हैं, यह केवलज्ञान सर्वथा... **ज्ञान, परपदार्थों को जानता है-ऐसा कहना भी व्यवहारनय का कथन है। वास्तव में तो आत्मा को, अपने को जानते हुए, समस्त परपदार्थ ज्ञात हो जाते हैं...** आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञशक्ति, आता है न! ४७ शक्ति में। सर्वज्ञशक्ति अर्थात् सर्व को जाने, ऐसा नहीं। यह सर्वज्ञपना, वह आत्मज्ञानमयपना है। आहाहा! समझ में आया? बात-बात में बहुत अन्तर। वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं, वे सर्व को जानते हैं, इसलिए सर्वज्ञ - ऐसा नहीं। वह सर्वज्ञशक्ति पर्याय में सर्व को जाननेरूप अपने सामर्थ्य से अपने में सब ज्ञात हो गया है। आहाहा! वह आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञशक्ति, ऐसा कहा है। आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शीशक्ति। आहाहा! अहो! वीतरागी सन्तों ने जगत को करुणा करके ऐसी बात की है। इसे करनेयोग्य क्या, यह उन्होंने कहा। भाई! तेरे... जहाँ वे शक्तियाँ पड़ी हैं, वहाँ तुझे स्थिर होना-जाना है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

भगवान आत्मा अनन्त शक्तिवाला तत्त्व है। एक-एक शक्ति का अनन्त सामर्थ्य

है, ऐसी अनन्त शक्तियाँ एक आत्मा में है। आहाहा! वहाँ तुझे जाना है। भगवान! वहाँ तुझे नजर करनी है। आहाहा! निधान पड़ा है, वहाँ नजर करनी है और नजर करने से केवलज्ञान प्रगट होता है। उस स्वतन्त्र पर्याय का सामर्थ्य इतना है, इसलिए प्रगट होता है। आहाहा! लोकालोक को जाने, इसलिए यहाँ सर्वज्ञपना है—ऐसा नहीं। यह सर्वज्ञशक्ति की पर्याय आत्मज्ञानमय पूर्ण हुई है। आहाहा! समझ में आया? व्यवहार के आग्रहियों को, निमित्त के आग्रहियों को तो यह सब ऐसा लगता है कि पागलपन है, पागल है। और एक ऐसा भी कहता था कि सोनगढ़िया को अस्पताल में रखो। पागल का अस्पताल। अरे! प्रभु! सुन, बापू! भाई! तूने सत्य की स्वतन्त्रता की बात सुनी नहीं, इसलिए तुझे ऐसा लगता है कि निमित्त आवे तो हो, व्यवहार होवे तो निश्चय हो। भगवान! ऐसा तेरा स्वरूप नहीं है। समझ में आया? है? **ऐसी ज्ञान की निर्मलता-स्वच्छता है।**

तथा वह आत्मस्वरूप स्वसंवेद्य है... मूल गाथा का चौथा पद है। भगवान आत्मा स्व अर्थात् अपने से सं अर्थात् प्रत्यक्ष वेदन में आवे, ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! प्रभु को पामर रूप से इसने पहिचाना। प्रभुता की शक्ति का भण्डार। एक-एक शक्ति प्रभुता से भरपूर, ऐसी अनन्त शक्ति। जीवत्व, चिति, दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शी, स्वच्छत्व, प्रकाशत्व, (इत्यादि) ऐसी ४७ शक्तियों का वर्णन तो समयसार में आ गया। एक-एक शक्ति अनन्त सामर्थ्य से भरपूर है। ऐसे सामर्थ्य को स्वसंवेद्य से ज्ञात हो, ऐसा है, कहते हैं। समझ में आया?

अपने आत्मा के ही अनुभव में आवे, वैसा है। गुरु, उनकी वाणी तथा तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि भी उसका अनुभव करा सके, वैसा नहीं है;... आहाहा! भगवान या भगवान की वाणी अथवा गुरु और गुरु की वाणी, वह तो परवस्तु है। परवस्तु पर जब तक लक्ष्य करे तो अनुभव नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? लो, भगवान की वाणी से लाभ नहीं होता? अरे! सुन न, भगवान! समवसरण में अनन्त बार गया, प्रभु! 'अनन्त काल से भटक रहा बिना भान भगवान, सेये नहीं गुरु सन्त को, छोड़ा नहीं अभिमान।' आहाहा! समझ में आया? सेवन का अर्थ—वे कहते हैं, वैसा माना और जाना नहीं। पैर दबाना नहीं वहाँ। समझ में आया? यह समयसार की चौथी

गाथा में आता है। स्वयं तो जाना नहीं परन्तु जाननेवाले की सेवा नहीं की, ऐसा आता है—इसका अर्थ भगवान, सन्त कहते हैं, उस बात को तूने अन्तर में लक्ष्य में नहीं लिया, इसलिए सेवा नहीं की, ऐसा। यह बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, ऐसा करके निकाल दिया। आहाहा! बापू! तू बड़ा है, प्रभु! तेरी महत्ता की क्या बात करना! अनन्त सिद्ध की पर्याय के अनन्त पद तेरे स्वभाव में स्थित हैं, अनन्त सिद्ध! एक सिद्ध हो, ऐसी अनन्त पर्यायें! आहाहा! तेरी शक्ति में सिद्ध की पर्याय अनन्त पड़ी है। क्योंकि गुण है। आहाहा! उसकी महत्ता की क्या बातें! इसकी महन्तता का क्या कहें! यह भगवान के सन्देश आये हैं। अच्छे घर की कन्या आती हो और दो-पाँच (लाख) लेकर आती हो तो... शिथिल हो तो भी स्वीकार लेता है। पचास नारियल आये हों, परन्तु यह दस लाख लेकर आती है और करोड़पति व्यक्ति है तथा वापस लड़का नहीं है। मर जाएगा तो (सम्पत्ति) आनेवाले हैं। आहाहा! उसका सम्बन्ध स्वीकारता है। यहाँ तीन लोक के नाथ का सन्देश आया है। अरे! नाथ! तुझमें प्रभुता पड़ी है, वहाँ जा, उसके साथ विवाह कर। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है, भगवान!

'जगतडा कहे छे रे... भगतडा काला छे।' ऐसी बातें क्या करता है? 'काला न जाणशो रे, प्रभु ने... व्हाला छे।' समझ में आया? पागल है, ऐसा कहे। हमारे पालेज में दुकान थी न, नौ वर्ष वहाँ रहे। (संवत्) १९५८ से १९६८। सगे-सम्बन्धी वैष्णव थे। एक व्यक्ति भजन करे। वहाँ जाना पड़े। छोटी उम्र जाएँ, सुनें। वे ऐसा गाता थे, 'जगतडा कहे छे रे, भगतड़ा घेला छे, पण घेला न जाणशो रे, प्रभु ने त्यां पहेलां छे।' ऐसा गाते थे। उसका अर्थ यह, हों! वह तो पर के लिये (कहते थे)। आहाहा! अपना भगवान पूर्णानन्द का नाथ, जिसे अन्दर में रुचा, उसकी प्रियता की क्या बात करना? कहते हैं। जिसे परमात्मा का स्वभाव अपना, उसके साथ प्रियता हुई, वह भगतडा भले गहल (हो) तो भी वह प्रिय है। वह अल्प काल में केवलज्ञान लेनेवाला है। समझ में आया? दुनिया को न बैठे, कठिन बात लगे। क्या हो? भाई! वस्तु तो जो है, वैसी रहेगी। आहाहा!

धर्मी की दृष्टि में इन्द्रासन के इन्द्र के सुख भी जहर जैसे लगते हैं। आहाहा!

जिसके आत्मा के अन्तर स्वरूप में आनन्द है, ऐसी जहाँ दृष्टि हुई, उसे इन्द्र के इन्द्रासन, जिसे अनाज का ढोकला नहीं खाना है। ऐसे जिनके वैक्रियकशरीर, उनको हजारों इन्द्राणियों का भोग, जहर... जहर... जहर है। क्योंकि वह राग का सुख है। राग तो जहर है। भगवान आत्मा का आनन्द तो अमृत है। आहाहा!

कहते हैं, इस भगवान का वेदन... इसमें कहना है न! अपना स्वसंवेदन। भगवान की दिव्यध्वनि से भी ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। गुरु या उनकी वाणी या तीर्थंकर की दिव्यध्वनि भी उसका अनुभव कराने में समर्थ नहीं है। **जीव अनुभव करे तो वह निमित्तमात्र कहलाती है।** आहाहा! अनुभव करे तो निमित्त कहलाये। उनसे हुआ नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं, भाई! ऐसा कहे, दया पालना, पश्चात् ऐसा करना, ऐसा करना... मारवाड़ी में तो देखो न कितने ही.. दया करने का कहे। घर में न खाये और किसी का माँगकर खाये, यह दया पालन की कहलाये। अरे! भगवान! तुझे दया की खबर नहीं, बापू!

दया तो आत्मा आनन्द का नाथ वीतरागस्वरूपी है, ऐसा उसका जीवन है, उसे स्वीकार करना, उसको दया पालन की कहा जाता है। जैसा उसका स्वभाव जीवता-जागता है, उसे उस प्रकार माने, स्वीकार करे, उसने जीव की दया पालन की और उसे उतना न मानकर राग और अल्पज्ञवाला मानना, वह जीव की पूर्ण अस्ति का निषेध करनेवाला हिंसा करता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं, भाई! वीतराग त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर अरहन्त के पन्थ में यह बात है। आहाहा! जिनेश्वरदेव के मुख से दिव्यध्वनि आयी, उसमें यह आया है, यह उनका सन्देश है। समझ में आया? कहते हैं कि हमारी वाणी से भी तू ज्ञात न हो, ऐसा तुझे कहते हैं। आहाहा! यह तो वीतराग कहते हैं। समझ में आया? पोपटभाई! आहाहा! अलौकिक बातें हैं! 'सहजे समुद्र उल्लस्यो, जेमा रतन तणाणां जाय, भाग्यवान कर वावरे एनी मोतिये मूठ्युं भराय।' अभाग्यवान जो होता है, वह भरे वहाँ शंख भरते हैं, हाथ में आते हैं। ऐसा मार्ग वीतराग का। समझ में आया?

जीव अनुभव करे तो वह निमित्तमात्र कहलाती है। वह (आत्मस्वरूप)

स्वानुभवगोचर है। आहाहा! आत्मा तो अपने स्वभाव से ज्ञात और अनुभव हो, ऐसा है। यह विभाव और निमित्त और संयोग से ज्ञात हो, ऐसी चीज़ नहीं—ऐसी चीज़ नहीं। आहाहा! ऐसी वह वस्तु नहीं। आहाहा! समझ में आया? वह तो स्वानुभवगम्य है। **आत्मा स्वयं ही उसे पहिचानकर, अनुभव कर सकता है।**

इस प्रकार वास्तव में आत्मा के परद्रव्य का तथा रागादि का ग्रहण-त्याग नहीं है, वह सर्वज्ञ है... इसलिए स्वानुभवगम्य है। ज्ञ-सर्वज्ञ-ज्ञ है, इसलिए ज्ञानमय है। वह ज्ञानस्वभावी है, इसलिए ज्ञानगम्य है, राग और परगम्य है नहीं। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

नोंध - प्रवचन नं. ३० उपलब्ध नहीं है।

श्लोक - २२

साम्प्रतं तु तत्परिज्ञाने सति कीदृशं मे चेष्टितमित्याह -

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः॥ २२॥

असौ उत्पन्नपुरुषभ्रान्तिः पुरुषाग्रहे पुरुषाभिनिवेशे निवृत्ते विनष्टे सति यथा येन पुरुषाभिनिवेशजनितोपकारापकाराद्यु-द्यमकरणभूतेनपरित्यागप्रकारेण। चेष्टते प्रवर्तते। तथाचेष्टोऽस्मि तथा तदुद्यमपरित्यागप्रकारेण चेष्टा यस्यासौ तथाचेष्टोऽस्मि भवाम्यहम्। क्व? देहादौ। किंविशिष्टः? विनिवृत्तात्मविभ्रमः विशेषेण निवृत्त आत्मविभ्रमो यस्य। क्व? देहादौ॥२२॥

वर्तमान में उसका (आत्मा का) परिज्ञान होने पर, मेरी कैसी चेष्टा हो गयी है? - वह कहते हैं —

भ्रम तज नर उस स्तम्भ में, नहीं होता हैरान।
त्यों तनादि में भ्रम हटे, नहीं पर में निजभान॥ २२॥

अन्वयार्थ - (असौ) जिसको वृक्ष के ठूंठ में पुरुष का भ्रम हो गया था, वह मनुष्य (स्थाणौ) ठूंठ में, (पुरुषाग्रहे निवृत्ते) 'यह पुरुष है'—ऐसे मिथ्याभिनिवेश के नष्ट हो जाने पर, (यथा) जिस प्रकार उससे अपने उपकारादि की कल्पना त्यागने की (चेष्टते) चेष्टा करता है; उसी प्रकार (देहादौ) शरीरादि में (विनिवृत्तात्मविभ्रमः) आत्मपने के भ्रम से रहित हुआ मैं भी, (तथा चेष्टः अस्मि) देहादि में अपने उपकारादि की बुद्धि को छोड़ने में प्रवृत्त हुआ हूँ।

टीका - (ठूंठ में) पुरुषाग्रह अर्थात् पुरुषाभिनिवेश निवृत्त होने पर-नष्ट होने पर, जिसे (ठूंठ में) पुरुष की भ्रान्ति हुई थी, वह (मनुष्य), जिस प्रकार पुरुषाभि-निवेशजनित उपकार-अपकारादि से प्रवृत्ति का परित्याग करनेरूप चेष्टा करता है, प्रवर्तता है; इसी प्रकार मैंने चेष्टा की है अर्थात् उस प्रवृत्ति के परित्याग-अनुरूप जिसको जैसी चेष्टा होती है, वैसी चेष्टावाला मैं बन गया हूँ।

कहाँ (किस विषय में)? देहादि में। कैसा (हुआ हूँ)? जिसका आत्मविभ्रम

विनिवृत्त हुआ है, वैसा; अर्थात् जिसका आत्मविभ्रम विशेषरूप से निवृत्त हुआ है, वैसा हुआ हूँ। कहाँ (किस विषय में) ? देहादि में।

भावार्थ - जब मनुष्य, ठूंठ को ठूंठ समझता है, तब पहले उसमें पुरुष की कल्पना करके, जो उपकार-अपकारादि की कल्पनारूप चेष्टा करता था, वह बन्द हो जाती है; इसी प्रकार अन्तरात्मा को भेदविज्ञान द्वारा शरीर और आत्मा की एकता का भ्रम दूर होने पर, शरीरादि में उपकार-अपकाररूप बुद्धि नहीं रहती और इसलिए उनके प्रति उदासीन रहता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

ज्ञानी अपने आत्मा को शरीर से भिन्न और अत्यन्त पृथक् जाति का मानता है क्योंकि :—

१. शरीर, रूपी; आत्मा, अरूपी;

२. शरीर, जड़; आत्मा, चेतन;

३. शरीर, संयोगी; आत्मा, असंयोगी;

४. शरीर, विनाशी; आत्मा, अविनाशी;

५. शरीर, अन्धा (ज्ञानशून्य); आत्मा, देखता (ज्ञानमय);

६. शरीर, इन्द्रियग्राह्य,; आत्मा, अतीन्द्रियग्राह्य;

७. शरीर, बाह्य परतत्त्व; आत्मा, अन्तरङ्ग स्वतत्त्व —

इत्यादि प्रकार से दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। इस प्रकार अत्यन्त भिन्नपने के विवेक से जीव को जब भेदज्ञान होता है, तब शरीरादि में आत्मबुद्धि का भ्रम छूट जाता है। शरीर के सुधार-बिगाड़ से आत्मा सुधरता-बिगड़ता है — ऐसा भ्रम मिट जाता है। देहादि परपदार्थों के प्रति कर्ताबुद्धि के स्थान पर, ज्ञाताबुद्धि उत्पन्न होती है और वह आत्मसन्मुख झुककर, चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होने लगता है।

इस प्रकार जब जीव को भेदविज्ञान के द्वारा स्व-पर का भान होता है, तब वह परभाव से हटकर स्वसन्मुख होता है ॥२२॥

मागसर कृष्ण १३, शुक्रवार, दिनांक १०-१-१९७५, श्लोक-२२, प्रवचन-३१

यह समाधितन्त्र। यह तो गुजराती है। कहते हैं कि आत्मा का ज्ञान होने से अथवा आत्मा जैसा स्वरूप है, ऐसा अनुभव में आत्मा का भिन्न भान होने से उसकी कैसी दशा होती है? ठूंठ का दृष्टान्त दिया न पहले? कि वृक्ष का ठूंठ था ठूंठ। उसको पुरुष मानकर उसकी सब चेष्टा वह मेरी है, ऐसा मानता था। भ्रम में। धारणा कर ली हो। समझ में आया? परन्तु अनदर में शरीरादि की चेष्टा, वाणी की दशा वह मुझसे होती है, ऐसी अन्दर दृष्टि हुई, तब तक उसने पर से भिन्न जाना नहीं। आहाहा! धारण कर ली हो, वह दूसरी चीज़ है। आहाहा!

परन्तु आत्मा जब राग से और शरीर की चेष्टा से भिन्न भान होता है, तब अन्तर्दृष्टि में आत्मा ऐसा जानता है कि शरीर, वाणी, परपदार्थ, शरीर की क्रिया, लिखने आदि की सब मेरी नहीं। वह तो जड़ की है। आहाहा! ऐसा स्वरूप चैतन्य, ज्ञानस्वभावी वस्तु उसका स्वसंवेदन होने से, स्व अर्थात् अपना ज्ञानस्वभाव का प्रत्यक्ष राग और मन के आश्रय बिना वेदन होता है, तब ज्ञानी पर की चेष्टा पर की मानते हैं, अपनी नहीं। आहाहा! वह कहते हैं, देखो!

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः॥ २२॥

टीका - पुरुषाग्रह अर्थात् पुरुषाभिनिवेश निवृत्त होने पर-नष्ट होने पर,... जो ठूंठ में पुरुष की भ्राँति होती थी, वह सब नाश हो गयी। आहाहा! ठूंठ है। आहाहा! ऐसे शरीर, वाणी, मन वृक्ष के ठूंठ की भाँति भिन्न चीज़ है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा विभ्रम जो था,... सार तो वह है न अन्दर? चाहे जितना जाना, धारणा की, पढ़ा परन्तु आत्मा की पर्याय अपना सहारा ले, वह उसका तात्पर्य है। समझ में आया? सारे शास्त्र का अभ्यास, वह शास्त्र का ज्ञान तो परालम्बी है। आहाहा! जैसे राग परभाव है, वैसे शास्त्र का ज्ञान परसत्तावलम्बी पर है।

जैसे पुण्य और पाप का भाव भिन्न है, ऐसे परलक्ष्य से जो जानपना हुआ, वह

परसत्तावलम्बी ज्ञान बन्ध का कारण है। आहाहा! अपनी सत्ता का जो स्वस्पर्शी पर से भिन्न होकर आत्मज्ञान (हुआ), आत्मज्ञान न? कि पर का ज्ञान? शुद्ध चैतन्यघन, उसका अन्तर में पर से भिन्न होकर, 'यह चैतन्य है' ऐसा बोध अन्दर में होना, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान और भेदज्ञान है।

क्रिया करे राग की और शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान करे तो दोनों चीज़ पर है। स्व चैतन्यमूर्ति भगवान... समाधि अधिकार है न? समाधि कब होती है? आधि-व्याधि-उपाधि से पर (पार) समाधि। उपाधि अर्थात् संयोगी चीज़, व्याधि अर्थात् संयोग में उपद्रव-रोग, आधि अर्थात् संकल्प और विकल्प। आधि-व्याधि-उपाधि और पर तरफ का ज्ञान भी आधि—संकल्प-विकल्प में-जाता है। उससे अन्तर में रहित चैतन्य का स्पर्श होना, उसका नाम समाधि है। समाधितन्त्र कहते हैं। समझ में आया?

संसार की होशियारी, अभ्यास आधि में जाता है। वकालत की होशियारी, डॉक्टर की होशियारी, ये सेठ की बीड़ी की होशियारी। डहापण समझते हो? होशियारी। अरे! भगवान! वह तो परसत्तावलम्बी चीज़ है न। उसमें आत्मा कहा आया? उसमें आत्मा कहाँ आया? वह तो अनात्मा है। आहाहा! उसमें तो असमाधि है। समझ में आया? शरीर मेरा, राग मेरा, पर तरफ का जानपना मेरा, वह असमाधि है। आहाहा!

यहाँ तो समाधि अधिकार है न। समाधि कब होती है? कि जैसे ठूंठ को पुरुष मानकर उसकी चेष्टा अपनी है, ऐसा मानता था, वह बात छूट गयी। ऐसे देह की चेष्टा, वाणी की चेष्टा, मन की चेष्टा। देह की चेष्टा में यह होंठ हिलना, पलक हिलना, वह सब देह की चेष्टा है। समझ में आया? चमड़ी ऐसी होना, वह तो देह की चेष्टा है। वह चेष्टा जड़ की है। आहाहा! तो पर तरफ का जो आग्रह था अभेदबुद्धि में, अपना स्वभाव और पर की एक(त्व) बुद्धि में आहाहा! वह असमाधि थी अर्थात् दुःख था। पर से मैं भिन्न चैतन्यस्वरूप, ऐसी धारणा और विकल्प भी नहीं। आहाहा!

छठवीं गाथा में आया न? '**ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो, जाणगो दु जो भावो।**' प्रमत्त-अप्रमत्त पर्याय जो है, उसमें मैं नहीं। ओहोहो! आत्मा शुद्ध है, वह कैसे जानने में आता है? और जानने में आता है तो किस प्रकार? तो कहते हैं, प्रमत्त-

अप्रमत्त, रागादि से भिन्न पड़ा... आहाहा! प्रमत्त-अप्रमत्त पर्याय का झूलना, वह भी मैं नहीं। मैं नहीं, ऐसा विकल्प नहीं। मैं तो प्रमत्त-अप्रमत्त रहित ज्ञायकभाव हूँ। ज्ञायकभाव, आनन्दभाव, स्वभावभाव, एकरूप भाव, सदृशभाव, सामान्यभाव, अभेदभाव। ऐसा अन्तर में स्पर्श करना। ऐसा कहा न वहाँ? कि परद्रव्य का लक्ष्य छोड़कर स्वद्रवय की सेवा उपासना करने से शुद्ध ऐसा ख्याल में आता है। उसको ख्याल में आता है। किसको? कि जिसने पर तरफ का लक्ष्य छोड़कर स्वद्रव्य की उपासना की, सेवा की, अन्तर में एकाग्र हुआ, उसको शुद्ध है—ऐसा जानने में आता है। द्रव्य शुद्ध, हों! पर्याय द्रव्य तरफ झुकी। आहाहा!

जो पर्याय पर्यायबुद्धि में थी... आहाहा! '**पज्जयमूढा हि परसमया**' ऐसा लिया है न? प्रवचनसार-९३ गाथा। ज्ञेय अधिकार की पहली गाथा। '**पज्जयमूढा हि परसमया**'। एक समय की पर्याय, उसमें रुका तो उसमें सारा आत्मा तो आया नहीं। तो एक समय की पर्याय में भी रुकने से... पर्यायमूढ़ है। क्योंकि वह तो व्यवहार आत्मा है। एक समय की पर्याय तो व्यवहार आत्मा है। सत्य आत्मा, निश्चय आत्मा, भूतार्थ आत्मा वह नहीं। समझ में आया? भूतार्थ आत्मा, सत्यार्थ आत्मा पूर्ण शुद्ध एकरूप आत्मा ऐसे अन्तर में स्वभाव-सन्मुख पर्याय का झुकने से पर्याय में शुद्धता आयी तो उससे जाना कि सारा द्रव्य शुद्ध है। ऐसे विकल्प से जानना, ऐसे नहीं—ऐसा कहते हैं। सूक्ष्म बात है, भाई! अनन्तकाल में कभी किया नहीं। ऐसी अपूर्व समाधि होनी चाहिए। ऐसा कहते हैं न? समझ में आया?

कहते हैं कि पर की भ्रान्ति का नाश होने से **जिस प्रकार पुरुषाभिनिवेशजनित उपकार-अपकारादि से प्रवृत्ति का परित्याग...** उससे मुझे लाभ है शरीर की चेष्टा से और शरीर की चेष्टा न हो तो मुझे नुकसान है, ऐसी बुद्धि छूट गयी। ऐसी बुद्धि छूटने से, **इसी प्रकार मैंने चेष्टा की है,...** वह तो हो गया। परित्याग करता है। आहाहा! **प्रवृत्ति के परित्याग-अनुरूप...** पर की चेष्टा का परि-समस्त प्रकार से अभावस्वरूप, उस अनुरूप **जिसको चेष्टा होती है, वैसी चेष्टावाला मैं बन गया हूँ।** आहाहा! मैं तो ज्ञान को जानने की चेष्टावाला बन गया हूँ। आहाहा! देखो! यह सम्यग्दृष्टि के लक्षण। देखो! यह आत्मज्ञान

के चिह्न। आत्मज्ञान। आत्मज्ञान लिया न? पर का ज्ञान, पर्याय का ज्ञान—ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया।

मैं तो ज्ञान की चेष्टा जो जानने-देखनेवाला हूँ, उसके द्वारा मैं आत्मा हूँ—ऐसा जाना। आहाहा! समझ में आया? **अनुरूप जिसको जैसी चेष्टा होती है,...** ज्ञान की परिणति स्वभाव ऊपर लक्ष्य होने से जो दशा होती है—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-शान्ति... आहाहा! **वैसा चेष्टावाला मैं बन गया हूँ।** जानन-देखन चेष्टावाला मैं हुआ हूँ। मैं राग और पर की चेष्टावाला था, उसका परित्याग करने से अर्थात उस तरफ का लक्ष्य छोड़ने से। परित्याग का अर्थ क्या? समझ में आया? यह छोड़ता हूँ, ऐसा है वहाँ? उस पर लक्ष्य था, उस लक्ष्य को छोड़कर। वह तो नास्ति से बात कही। परन्तु अपने चैतन्य ज्ञायकभाव पर जहाँ दृष्टि गई, सामान्य स्वभाव पर दृष्टि प्रसरी, तब ज्ञान की पर्याय जो होती है जानने-देखने की, ऐसी चेष्टावाला मैं हुआ हूँ। आहाहा! ऐसा मार्ग बड़ा कठिन, भाई! अभी लोगों ने प्रवृत्ति में मनवा दिया है।

इसमें बहुत आया है, गरजथ का विरोध भी आया है और अनुकूल एक जानने लिखा है। इसमें विरोध है। अभी आया। वीरवाणी। मान मिले, हाथी के होदे पर बैठे। पचास हजार-लाख-दो लाख खर्च करे। वह पैसे तेरे कहाँ है? प्रभु! गजरथ चले वह कहाँ तेरी चीज़ है? आहाहा! और उसमें विकल्प होता है, वह कहाँ तेरे में है? आहाहा! क्या गजरथ चलाना है? भगवान! गज तो आत्मा आनन्द का कन्द प्रभु, उसका रथ अर्थात् चक्र अन्दर परिणमन करना। आहाहा! सेठ! यह गजरथ है यहाँ तो। आहा!

गधे जैसी चेष्टा थी। राग और पर सम्बन्धी का भाव उसको अपना मानता था तो गधे जैसी चेष्टा थी। क्योंकि मिथ्यात्वभाव का फल तो निगोद है। बीच में शुभाशुभ आते हैं, वह तो एक गति का कारण है। परन्तु मूल भाव मिथ्यात्व है, वह तो निगोद का कारण है। आहाहा! समझ में आया? भगवान कुन्दकुन्दाचार्य तो कहते हैं कि वस्त्र का एक धागा रखकर... आहाहा! मुनिपना माने, मनावे, मान्यता में अच्छा जाने, निगोदं गच्छई। इतना? क्या कहते हैं? आप लोगों में क्या कहते हैं? ककड़ी का...?

मुमुक्षु : ककड़ी के चोर को कटार नहीं मारना।

पूज्य गुरुदेवश्री : कटार नहीं मारना। ककड़ी के चोर को कटार? थोड़ा इतना माना उतने में? उतना थोड़ा नहीं है, भगवान! उसमें तूने बड़ी विपरीतता की है। समझ में आया?

कपड़े का संयोग हो और संयम हो, ऐसी चीज़ नहीं। तो संवर का तुझे विपरीत ज्ञान हुआ। और संयम हो तो कपड़े का संयोग न हो, तो अजीव का संयोग न हो तो अजीव के संयोग का विपरीत ज्ञान हुआ। आहाहा! और संयम हो, तब द्रव्य का बहुत आश्रय है। जीव का बहुत आश्रय है। उसकी भी तुझे खबर नहीं। वस्त्र हो, राग हो, तो द्रव्य को उतना आश्रय तो हुआ नहीं। तो मान लिया कि मुझे संयम है। आहाहा! तो जीवद्रव्य के आश्रय में भी भूल, जीव के संयोग में भी भूल और संवर की पर्याय में उग्रता इतनी हो तो वहाँ ऐसा विकल्प वस्त्र का होता नहीं तो संवर की भी भूल और विकल्प है, संवर के काल में विकल्प की मर्यादा, आहार लेने की है तो उस मर्यादा को छोड़कर आस्रव की भी भूल। आहाहा!

मुमुक्षु : संयोग तो कुछ करता नहीं....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा, कपड़ा कुछ करता नहीं। उसकी ममता है न वह। संयोग कुछ करता नहीं। कपड़ा नुकसान करता नहीं। कपड़े पर लक्ष्य जाना, वह नुकसान करता है। बात सच्ची है। कपड़े की पर्याय तो उसमें है। कौन कहता था? परन्तु जब ममता इतनी छूटती है तो कपड़े का संयोग सहज अजीव का इतना होता नहीं। ऐसा निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। आहाहा! समझ में आया? कहते हैं कि जिसने इतनी भूल की, उसने सारे नव तत्त्व की विपरीत दृष्टि की। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ पर से भिन्न स्वरूप है, ऐसा न मानकर राग से लाभ होगा, पुण्य से लाभ होगा, शरीर की अनुकूलता ऐसे रहो, ब्रह्मचर्य पालो, स्त्री के विषय में शरीर न जाये, स्त्री के विषय में शरीर न जाये तो मुझे लाभ होगा। वह तो विपरीत मान्यता है। समझ में आया? तो इस विपरीत मान्यता का त्याग करने को कहते हैं, मैंने तो सब चेष्टा को छोड़ दिया। आहाहा! मैं तो भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप (हूँ)। ज्ञायक शुद्ध स्वरूप का भान हुआ तो पर्याय में ज्ञान की चेष्टा रही, ज्ञान का परिणमन रहा, ऐसा कहते हैं। चेष्टा शब्द का अर्थ ज्ञान का परिणमन। समझ में आया?

ऐसा अनुरूप **परित्याग अनुरूप...** है न ? विकल्प का और पर का लक्ष्य छोड़कर उसके अनुरूप अपने स्वभाव में ज्ञान की परिणति रही। ज्ञान ज्ञानरूप हुआ, ज्ञान की श्रद्धा ज्ञानरूप हुई, ज्ञान में स्थिरता ज्ञानरूप हुई, रागरूप न हुई। आहाहा! सूक्ष्म मार्ग बहुत, भाई! अन्तरंग परिणमन होना, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? जब पर की चेष्टा का स्वामीपना छूटा तो उसकी कुछ परिणति होनी चाहिए न ? तो परिणति ज्ञान-दर्शन-शान्ति की परिणति होती है। वह उसकी चेष्टा है। आहाहा! वह समाधि है। आहाहा!

राग से और पर की चेष्टा से लक्ष्य छूट गया तो भगवान आत्मा पूर्णानन्द शुद्ध, उस पर लक्ष्य जम गया। तो पर्याय में चेष्टा कहते हैं न ? अनुरूप उसकी चेष्टा होती है। पर का अभाव हुआ तो उसके अनुकूल आत्मा का स्वभाव की ओर अनुभूति की परिणति चेष्टा होती है। वह समाधि है। दूसरे बाबा समाधि लगाते हैं, वह यह नहीं। समझ में आया ? पोपटभाई! सामायिक में आता था या नहीं ? 'समाहिवरमुत्तम दिंतु'।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका अर्थ कहाँ मालूम था। ये तो अपने सामायिक में आता है। दिगम्बर की सामायिक में आता है। 'समाहिवरमुत्तमं दिंतु। चंदेसु निम्मलयरा,...' सामायिक की इन लोगों की प्रथा नहीं है। श्वेताम्बर में सामायिक की प्रथा है बाहर की। इन लोगों में सामायिक में पाठ ऐसा है। 'समाहिवरमुत्तमं दिंतु'। ऐसा पाठ है लोगस्स में। लोगस्स समझे ? 'लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे;' चौबीस तीर्थंकर की स्तुति। वह सामायिक में आती है। उसमें आता है। पाठ है। 'समाहिवरमुत्तमं दिंतु'। हे भगवान! वह तो अपनी प्रार्थना है। भगवान कहाँ देखते हैं। 'समाहि...' पूर्णानन्द का नाथ अपन चीज उस पर झुकाव होने से उसका विनय हुआ, प्रार्थना हुई तो उसमें—से शान्ति, आनन्द का अनुभव (होता है)। वह आनन्द का अनुभव है, वह समाधि है। आहाहा! समझ में आया ? 'समाहिवरमुत्तमं दिंतु' समाधिरूपी फल हे नाथ! मुझे दीजिये। ऐसा व्यवहार से कथन है। यहाँ आया अन्दर में। वस्तु के अनुरूप कुछ होना चाहिए या नहीं ? राग और पर का लक्ष्य छूटा तो उसके अनुरूप क्या ? उसके अनुरूप शान्ति। आहाहा! समाधि अधिकार है न ? समझ में आया ?

लोगस्स बहुत आता है श्वेताम्बर में। लोगस्स किया था या नहीं? हमने तो दस वर्ष की उम्र से किया था। ७५ वर्ष हुए। जैनशाला में दस वर्ष की उम्र में। यह लोगस्स 'समाहिवरमुत्तमं दिंतु'। अपने में पाठ है परन्तु अपने चलता नहीं। सामायिक में है। सामायिक पाठ में है। वह पाठ उसमें है। 'लोगस्स उज्जोअगरे,...' लोक का प्रकाश करनेवाले। 'लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे'; धर्म के तीर्थ को करनेवाले हे भगवान! चौबीस तीर्थंकर की स्तुति है सामायिक में। समझ में आया? किया है या नहीं लोगस्स-बोगस्स। किया था? ... आहाहा!

'समाहि...' वह शब्द पड़ा है लोगस्स में। 'समाहिवर...' फल। मुझे आत्मशान्ति चाहिए, बस। आहाहा! स्वभाव-सन्मुख होने से पर से लक्ष्य अर्थात् विमुख होने से, पर से लक्ष्य छोड़ने का अर्थ विमुख होने से। स्व से विमुख था और पर से सन्मुख था, वह असमाधि (थी)। आहाहा! लोगस्स आता है न? लोगस्स आता है न? भाई! किया होगा न लोगस्स, सावरकुण्डला। नहीं? सामायिक में आता है। पहले णमो अरिहंताणं का पाठा, दूसरा तिकखूत्तोका, तीसरा इच्छामि पडिकमणा, चौथा तस्सुतरी, पाँचवाँ लोगस्स, छठवाँ ..., सातवाँ णमोत्थुणं। ये सात पाठ। अर्थ किसको खबर है? आहाहा! आपने किया था या नहीं? नहीं किया? दिगम्बर में पाठ आता है। आहाहा!

क्या कहते हैं? जब देह, वाणी, मन की चेष्टा मेरी है, ऐसे काल में मुझे जो असमाधि थी तो उसको छोड़ने से उसके अनुरूप, अनुरूप समाधि प्रगट हुई। आहाहा! पर का लक्ष्य छोड़ने से। ऐसा आया न? **प्रवृत्ति के परित्याग-अनुरूप...** पर की प्रवृत्ति के अभावरूप। परित्यागरूप अनुरूप। आहाहा! **जिसको जैसी चेष्टा होती है...** पर के त्याग के अनुरूप आत्मा में जिसको जैसी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की चेष्टा होती है **वैसी चेष्टावाला मैं बन गया हूँ।** समकिती ऐसा मानते हैं। आहाहा! कहो, ...भाई! लोगस्स-बोगस्स किया था या नहीं? तुमने किया था? ओहो! आहाहा!

अपने स्वरूप से विमुख होकर पर राग-द्वेष-शरीर चेष्टा आदि मेरी है, ऐसे स्वभाव से विमुख होकर, पर तरफ से सन्मुख होकर जो असमाधि थी... आहाहा! वह पर का त्यागरूप अनुरूप, त्याग में अनुरूप ज्ञान और आनन्द की चेष्टा हो, वह पर के

त्याग के अनुरूप वह चेष्टा है। ऐसे पर का त्याग किया स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब वह तो त्याग ही नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

त्याग तो उसका नाम है कि जो अन्दर विकल्प की चेष्टा थी,... आहाहा! उसका अभावस्वभावरूप, उसका त्यागरूप अनुरूप, ज्ञान और आनन्द की चेष्टा। वह राग और द्वेष की चेष्टा थी, असमाधि की थी, वह उसके परित्यागरूप, उसके अनुरूप ज्ञान और आनन्द की चेष्टा मैं हूँ। आहाहा! समझ में आया? यह तो शास्त्र है, भाई! समाधि। ऐसे ही पढ़ ले, ऐसा न चले। यह तो गम्भीर चीज़ है। पूज्यपादस्वामी। वह भी भगवान के पास गये थे। सीमन्धर भगवान के पास, हों! प्रस्तावना लिखा है।

मुमुक्षु : पूज्यपादस्वामी?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। ... भगवान कुन्दकुन्दाचार्य तो गये थे, यह भी गये थे। प्रस्तावना में लिखा है शुरुआत में। है न? उसमें है। कहीं पर है।

मुमुक्षु : आठवाँ पन्ना।

पूज्य गुरुदेवश्री : आठवें पन्ने पर, देखो।

तथा इस शिलालेख में ऐसा भी उल्लेख है कि (१) वे अद्वितीय औषधऋद्धि के धारक थे। है? **(२) विदेहक्षेत्र स्थित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से पवित्र हुए थे।** है न? शिलालेख में है। है अन्दर? **(३) उनके चरणोदक के स्पर्श से एक बार लोहा भी सोना बन गया था।** लोहा भी सोना बन गया था। आता है, शिलालेख में आता है। आठवें पन्ने पर। मिल गया न। बीच में है। सातवें पन्ने पर संस्कृत है। **जीवन की अद्‌भुत घटनायें।** है? '**श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषर्द्धि र्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः**' है?

मुमुक्षु : विदेह में जिनदर्शन। ऐसा भी हो सकता है कि वे विदेही थे, उनके जिनदर्शन से जिनका शरीर पवित्र हुआ था।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो निमित्त की बात है। देह अर्थात् आत्मा पवित्र था। है न उसमें? **यत्पाद्धौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीयकार।**' लोहा भी सोना बन गया। उसने औषध का सूत्र भी बनाया है। औषध की बड़ी लब्धि थी और उस समय में वैद्यों का बहुत अभिमान, जोर हो, तो उसने पुस्तक बनाया है। उस कारण

से विकल्प ऐसा आया और वह बन गया। वहाँ पूछने जाये तो मना करे हमें क्या है, वैद्य हैं हम? नहीं। ऐसा बहुत जोर वैद्य का हो और अभिमान (करते हो कि) हम ऐसा जानते हैं... ऐसा जानते हैं... ऐसा जानते हैं। तो ऐसा विकल्प आ जाये कि भाई देखो! जंगल में रहनेवाले हैं, उनको औषधि का भी भान है। बता दे।... पुस्तक बनाया। समझ में आया? उसमें लिखा है कि पूज्यपादस्वामी ने कितने पुस्तक बनाये हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उसने बनाया है। जिनेन्द्र व्याकरण... आहाहा!

यहाँ तो क्या है? कि **पुरुषाभिनिवेशजनित।** ठूंठ में पुरुषअभिनिवेशजनित। ऐसे पर में मैं हूँ, ऐसे अभिमान जनित। **उपकार-अपकार की प्रवृत्ति का परित्याग।** उससे उपकार होगा, शुभभाव से मुझे लाभ होगा, अशुभ से मुझे नुकसान होगा, बिच्छू काटने से मुझे दु:ख होगा, पर से। ऐसी जो प्रवृत्ति का अभिमान था, उसके **परित्याग करनेरूप चेष्टा...** आहाहा! समझ में आया? उस ओर का लक्ष्य उठाकर स्वभाव में लक्ष्य दिया तो जो पर में अहंबुद्धि थी, उसमें जो राग-द्वेष की चेष्टा थी, दु:खरूप चेष्टा थी, उसके त्यागरूप, उसके अनुरूप। आहाहा!

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य की दृष्टि और अनुभव हुआ तो वहाँ पर के अभाव-स्वभावरूप समाधि उत्पन्न हुई। आहाहा! समझ में आता है? आहाहा! पूज्यपादस्वामी। है न, पाठ है न।

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः॥ २२॥

आहाहा! राग और विकल्प से अभावस्वभावरूप तो है। निवृत्तस्वरूप ही है। उसका निवृत्तस्वरूप ही है। परन्तु माना था कि मैं पर की चेष्टावाला मैं हूँ, उसको छोड़कर... आहाहा! जैसा स्वरूप पर का अभावस्वरूप था, ऐसा दृष्टि में लिया तो पर के त्याग के अनुरूप स्वभाव में आते ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द की पर्याय... होती है। आहाहा! समझ में आया? यह मार्ग है। मोक्ष का मार्ग ऐसे उत्पन्न हुआ। समाधि कहो, मोक्ष का मार्ग कहो। आहाहा!

पर की ओर का लक्ष्य जो था कि शरीर, वाणी, मन, पर आत्मा, पर शरीर, पर शरीर से यह शरीर मैं हूँ, ऐसा मानना। तो पर का शरीर भी आत्मा है, ऐसा माना। उसकी शरीर की चेष्टा आदि हुई, वह आत्मा है, उसने ऐसा माना। आहाहा! समझ में आया? वहाँ से, अपनी पर्याय में परलक्ष्य था तो उस लक्ष्य से अपनी चेष्टा देह की भी अपनी मानते थे और पर की चेष्टा देह की वह आत्मा की है, ऐसा मानता था। शरीर बोले, चले तो वह आत्मा का है, ऐसा पर का भी ऐसा मानता था। आहाहा! पोपटभाई! ये कहते हैं।

पर का नास्तिभाव हुआ, शरीर की चेष्टा, रागादि का भाव उस चेष्टा का परित्याग हुआ। परित्याग का अर्थ? परि—समस्त प्रकार से उसका अभाव लक्ष्य में लिया, उसके अनुरूप उसको शान्ति पैदा होती है। आहाहा! समाधि की बात तो देखो! समझ में आया? पर के त्याग में स्व की शान्ति न हो तो पर का त्याग किया ही नहीं उसने। आहाहा! समझ में आया? यह तो स्त्री, कुटुम्ब का त्याग करते हैं, वह तो मानते हैं मिथ्यादृष्टि। शरीर का त्याग और शरीर का ग्रहण तो आत्मा में है ही नहीं। आत्मा त्यागग्रहणशून्य, (त्याग) उपादानशून्यत्वशक्ति। है न? ४७ शक्ति में है। ग्रहणत्यागशून्यत्वशक्ति। रजकणमात्र का ग्रहना, रजकण का छोड़ना, ऐसी आत्मा में शक्ति है ही नहीं। वह तो पर के ग्रहण-त्यागरहित उसकी उपादान शक्ति है। आहाहा! समझ में आया?

निश्चय से तो राग का पकड़ना, राग का नाश (करना), वह आत्मा के स्वभाव में है ही नहीं। राग का नाश करना वह तो, ३५वीं गाथा में आता है, समयसार। आत्मा राग का नाश करता है, वह कहनेमात्र है। ३५वीं गाथा में है। आहाहा! राग के ग्रहण से रहित भगवान, और राग का नाश करने से रहित भगवान आत्मा है। आहाहा! यहाँ तो कर्म का नाश करता है, वह तो सब उपचारिक कथन है, बापू! आहाहा! समझ में आया?

राग का नाश कर्ता कहना, वह तो कहनेमात्र है। है? आहाहा! वह ज्ञानमात्र से कब छूटा है कि राग का त्याग करे और राग का नाश करे। राग का अभावस्वभावरूप ही रहा है। राग के विकल्प के अभावस्वभावरूप निवृत्तस्वरूप ही है। उसको निवृत्ति करना, नाश करना और निवृत्ति करना, ऐसी कथनशैली है। आहाहा! देखो न,

परित्यागरूप—ऐसा शब्द है न? तो परित्याग-राग का त्याग करना, वह भी कहाँ उसमें है। परन्तु राग का लक्ष्य छोड़ता है तो राग का त्याग किया, ऐसा कहने में आता है। यह वस्तुस्थिति। समझ में आया?

कहाँ (किस विषय में) ? वह परित्याग किस विषय में? टीकाकार। संस्कृत टीका। टीका साधारण है। बहुत टीका ऐसी नहीं है। जैसी अमृतचन्द्राचार्य की टीका... आहाहा! अमृत का झरना बहे। यह प्रभाचन्द्र की है न? साधारण कहते हैं। वे आचार्य नहीं है, आचार्य नहीं। समझ में आया? कहा न, भाषा साधारण है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह दूसरा। वह दूसरा। वह तो प्रमेयकमलमार्तंड यह दूसरा है। प्रमेयकमलमार्तंड आता है।

कहाँ (किस विषय में) ? देहादि में। जो उसमें है नहीं, उसका त्यागरूप। देह, वाणी, मन, अरे..! पुण्य, पाप, दया, दान, भक्ति का विकल्प, उन सबमें चेष्टा का अभाव किया। आहाहा! समझ में आया? मार्ग सूक्ष्म बहुत, भाई! अन्तर में परिणमन करना, वह बात करते हैं। परित्याग हो तो आत्मा में ज्ञान और आनन्द का परिणमन होता है। वह पर के त्याग के अनुरूप यह चीज़ है। आहाहा! समझ में आया? पर का त्याग तो निमित्त और उसके अनुरूप नैमित्तिक (यह क्रिया है)। आहाहा! समझ में आया?

स्वभाव पर दृष्टि पड़ने से उसकी ज्ञान की पर्याय, दर्शन की पर्याय, चारित्र की पर्याय, आनन्द की पर्याय, ऐसी पर्याय की चेष्टा होती है। समझे? यह तो समाधिशतक (पूज्यपादस्वामी ने) अपनी शैली रखकर बात कही है। वह आ गया न? अरे! मैं पर को समझाऊँ, अध्यापक मुझे समझा दे, मेरे आचार्य, उपाध्याय मुझे समझा दे। और मैं दूसरे को समझाऊँ ऐसा विकल्प भी पागलपन है। आहाहा! अस्थिरता का। पर को समझा दूँ, ऐसी भाषा का स्वामी हो, वह तो मिथ्यात्वदृष्टि है। मिथ्यात्व का पागलपन है। वह आ गया है, अपने आ गया है। तत्त्वार्थसूत्र में। ये तीन गाथा है न। पहले सूत्र में। स्त्री को माता माने, माता को स्त्री माने, वह तो मिथ्यात्व का पागलपन है। समझ में आया? वह चेष्टा मेरी, राग मेरा, वह तो मिथ्यात्व का पागलपन है। परन्तु वह मिथ्यात्व

का पागलपन छूटने से ज्ञान-दर्शन की परिणति हुई, उसमें जो विकल्प उठते हैं... आहाहा! चारित्र का दोष था, हों! जिसको मैं समझाऊँ, वह तो इन्द्रियग्राह्य शरीर दिखता है। उसका आत्मा तो दिखता नहीं। आहाहा! दिगम्बर सन्तों की वाणी भी रामबाण बात है। राम का बाण वापस आये नहीं, ऐसे वाणी का न्याय फिरे नहीं। आहाहा!

कहते हैं कि भाई! **कैसा (हुआ हूँ) ? जिसका आत्मविभ्रम विनिवृत्त हुआ है, वैसा; अर्थात्, जिसका आत्मविभ्रम विशेषरूप से निवृत्त हुआ है,...** वह शब्द पड़ा है न? '**विनिवृत्त**' मूल पाठ में। '**विनिवृत्त**' आहाहा! स्वभाव सन्मुख के भाव में पर से विमुख हुआ, वही पर का त्याग। समझ में आया? वह तो विशेषरूप से त्याग। अंशमात्र भी मेरी चीज़ में विकल्प नहीं है। आहाहा! संसार मुझमें है ही नहीं। विकल्प वह संसार है। वह कहा न? पुण्य को सुशील कैसे कहना? जो संसार में दाखिल करे। आहाहा! समझ में आया?

तो कहते हैं कि जो उपदेश का विकल्प आया, वही संसार है। आहाहा! समयसार नाटक में कहा है कि प्रमत्त भाव छठवें गुणस्थान में विकल्प उठता है, वह संसार है। वह संसार की ओर झुका है विकल्प। आहाहा! मुनि छठवें गुणस्थान में, हों! आहाहा! विकल्प जो उठता है महाव्रत का, तो कहते हैं कि वह संसार की ओर झुका है। आहाहा! इस ओर (स्वभावसन्मुख) झुकाव नहीं है। कहो, शान्तिसागरजी! पहिचानते हो? ... दीक्षा लेनेवाले थे। नग्न मुनि होनेवाले थे। (संवत्) २०११ के वर्ष में। रह गये। परेशान हो जाते।

मुमुक्षु : रह गया या बच गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : रह गया और बच गया। आहाहा! अरे! बापू! प्रभु! यह मार्ग-सम्यग्दर्शन का मार्ग कोई अलौकिक है, भाई! सम्यक् चौथे गुणस्थान की दशा। आहाहा! उसे तो सबसे विकल्प से, पर से निवृत्त होकर अपने ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि करने से पर्याय में चेष्टा ज्ञान, दर्शन, आनन्द की होती है। आहाहा! समझ में आया?

कहाँ (किस विषय में) ? देहादि में। देहादि अर्थात् राग (आदि) सब। राग भी कार्मणदेह है। देह के लक्ष्य से उत्पन्न हुआ शरीर। ये पुद्गल है। राग को पुद्गल कहा

है। जयपुर में आये थे, मनोहरलालजी। सुबह में आये थे। पहले यह प्रश्न किया था। ...तब तो निवृत्ति की बात करते थे। फिर विरोध हो गया था। बहुत विरोध हो गया। अरे! ... ... व्यक्ति के परिणाम की जिम्मेदारी व्यक्ति पर है। किसी के प्रति द्वेष करना, ऐसा नहीं। कोई भी हो, तत्त्वैषु मैत्री। विरोध दृष्टि हो, परन्तु मैत्री आत्मा... मैत्री न छूटे। विरोध नहीं। उसने प्रश्न किया था। पुद्‌गल परिणाम क्यों कहा? विकार को पुद्‌गल परिणाम क्यों कहा? कहा, उसकी चीज़ में है नहीं। निकल जाता है तो जड़ का है ऐसा कहने में आया। समझ में आया? दूसरा प्रश्न उद्देशिक का (किया) कि उद्देशिक का स्पष्टीकरण यदि हो जाये तो बहुत एकता हो जाये। मैंने कहा, लोग करते हैं और लेते है, वह उद्देशिक है। ऐसा कहना है कि वह कराते नहीं और गृहस्थ करते हैं तो उद्देशिक नहीं है? भगवान के विरह में ऐसी बात न चले, प्रभु! अरे! भगवान का विरह पड़ा और ऐसी बातें करे, भाई! ऐसा नहीं होता। गृहस्थ उसके लिये बनाये और वह लेते हैं, उसको खबर है कि ये तो मेरे लिये बनाया है। आहाहा! वह उद्देशिक है।

मुमुक्षु : गृहस्थ तो ऐसा खाते ही नहीं, जो साधु के योग्य हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : साधु के लिये ही बनाते हैं। बात सच्ची है, भैया! कोई खाते नहीं। पानी गरम करते हैं, ऐसा अधमण अधमण। मोसंबी पिलाते हैं, गन्ने का रस। भाई! भगवान का विरह पड़ा और उद्देशिक का अर्थ ऐसा हुआ।

मुमुक्षु : कोई रास्ता तो निकालो। उनको भी तो जिन्दा रहना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बापू! मार्ग ऐसा है नहीं। आहाहा! अज्ञानपने ले लिया मार्ग। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं... और हमारे तो (यह चर्चा) बहुत चलती थी, भाई! हीराजी महाराज। पण्डितजी! हमारे गुरु थे सम्प्रदाय में। बहुत कड़क। गाँव में जाये, दस-बारह घर हो। बनाये तो ले नहीं। उपदेश वह दे। कोई भी यदि साधु के लिये बनाकर देगा तो गर्भ में गलेगा। ऐसा कहते थे। गर्भ में गलेगा। समझ में आया?

हम भी ऐसे कड़क थे पहले उस समय। हम जब गये भावनगर, (संवत्) १९७७ के वर्ष में। ७७। समझे? कितने वर्ष हुए? ५४। ५४ हुए। पहले हमारी कड़क

क्रिया थी। हम भी दस-पन्द्रह घर जाये तो मुश्किल से आहार मिले। निर्दोष लेना है। कोई पानी को छुए तो नहीं लेते थे। एक हमारे थे, अमरचन्दभाई, हरीभाई के भाई। ...साधु आनेवाले हैं। तो कागज छपवाया। ९६ दोष। जो महाराज के लिये बनाया हुआ देंगे तो गर्भ में गलेगा। आहाहा! यहाँ तो अखबार में आता है कि चौका के लिये आओ। अरे.. भगवान! ये क्या है? लाभ लेने के लिये। अरे.. प्रभु! मार्ग यह नहीं है, भाई! यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, उनका कथन है। उस मार्ग से विरुद्ध थोड़ा भी चले नहीं। आहा!

कहते हैं, इन सबका मैंने तो त्याग किया है। ऐसा कहते हैं। है न?

भावार्थ :- जब मनुष्य ठूंठ को ठूंठ समझता है,... ठूंठ समझते हो? वृक्ष का—पेड़ का। **तब पहले उसमें पुरुष की कल्पना करके, जो उपकार-अपकारादि की कल्पनारूप चेष्टा करता था, वह बन्द हो जाती है; इसी प्रकार अन्तरात्मा को भेदविज्ञान द्वारा...** आहाहा! **शरीर और आत्मा की एकता का भ्रम दूर होने पर, शरीरादि में उपकार-अपकाररूप बुद्धि नहीं रहती और इसलिए उनके प्रति उदासीन रहता है।** आहाहा! समझ में आया? राग से, शरीर से भगवान आत्मा तो भिन्न उदास है। उदास। अपना आसन लगाया है ज्ञाता में। राग के आसन से छूट गया है। समझ में आया? यह मार्ग है, भाई! इस मार्ग में कुछ भी कम या अधिक, विपरीत करेगा तो मिथ्यात्व होगा। यह तो वीतराग मार्ग है, भाई! अनन्त केवली कहते आये हैं। उसमें फेरफार करना, (वह) मिथ्यात्व का पोषक है। आहाहा!

विशेष - ज्ञानी अपने आत्मा को शरीर से भिन्न और अत्यन्त पृथक् जाति का मानता है... आहाहा! गुलाबचन्दभाई हैं एक, दिगम्बर। अहमदाबाद में। उसने बनाया है यह। छोटाभाई। उसके पिताजी छोटाभाई। चल बसे। यहाँ बहुत सुनते थे। बाद में यह लिखा है। उसने बनाया है। गुजराती। अहमदाबाद में रहते थे। अन्तिम स्थिति में हम गये थे वहाँ। दो महीने रहे थे। यहाँ बहुत आते थे। बहुत शान्त व्यक्ति थे। उसने यह ... बनाया है, सादी भाषा में।

ज्ञानी अपने आत्मा को... शरीर, वाणी, मन, राग से भिन्न **अत्यन्त पृथक् जाति**

का मानता है क्योंकि :- शरीर रूपी,... विकार भी वास्तव में तो रूपी है। आहाहा !**आत्मा, अरूपी; शरीर, जड़; आत्मा, चेतन; शरीर, संयोगी; आत्मा, असंयोगी; शरीर, विनाशी; आत्मा, अविनाशी; शरीर, अन्धा (ज्ञानशून्य); आत्मा, देखता (ज्ञानमय); शरीर, इन्द्रियग्राह्य, ; आत्मा, अतीन्द्रियग्राह्य; शरीर, बाह्य परतत्त्व; आत्मा, अन्तरंग स्वतत्त्व, इत्यादि प्रकार से दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं।** आहाहा! दोनों, तीन काल में एक है नहीं। ऐसा भेदज्ञान करने से समाधि होती है-शान्ति होती है। पर को एक मानने से अशांति होती है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण १४, शनिवार, दिनांक ११-१-१९७५, श्लोक-२२-२३, प्रवचन-३२

२२ गाथा। उसका विशेष है। पहले थोड़ा आ गया है। फिर से। **ज्ञानी (जीव) अपने आत्मा को शरीर से भिन्न...** जानते हैं। लगता है सब गये। नहीं है न? **क्योंकि शरीर, रूपी; आत्मा अरूपी;...** दोनों चीज़ भिन्न। **शरीर, जड़; आत्मा, चेतना;...** दोनों की जाति भिन्न। आहाहा! **शरीर, संयोगी...** शरीर तो संयोगी चीज़ है। **आत्मा, असंयोगी;...** वस्तु स्वाभाविक वस्तु, वस्तु है। आहाहा! **शरीर, विनाशी; आत्मा, अविनाशी; शरीर, अन्धा (ज्ञानशून्य)...** शरीर कुछ जानता नहीं। आहाहा! शरीर कुछ जानता नहीं है कि मैं जड़ हूँ या कौन हूँ? उसे खबर नहीं। जड़ है, यह तो मिट्टी है। **आत्मा, देखता (ज्ञानमय);...** वह तो देखनेवाला है। शरीर तो अन्धा है। दोनों चीज़ बिल्कुल भिन्न है। **शरीर बाह्य परतत्त्व,...** शरीर तो बाह्य परतत्त्व है। **आत्मा अन्तरंग स्वतत्त्व है,...** है। आहाहा! **इत्यादि प्रकार से दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं।**

इस प्रकार अत्यन्त भिन्नपने के विवेक से... ऐसे अत्यन्त भिन्नपने से, अत्यन्त भिन्नपने के विवेक से **जीव को जब भेदज्ञान होता है, तब शरीरादि में आत्मबुद्धि का भ्रम छूट जाता है।** ओहो! आगे है। ... मैं परमात्मा मेरे स्वभाव से जानने योग्य हूँ। समझ में आया? पृष्ठ-६७ है। **'मयैव मयि स्थितम्'** पृष्ठ-६७ (गाथा-३२)। **ये शब्द बहु अर्थसूचक हैं, जो बताते हैं कि परमात्मपद मेरे में-आत्मा में है; अन्यत्र बाहर कहीं नहीं है... 'मया एव मयि'** मैं मेरे में हूँ। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात, भाई! आत्मा कोई विकल्प से प्राप्त हो, ऐसी चीज़ नहीं है। शरीर की क्रिया दया, दान या व्रत की क्रिया से आत्मा प्राप्त हो, ऐसी चीज़ नहीं है। वह तो अपनी निर्मल प्रज्ञा-ज्ञान की पर्याय-द्वारा जाननेयोग्य भगवान आत्मा है। आहाहा! तब उसको भेदज्ञान होता है। तब उसको सम्यग्दर्शन और समाधि होती है। आहाहा! समझ में आया?

मैं आत्मा शुद्ध चैतन्य परमात्मस्वरूप परमस्वरूप परमात्मस्वरूप मेरी प्रज्ञा-ज्ञान द्वारा मैं जाननेयोग्य हूँ। और मेरी ज्ञानपर्याय उपासक है और मैं त्रिकाली स्वभाव उपास्य हूँ। आहाहा! ऐसा बहुत कठिन काम है। धर्म की तो यह बात है, भगवान! आहाहा! मैं आत्मा अर्थात् परमतत्त्व अर्थात् परमस्वरूप, नित्य परमस्वरूप, आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप,

शान्तस्वरूप, ऐसी अनन्त शक्तिस्वरूप मैं आत्मा मेरी निर्मल निर्विकल्पदशा से मैं प्राप्त होनेवाला हूँ। दूसरा कोई उपाय है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं कि **जब शरीरादि में आत्मबुद्धि का भ्रम छूट जाता है।** आहाहा! शरीर तो ठीक, मन भी ठीक, परन्तु उसमें जो विकल्प उठते हैं, गुण-गुणी का भेद आदि के, वह विकल्प राग है। राग से भी भिन्न। आहाहा! उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं। समझ में आया? जगत कुछ और माने, सर्वज्ञ कुछ और कहे। आहाहा! अभी तो, बाह्य की चेष्टा शरीर, वाणी, मन की वह पर की है, यह भी मान्यता में ठीक नहीं लगती। आहाहा!

यहाँ तो अन्दर में विकल्प उठे कि, मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, परमस्वरूप हूँ, मैं मेरे से जाननेयोग्य मैं हूँ—ऐसा विकल्प है, उससे भी प्राप्त नहीं होता। व्यवहार से प्राप्त हो, (ऐसा तो कैसे हो?) पत्र आया है आपका फिर से। चेतनजी! उसमें है। आहाहा! बात तो सीधी है। अपने पढ़ा है। चौथे गुणस्थान में निश्चय समकित नहीं होता। वह। अरे! भगवान! आहाहा! निश्चय अर्थात् स्व-आश्रय सत्यदर्शन, वह चौथे से होता है। चौथे गुणस्थान से होता है।

कोई भी विकल्प की जाति (हो, परन्तु), वह विकल्प से-राग से प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि राग उसमें है नहीं। राग से भी वह चीज़ भिन्न है। तो भिन्न करने में जो भेदज्ञान होता है, वह निर्विकल्प है, राग का आश्रय-अवलम्बन बिना की चीज़ है। आहाहा! वह तो अपना आत्मा शुद्ध जो ध्रुव, उसके अवलम्बन से जो निर्विकल्प पर्याय होती है, उससे प्राप्त होता है। समझ में आया? अनेकान्त का विचार आया था। जुगलजी का। जुगलजी है, युगल है तो दो से प्राप्त होता है? ऐसा अन्दर शब्द आया। आत्मा से भी प्राप्त हो और विकल्प से भी प्राप्त हो, ऐसा है? आहाहा! युगल दो को कहते हैं न?

कहते हैं, भगवान! तेरी चीज़ है। पूर्ण स्वभाव से भरी पड़ी है। आहाहा! वह परम आत्मस्वरूप ही मैं हूँ। मैं हूँ, वही परमात्मा और परमात्मा है, वह मैं हूँ। आहाहा! ऐसे अन्तर में विकल्प राग का आश्रय लिये बिना, स्वभाव का आश्रय लेते ही विकल्प छूट जाते हैं। मार्ग तो ऐसा है, भाई! भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने इन्द्रों और गणधरों के बीच यह बात कही थी। वह बात है। जुगलजी! समझ में आया? जगत को बहुत

कठिन पड़े। कहते हैं, व्यवहार नहीं ? व्यवहार नहीं ? भाई ! व्यवहार है। परन्तु व्यवहार से प्राप्त नहीं होता। व्यवहार है। व्यवहार है नहीं, ऐसा नहीं। आहाहा ! ...आता है न ? ... व्यवहार (निषेध करोगे) तो तीर्थ का नाश होगा। उसका अर्थ क्या ? कि व्यवहार का अर्थ चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ, सातवाँ, गुणस्थान भेद है, वह व्यवहार है। यदि व्यवहार न माने तो भेद का ही नाश होता है। तीर्थ जो चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ, वही नहीं रहता। परन्तु व्यवहार से निश्चय प्राप्त होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा ! भेद के आश्रय से निश्चय प्राप्त होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा !

मुमुक्षु : उसका कुछ समाधान।

पूज्य गुरुदेवश्री : समाधान तो वह कहते थे पूनमचन्द। पूनमचन्द घांसीलाल। ... है न मुम्बई में ? मन्दिर है उसका। कौन सा गाँव कहते हैं ? गाँव। प्रतापगढ़। बीसपंथी है। मन्दिर है वहाँ बड़ा बनवाया है। तो वह कहते थे कि स्वामीजी और हम कुछ थोड़ा-थोड़ा... ये बनिये करते हैं न ? किसी के पास पाँच हजार माँगता हो। पाँच हजार माँगता हो तो बनिया कहे कि पाँच हजार में एक पैसा कम नहीं लेना है। दूसरा कहे, दो हजार के सिवा एक पैसा है नहीं। मैं अपना गधा बेचूँ, भैंस बेच दूँ तो दो हजार होता है। ऐसा करते... करते... करते... बनिया पाँच हजार में से चार हजार तक आया। भाई चार हजार दो। वह दो हजार में से पच्चीस सौ में आये। जुगलजी ! ऐसा समझोता होता है उसमें ? आहाहा ! पूनमचन्द कहते थे। पूनमचन्द कैसे ? घांसीलाल। मन्दिर है न ? उसका मन्दिर है। नवनीतभाई ! पूनमचन्द थे। अरे... भगवान ! मार्ग तो जो है, वही है, भाई ! आहाहा ! वह विकल्प से प्राप्त होता है (और) निर्विकल्प से (भी) प्राप्त होता है, ऐसी चीज़ है ? वस्तु है, वह तो निर्विकल्प वीतरागस्वरूप है। तो वीतरागस्वरूप राग से प्राप्त होता है ? पहले तो विकल्प से श्रद्धा का निर्णय करना, उसमें क्षति है। जुगलजी ! वीतरागस्वरूप राग से प्राप्त होता है ? आहाहा ! समझ में आया ? दुनिया मानो, न मानो; निश्चयाभास कहो, न कहो। पर बात तो ऐसी है, भगवान !

सर्वज्ञ परमात्मा जिनवरदेव ने आत्मा ऐसा प्राप्त किया। जो चीज़ है ध्रुव नित्यानन्द प्रभु, उसका जहाँ लेते हैं आश्रय, तो विकल्प की एकता टूट जाती है। विकल्प रहते

नहीं। तब सम्यग्दर्शन और समाधि की प्राप्ति होती है। वह सम्यग्दर्शन समाधि है-शान्ति है। आहाहा! समझ में आया? ओहोहो!

कहते हैं, **शरीरादि में आत्मबुद्धि का भ्रम छूट जाता है,...** शरीर और विकल्प से होता है और वह मैं हूँ, आत्मा का स्वभाव राग से भिन्न होकर अपना अनुभव होता है तो शरीरादि में आत्मबुद्धि नाश होती है। विकल्प की एकता टूट जाती है। आहाहा! ऐसा मार्ग है, भाई! **शरीर के सुधार-बिगाड़ से आत्मा सुधरता-बिगड़ता है-ऐसा भ्रम मिट जाता है।** शरीर आद्यं खलु धर्म साधनम्, ऐसा आता है पुरुषार्थसिद्धि में। शरीर है तो धर्म का साधन है, वह भ्रमबुद्धि है। समझ में आया? शरीर अच्छा और निरोग रहे तो मैं धर्म कर सकूँ, यह तो भ्रमबुद्धि है। राग से भिन्न अपने स्वरूप की दृष्टि, अनुभव हो तो शरीर से निरोगता से धर्म होता है, सरोगता से नहीं, वह भ्रम मिट जाता है। पोपटभाई! आहाहा! समझ में आया? आहाहा! शरीर के सुधार-बिगाड़ से (आत्मा सुधरता-बिगड़ता है ऐसा) भ्रम टूट जाता है।

देहादिक परपदार्थों के प्रति कर्ता-बुद्धि के स्थान पर... देखो! देह की स्थिति की अवस्था मैं करता हूँ, ऐसी जो भ्रमबुद्धि मिथ्यात्व है... आहाहा! मैं चैतन्य हूँ, राग की क्रिया से भी मैं पार (न्यारी) वस्तु ऐसी है, ऐसी दृष्टि और अनुभव होने से कर्ताबुद्धि—देह की क्रिया मैं करता था, ऐसी बुद्धि—नाश हो जाती है। उसके स्थान पर ज्ञाता-दृष्टा बुद्धि हो जाती है। आहाहा! बड़ा कठिन मार्ग, भाई! बड़े समाज में तो... साधु को यह कठिन पड़ता है। क्या पंच महाव्रत की क्रिया व्यवहार साधन नहीं है? उससे साध्य नहीं होता? अरे..! भगवान! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि शरीर की क्रिया से मुझमें लाभ होगा और शरीर की क्रिया न हो तो नुकसान (होगा), ऐसी सुधार-बिगाड़ की बुद्धि स्वभाव की दृष्टि होने से नाश हो जाती है। आहाहा! समझ में आया? सातवीं नरक का नारकी, सप्तमी नरक का नारकी रव-रव अपरिठाणे पड़ा है। रव रव नरक। आहाहा! वह भी जब अन्तर में विकल्प तोड़कर अन्तर में जाता है तो आत्मा का अनुभव कर लेता है। इतने शरीर में रोग। शरीर उत्पन्न होते ही १६ रोग। ओहोहो! १६ रोग हों! श्वास, ..., कण्ठमाल, ये

क्या कहते हैं आपके ? केंसर। केंसर कहते हैं न ? ऐसा रोग तो जन्म से नारकी को होता है। आहाहा ! उसका अर्थ घाव पड़ना। केंसर। घाव पड़ते हैं न ? यहाँ पड़े... यहाँ पड़े... सारे शरीर में पड़ते हैं। केंसर। हो शरीर की अवस्था, उसमें आत्मा को क्या है ? आहाहा ! मेरी चीज़ पाने में परचीज़ के सहारे की मुझे जरूरत नहीं। आहाहा ! भगवान सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव का ऐसा पंथ है, ऐसा हुकम है, ऐसा आदेश है। आहाहा !

कहते हैं, **देहादिक परपदार्थों के प्रति कर्ता-बुद्धि के स्थान पर...** शरीर की चेष्टा मैं करता हूँ, राग को मैं करता हूँ ऐसी **कर्ता बुद्धि के स्थान पर, ज्ञाताबुद्धि उत्पन्न होती है...** ओहोहो ! मैं तो राग और शरीर को अपने में रहकर जाननेवाला ज्ञाता-दृष्टा हूँ। सम्यग्दृष्टि को ऐसा अनुभव में आता है। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा ! राग विकल्प जो है दया, दान, व्रत, भक्ति का उसकी कर्ताबुद्धि है, वह मिथ्यात्व है। उस विकल्प से भिन्न होकर चैतन्य का शुद्ध स्वभाव का पर्याय में लाभ होना, तब वह कर्ताबुद्धि छूट जाती है और ज्ञाताबुद्धि होती है। ऐसी बात है, भाई ! बहुत...

कुछ लोग कहते हैं कि सोनगढ़वाले ने सम्यग्दर्शन बहुत महंगा कर दिया। जुगलजी ! भगवान ! यह तो भगवान का पंथ है, भाई ! सोनगढ़ का नहीं है। आहाहा ! तुझे सुनने न मिले, इसलिए मार्ग दूसरा हो जाये, ऐसा है नहीं। ऐसे विकल्प से पहले निर्णय तो करे भूमिका में... आहाहा ! कि मेरी प्राप्ति तो निर्विकल्प से होती है। व्यवहार से होती है और राग से होती है; वह चीज़ ही ऐसी है नहीं।

सच्चिदानन्द प्रभु परमात्मस्वरूप से विराजमान भगवान आत्मा अपनी भगवती प्रज्ञाछैनी से प्राप्त होता है। वह आता है न। सर्वविशुद्ध में आता है। प्रज्ञाछैनी। आहाहा ! वह भेदज्ञान हुआ। ऐसा मार्ग है। आहाहा ! उसके पिता हैं। पिता के पिता, दादा हैं। पैसेवाला है, बहुत लाखोंपति है। ये कहता है, मुझे शादी नहीं करनी। मैं धन्धा नहीं करूँगा। ऐसी बात ... छोटी उम्र में ऐसी भावना। गृहस्थ है। ... नहीं, मैं शादी नहीं करूँगा। धन्धा भी नहीं करूँगा। आहाहा ! अरे.. ! मेरी चीज़ क्या है ? प्राप्ति करने में पर की प्रवृत्ति का विकल्प तो छोड़ना पड़ेगा। जादवजीभाई ! उसे हाँ कहकर अनुमोदन देना पड़े। ऐसा नहीं कि,... हाँ, बापू ! धन्य अवतार। ... हो। अनुमोदन करे। भले विकल्प से है अभी। समझ में आया ? आहाहा ! धन्य बापू ! कहा था न एकबार ? कहा था न।

राजकुमार होता है। आत्मा का अनुभव हुआ। मैं तो आनन्द की खान, निधान हूँ। ऐसा मुझे भान हुआ है। उस आनन्द की पूर्ण प्राप्ति करने को, माता! मैं वन में जाऊँगा। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद, माता! आया है। तो अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु मेरा स्वभाव परमात्मा पर्याय में प्रगट करने को माता! अनुमति दो, जनेता! आहाहा! मैं मेरी निधि की-निधान की सम्हाल करने जाता हूँ। राग और स्त्री की सम्हाल, माता! मेरे अधिकार की बात नहीं है। मेरी रुचि भगवान आत्मा के सन्मुख झुक गयी है। उस ओर का साधन करने को मैं मुनिपना लेता हूँ। मुनिपना का वह अर्थ। समझ में आया?

माता कहती है, बेटा! इतनी १५-१६ वर्ष की उम्र, २५ साल की उम्र। ये कन्या ३२-३२ हजार सैंकड़ों महारानी उसको छोड़कर बेटा! कहाँ जायेगा तू? कोई सहाय नहीं है। माता! हमारा भगवान आत्मा हमारे पास है। आहाहा! उसका साधकपना भी मेरे में है। तो बाह्य साधन की हमको जरूरत नहीं। आहाहा! वह आता है न? प्रवचनसार। प्रवचनसार चरणानुयोग में ऐसा अधिकार आता है। माता-पिता के पास आज्ञा माँगे। न दे फिर (भी) छोड़ देना। चले जाना। अनुमति न दे तो... हमको हमारे आनन्द में जाना चाहते हैं और तुम हमको रोक दो, ऐसा नहीं चलेगा। (अनुमति) माँगते हैं, माता!

फिर माता कहती है, बेटा! जाओ। तुम तुम्हारे रास्ते। हमको वह पथ होओ। बेटा! तूने जो रास्ता लिया, वह मुझे होओ। जाओ, भाई! जाओ। आहाहा! माता! एक बार रोना हो तो रो ले। पुन: हम माता नहीं करेंगे। पुन: माता नहीं करेंगे। कोलकरार करते हैं। आहाहा! राजकुमार की दशा... आहाहा! मैं मेरे स्वरूप साधने को जाता हूँ। माता! जाओ बेटा। हमको भी यह पंथ होओ। यह पंथ हमें होओ। ऐसा अनुमोदन करती हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि परमात्मा मैं ही हूँ। मेरी चीज़ में पर का लेश सम्बन्ध नहीं है, ऐसा भेदज्ञान हुआ... आहाहा! ये शान्ति... समाधि अधिकार है न? तो सम्यग्दर्शन है, वही समाधि है। आहाहा! समझ में आया? शान्ति... शान्ति का अंश वेदन में आया, वह राग से भिन्न पड़ने से आया है। व्यवहार से हुआ, व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है— ऐसा शास्त्र में कहने में आता है। परन्तु उसको छोड़कर। आहाहा! वह कहते हैं, देखो!

राग की कर्ताबुद्धि थी पहले। ज्ञान आनन्दस्वरूपी प्रभु अपनी निर्मल पर्याय द्वारा प्राप्त हुआ, वह राग से भिन्न करके हुआ है। राग का सहारा, व्यवहार का सहारा करके हुआ है, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया? **कर्ताबुद्धि के स्थान पर...** सम्यग्दृष्टि की ज्ञाताबुद्धि हो जाती है। व्यवहार का राग आता है परन्तु मैं रचनेवाला नहीं, मैं जाननेवाला हूँ। आहाहा! शरीर की क्रिया गुरु सन्मुख जाना, तीर्थ जाना, वचन बोलना, ऐसी होती है। उसको तो कर्ताबुद्धि के स्थान में ज्ञाताबुद्धि हो जाती है। आहाहा! उसका नाम धर्म है। पोपटभाई! ऐसा महंगा धर्म नहीं है, सस्ता धर्म है। परन्तु जहाँ हो उस दुकान से मिले न? आहाहा! पेड़ा लेना हो तो अफीम की दुकान पर जाये तो मिले? पेड़ा पेड़ा कहते हैं न? ये दूध का पेड़ा। वह तो कन्दोई की दुकान पर मिले। कन्दोई-हलवाई। वैसे ही आनन्द चाहिए तो आनन्द की दुकान में मिले। आनन्द से भरा भगवान आत्मा है। आहाहा! वहाँ से आनन्द प्राप्त हो। क्या पुण्य और पाप राग में आनन्द है? वह तो अफीम की दुकान है। आहाहा!

कहते हैं, **और वह आत्म-सन्मुख झुककर...** वह आत्मा धर्मी समकिती जीव... आहाहा! भगवान पूर्ण आनन्दस्वरूप के सन्मुख होकर **चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होने लगता है।** उसमें कैसे रहे, ऐसी अन्दर लगनी लगी है। समझ में आया? उसमें अन्दर मैं कैसे स्थिर होऊँ? सारी दुनिया की दृष्टि छूट गयी। एक भगवान चिदानन्दस्वरूप की दृष्टि हुई। यह धर्मी का लक्षण। आहाहा! समझ में आया? एकाग्र होकर अन्तर स्वभाव में जहाँ माल देखा है, वहाँ माल लेने को बारबार जाता है।

इस प्रकार जब जीव को... इस तरह आत्मा को **जब जीव को भेदविज्ञान के द्वारा स्व-पर का भान होता है, तब वह परभाव से हटकर...** परभाव से हटकर **स्वसन्मुख होता है।** आहाहा! समझ में आया? थोड़े शब्द पकड़े थे, आदिसागर था क्षुल्लक, यहाँ का प्रेम था। सुनने को आते थे। उसमें बुद्धि बहुत थोड़ी थी। परन्तु ऐसा पकड़ लिया शास्त्र पढ़कर यहाँ का। कि पर से हट, पर से खस, स्व में बस, टूंका टच। जुगलजी! पर से बस। हट कहा न? पर से खस। हट कहा न? हट का अर्थ बस। आहाहा! राग, शरीर के लक्ष्य से हट, भगवान आत्मा में बस। यह टूंका टच। टूंका टच... समझ में

आया? आहाहा! लोगों को ऐसा लगे, ये तो निश्चय... निश्चय... निश्चय। व्यवहार को मानते नहीं (कि) व्यवहार से होता है। निश्चयाभासी है। भगवान! ऐसा नहीं हाँ! वस्तु की स्थिति ऐसी है कि अपनी प्रज्ञाछैनी राग से भिन्न करके,... राग का सहारा लेकर पर से भिन्न होता है? जिससे भिन्न होना है, उसका सहारा है उसे? आहाहा!

कहते हैं, **परभाव से हटकर स्वसन्मुख...** बसकर **स्वसन्मुख होता है**। आहाहा!

श्लोक - २३

अथेदानीमात्मनि स्त्र्यादिलिङ्गैकत्वादिसंख्याविभ्रमनिर्वृत्यर्थं तद्विविक्तासाधारणस्वरूपं दर्शयन्नाह -

येनात्मनाऽनुभुयेऽहमात्मनैवात्मनाऽऽत्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥ २३ ॥

येनात्मना चैतन्यस्वरूपेण ''इत्थंभावे तृतीया''। अहमनुभूये। केन कर्त्रा? आत्मनैव अनन्येन। केन कारणभूतेन? आत्मना स्वसंवेदनस्वभावेन। क्व? आत्मनि स्वस्वरूपे। सोऽहं इत्थंभूतस्वरूपोऽहं। न तत् न नपुंसकं। न सा न स्त्री। नासौ न पुमान् अहं। तथा नैको न द्वौ न वा बहु रहं। स्त्रीत्वादिधर्माणां कर्मोत्पादितदेह-स्वरूपत्वात्॥२३॥

अब, आत्मा में स्त्री आदि लिङ्ग और एकत्वादि संख्या सम्बन्धी विभ्रम की निवृत्ति के लिए, उनसे विविक्त (भिन्न) असाधारण स्वरूप बताते हुए कहते हैं —

आत्मा को ही निज गिनूँ, नहीं नारी-नर-षण्ड।
नहीं एक या दो बहुत, मैं हूँ शुद्ध अखण्ड॥ २३॥

अन्वयार्थ - **(येन) जिस (आत्मना) आत्मा से-चैतन्यस्वरूप से (अहम्) मैं (आत्मनि) अपनी आत्मा में ही (आत्मना) आत्मा द्वारा—स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा (आत्मनैव) अपनी आत्मा को आप ही (अनुभूये) अनुभव करता हूँ, (सः) वही—शुद्धात्मस्वरूप (अहं) मैं, (न तत्) न तो नपुंसक हूँ, (न सा) न स्त्री हूँ,**

(न असौ) न पुरुष हूँ, (न एको) न एक हूँ, (न द्वौ) न दो हूँ, (वा) और (न बहुः) न बहुत हूँ।

टीका - जो आत्मा द्वारा-चैतन्यस्वरूप द्वारा, मैं अनुभव में आता हूँ — किससे ? आत्मा से ही; अन्य किसी से नहीं; किस करण (साधन) द्वारा ? आत्मा द्वारा-स्वसंवेदन स्वभाव द्वारा; कहाँ ? आत्मा में-स्वस्वरूप में, वह मैं हूँ — ऐसा स्वरूपवाला हूँ। न तो मैं नपुंसक हूँ, न स्त्री हूँ, न पुरुष हूँ; तथा न मैं एक हूँ, न दो हूँ अथवा न मैं बहुत हूँ क्योंकि स्त्रीत्वादि धर्म हैं, वे तो कर्मोपादित देहस्वरूपवाले हैं।

भावार्थ - मैं, स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा, स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप को, अपने आत्मा में अनुभवता हूँ अर्थात् मैं चैतन्यस्वरूप स्वसंवेदनगम्य हूँ। उसमें स्त्री-पुरुषादि लिङ्ग का तथा एक-दो आदि संख्या के विकल्पों का अभाव है।

अन्तरात्मा विचारता है कि जीव में स्त्री-पुरुषादि का व्यवहार, केवल शरीर के कारण है। एक, दो और बहुवचन का व्यवहार भी शरीराश्रित है। जबकि शरीर मेरारूप ही नहीं है और मेरा शुद्धस्वरूप निर्विकल्प है, तब मेरे में लिङ्गभेद और वचनभेद के विकल्प कैसे घटित हो सकते हैं ? यह स्त्रीत्वादि धर्म तो कर्मोपादित देह का स्वरूप है; मेरा स्वरूप नहीं। मेरा चैतन्यस्वरूप तो इन सबसे पर (भिन्न) है।

विशेष स्पष्टीकरण -

आत्मा, शुद्ध आनन्दस्वभावी है, एक है—ऐसा रागमिश्रित विचार भी स्वभाव में नहीं है। गुण-गुणी के रूप से दो हैं और ज्ञान-दर्शन के उपयोग से दो हैं—ऐसा भेद, स्वरूप में नहीं है। आत्मा का शुद्धस्वरूप अभेद, गुण-गुणी के भेदरहित है। उसमें लिङ्गभेद, वचनभेद, विकल्पभेदादि कुछ भी नहीं हैं।

यहाँ आचार्य का लक्ष्य, अभेद-अखण्ड आत्मा के स्वरूप पर है; इसलिए उन्होंने कहा है कि वास्तव में आत्मा को स्त्री, पुरुष, नपुंसकादि अवस्थाएँ नहीं हैं; गुणों के भेदरूप और कारकों के भेदरूप कल्पना नहीं है—ऐसी समझ से ज्ञानी, भेदविज्ञान करके, निरन्तर आत्मस्वरूप में एकाग्र होने की भावना भाता है॥२३॥

श्लोक - २३ पर प्रवचन

अब आत्मा में स्त्री आदि लिंग... नहीं है। भगवान आत्मा में स्त्री, पुरुष, नपुंसक है नहीं। शरीरादि स्त्री का, पुरुष का, नपुंसक का वह तो है नहीं। परन्तु स्त्री, पुरुष, नपुंसक की भाववेद की वासना भी आत्मा में है नहीं। समझ में आया? अलिंगग्रहण में आता है न, द्रव्य-भाव वेद? अलिंगग्रहण में आता है। द्रव्य-भाव वेद से रहित। १६वाँ बोल है। द्रव्य-भाव वेद से रहित अलिंगग्रहण। अलिंगग्रहण के २० बोल हैं। १७२, गाथा प्रवचनसार। उसमें १६वें बोल में आता है। द्रव्यवेद ये स्त्री, पुरुष का, जड़ का। भाववेद-विकल्प वासना। द्रव्य-भाव वेद से रहित भगवान है।

मुमुक्षु : केवली हो तब।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी। केवली हो, तब कहाँ? पहले (से) ऐसा है। आहाहा! क्योंकि द्रव्यवेद है, वह तो अजीव की-जड़ की पर्याय है। स्त्रीलिंग, पुरुषलिंग, हिजड़ा-नपुंसक, वह तो जड़ की मिट्टी की पर्याय है। और अन्दर वासना जो उत्पन्न होती है, वह तो राग का आस्रव है। अजीव और आस्रवतत्त्व से ज्ञायकतत्त्व तो भिन्न है। आहाहा! धर्मी तो अपने आत्मा को द्रव्य-भाव वेद से रहित जानते हैं। द्रव्य और भाव वेदसहित जाने तब तो आत्मा अजीव सहित और आस्रव सहित है। ऐसा है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

स्त्री आदि लिंग... है नहीं। एक, दो, तीन, चार, पाँच—ऐसी संख्या भी आत्मा में है नहीं। वचन का विकल्प, ऐसा आत्मा में है नहीं। आहाहा! **एकत्वादि संख्या सम्बन्धी विभ्रम की निवृत्ति के लिये, उनसे विविक्त (भिन्न) असाधारण स्वरूप बताते हुए कहते हैं :-** भगवान आत्मा का स्वरूप, ओहोहो! द्रव्य-भाव वेद से रहित अवेदी स्वरूप है। वेद की अपेक्षा से। आत्मा का आनन्द की अपेक्षा से वेदकस्वरूप है। आहाहा! स्वसंवेद्य। आहाहा!

शरीर, मन और वचन की क्रिया से आत्मा प्राप्त हो, ऐसा है नहीं। वह तो पर चीज़ है। और पुण्य-पाप के विकल्प से प्राप्त हो, वह तो मलिन का भाव है। तो वह वेद

रहित मेरी चीज़ में मैं पुरुष नहीं, स्त्री नहीं, नपुंसक नहीं। आहाहा! नारकी का जीव तो नपुंसक है न? समकित प्राप्त करता है तो मानता है कि मैं तो नपुंसक नहीं। समझ में आया? पावैया-हीजड़ा होता है, वह भी समकित तो पाता है। मुनिपना न हो। समझ में आया? बाह्य नपुंसक हो... बाह्य शरीर पुरुष का हो और अन्दर नपुंसक वेद का उदय हो। वह तो मुनिपना पा सकते हैं। परन्तु बाह्य नपुंसक शरीर हो तो मुनिपना नहीं होता। जैसे स्त्री शरीर हो बाह्य में, अन्दर में पुरुष (वेद) का उदय हो। ... शरीर स्त्री का, अन्दर पुरुषभाव वेद का उदय हो, तो वह मुनिपना नहीं पा सकता। ऐसी उसकी योग्यता है। शरीर रोकता नहीं, हों! आहाहा! द्रव्य स्त्री है, उसको एकान्त ध्यान नहीं हो सकता। समझ में आया? वह उसकी योग्यता है। शरीर ऐसा मिला तो (ऐसा है), ऐसा नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि नपुंसक, पुरुष, स्त्री वेदभाव और शरीर की चेष्टा जड़ की, मिट्टी की, वह मैं हूँ नहीं, मेरे में है नहीं। आहाहा! समझ में आया? आठ साल की बालिका सम्यग्दर्शन पाती है। आठ साल की। तो वह शरीर स्त्री का और अन्दर वेद स्त्री आदि का, वह मैं हूँ नहीं। आहाहा! बाद में विवाह भी हो। लगन समझे? शादी। मैं शादी कर रही हूँ, ऐसा नहीं। मैं किसके साथ शादी करूँ? आहाहा! विकल्प और शरीर से मैं रहित हूँ। आहाहा!

मीराबाई में आता है न? मीराबाई में। मीराबाई हुई न, उसमें अन्यमति में? है तो मिथ्यादृष्टि, परन्तु उसको उस जाति का संस्कार वैराग्य था। विवाह किया राणा के साथ। राणा प्रताप। ...पटराणी बनाऊँ। उस जाति की... मैं तो ईश्वर परमात्मा की सेवक हूँ। आहाहा! तो सम्यग्दृष्टि की तो क्या बात करना? समझ में आया? राणा को कहती है। हमने तो नाटक भी देखा है न संसार में। मीराबाई का नाटक देखा था। (संवत्) १९६४-६४ के वर्ष है। भरुच में मीराबाई का नाटक था। बहुत वैरागी। डायाभाई घेलशा का नाटक था। भरुच में। हमारी दुकान पालेज में है न? पालेज आठ ... है। तो साधु को मिलने को गये थे हम। अपने स्थानकवासी के साधु आवे न। स्थानकवासी थे न। उनको मिल गया, फिर निवृत्ति है तो चलो देखने। नाटक था मीराबाई का। मीराबाई ... ऐसा नाटक करे।

राणा कहता है, हे मीरा! पटरानी बनाऊँगा, महल में चलो। कहती है, 'परणी मारा पियुजीजी साथ, ऐ... बीजना मींढोळ नही रे बांधु।' मींढोळ समझते हो? शादी के समय नहीं बाँधते हैं? कंकण लकड़ी। मीराबाई... नाटक में देखा था, हाँ!

परणी मारा पीयुजीनी साथ रे, बीजना मींढोळ नहीं रे बांधु।
नहीं रे बाधुं रे राणा, नहीं रे बांधु।
परणी मारा परमेश्वरनी साथ रे, बीजना मींढोळ नहीं रे बांधुं।

आहाहा! ऐसे वैरागी नाटक थे। अभी तो सब गड़बड़ कर दी है। क्या कहते हैं, फिल्म। फिल्म में एक स्त्री ऐसे बैठे,... अरेरे! असज्जनता का फोटो दिखे। ये सब क्या है? समझ में आया? ऐसा वैराग्य। धुन चढ़ जाये उस वक्त, हाँ! आहाहा!

राणा घेली थई रे राणा घेली थई।
मारा साधुडानी संगे हुं तो घेली थई।

तुम्हें मुझे पागल गिनना हो वैसे गिनो। समझ में आया?

घेली रे थई रे राणा घेली थई।
साधुडानी संगे हुं तो घेली थई।

शादी की फिर भी नहीं आती हूँ, पागल... मानो कि कुछ भी मानो। समझ में आया? ऐसे समकिती ने आत्मा के साथ सगाई की। वह आता है न आनन्दघनजी में? चेतनजी! आनन्दघनजी में आता है। 'समकित साथे सगाई कीधी।' आहाहा! वह आता है। मल्लिनाथ की स्तुति में।

भगवान त्रिलोकनाथ का न्योता आया। संसार में भी अच्छे गृहस्थ के घर से कन्या का न्योता आये, कोई करोड़पति की कन्या आती हो। काली हो तो भी स्वीकार कर ले उसके पिता। क्योंकि दस लाख रुपये लेकर आती है। और नब्बे लाख पिता के मरने के बाद आयेगा। उस वजह से बड़े घर की कन्या का न्योता, ५०, नारियल आये हो, पोपटभाई! नारियल समझते हैं? हमारी कन्या... परन्तु किसका पसन्द करे? बड़े घर का। ऐसे भगवान का न्योता है। तीन लोक के नाथ का न्योता है, कि प्रभु चैतन्यमूर्ति

भगवान परमात्मा के साथ सगाई कर। राग और पुण्य के साथ प्रभु! सगाई छोड़ दे। आहाहा! समझ में आया?

भगवान त्रिलोकनाथ का न्योता है—यह कथन है। भाई! प्रभु! तेरी प्रीति परमात्म स्वरूप है, वहाँ जोड़ दे। समकित की सगाई आत्मा के साथ कर दे। राग की एकताबुद्धि है, राग और शरीर के साथ सम्बन्ध किया है, वह मुर्दे के साथ तूने सम्बन्ध किया है। समझ में आया? चैतन्य जागती ज्योति विराजती है अन्दर में। आहाहा! महाप्रभु का न्योता है कि तुम महाप्रभु हो अन्दर। जोड़ दे दृष्टि वहाँ। समझ में आया? आहाहा! वह यहाँ कहते हैं। आहाहा!

मैं स्त्री लिंग, पुरुष लिंग, नपुंसक लिंग नहीं और एक, दो, तीन, जो वचन व्यवहार है और अन्दर विकल्प उठता है, वह भी मैं नहीं। मैं तो जो हूँ सो हूँ। शुद्ध आनन्दकन्द हूँ। समझ में आया? आहाहा! २३।

येनात्मनाऽनुभुयेऽहमात्मनैवात्मनाऽऽत्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः॥ २३॥

पुरुष और नपुंसक... आहाहा! सगाई करे तब वहाँ लापसी खाये। करते हैं न? यहाँ तो कहते हैं, भगवान पूर्णानन्द का नाथ उसमें सगाई जोड़ दे। तुझे आनन्द की लापसी वहाँ से मिलेगी। जुगलजी! आहाहा! भाई! यहाँ जोड़-आत्मा में जोड़ और पर से तोड़। पर से जोड़ और आत्मा से तोड़ ऐसा तो अनादि से किया है। आहाहा! २३ है न?

टीका :- जो आत्मा द्वारा-चैतन्यस्वरूप द्वारा मैं अनुभव में आता हूँ... आहाहा! सम्यग्दृष्टि को—धर्मी जीव को... आहाहा! **जो आत्मा द्वारा-चैतन्यस्वरूप द्वारा मैं...** क्या कहते हैं? चैतन्यस्वरूप जो निर्मल पर्याय है, उसके द्वारा मैं अनुभव में आनेवाला हूँ। आहाहा! अरे! मार्ग तो मार्ग प्रभु का। समझ में आया? मैं **चैतन्यस्वरूप द्वारा मैं अनुभव में आता हूँ...** पहले तो यह सिद्धान्त कहा। धर्मीजीव ऐसा कहते हैं, जानते हैं। कहते हैं, वह भाषा है। मैं तो मेरी अनुभवक्रिया से जानने में आता हूँ। आहाहा! समझ में आया? यह तो चौथे गुणस्थान की बात है, हों! ऐसी निश्चय की

बात कितनों को नहीं रुचती। (कहते हैं), चौथे गुणस्थान में व्यवहार समकित होता है। अरे... भगवान! तुझे खबर नहीं है, भाई!

किससे? आत्मा से ही... चैतन्यस्वरूप द्वारा मैं अनुभव में आता हूँ-किससे? आत्मा से ही-अन्य किसी से नहीं;... आहाहा! गुण-गुणी के भेद का विकल्प उठता है उससे भी मैं जाननेवाला नहीं। मैं तो ज्ञान की प्रज्ञाछैनी से जाननेवाला हूँ। पर से भिन्न ज्ञान से मैं अनुभव में आनेवाला हूँ। आहाहा! व्यवहार की रुचिवाले को यह ऐसा लगे कि ये तो सब निश्चय (है)। भगवान! सत्य। निश्चय अर्थात् सत्य। परमसत्य को निश्चय कहते हैं। आरोपित उपचारिक बात को व्यवहार कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

चैतन्यस्वरूप द्वारा मैं अनुभव में आता हूँ-किससे? आत्मा से ही-अन्य किसी से नहीं;... विकल्प से, मन से, राग से, देव-गुरु-शास्त्र की वाणी से मैं अनुभव में आनेवाला नहीं हूँ। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो यह बात है, भगवान! लोगों को ऐसा लगे कि ये भक्ति करें, यात्रा करे सम्मेदशिखर की, शत्रुंजय की। यह शत्रुंजय करीब है। शत्रुंजय करीब है यहाँ से, १४ मील। समझे? शत्रुंजय-यह पालीताणा। १४ मील। वहाँ बहुत जाते हैं श्वेताम्बर। दिगम्बर भी जाते हैं। कच्छी बहुत हैं, कच्छी, हों! कारण कुछ भी हो। कच्छी बहुत आते हैं। यह देखने को। वहाँ बड़ी देखने की चीज़ है। देखने को बहुत आते हैं मुम्बई से कच्छी लोग। कोई कच्छी साधु वहाँ हो। बहुत कच्छी आते हैं। अरे भाई! यात्रा तो यहाँ है। तीर्थ यह है। चैतन्यमूर्ति आनन्द का नाथ, वह तीर्थ है। क्योंकि तिरने का उपाय उसमें पड़ा है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह तो निश्चय से।

पूज्य गुरुदेवश्री : निश्चय, वही सत्य है। वह तो उपचारिक बात है। है, कहा न। शुभराग है। परन्तु है तो वह धर्म है? और है तो क्या वह धर्म का कारण है? बिल्कुल नहीं। है सही। शुभभाव, भक्ति, यात्रा का व्यवहार आता है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि विकल्प से जाननेवाला मैं हूँ ही नहीं। आहाहा! तीन लोक के नाथ समवसरण में विराजमान, जिनको चौसठ इन्द्र चामर ढाले। समझ में आया? जिसको सौ-सौ इन्द्र, बाघ और सिंह, नाग जिसके समवसरण में सुनने को आते हैं। उस भगवान के दर्शन से और

भगवान की वाणी से भी आत्मा अनुभव में आता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! समझ में आया? वह कहते हैं, देखो!

किस कारण (साधन) द्वारा ? आत्मा द्वारा... मेरा साधन तो आत्मा है। आहाहा! **स्वसंवेदन स्वभाव द्वारा...** अपने ज्ञान से अपना प्रत्यक्ष वेदन, उसके द्वारा मैं अनुभव करनेयोग्य आत्मा हूँ। दूसरे से मैं अनुभव में (आऊँ), वह मेरी चीज़ नहीं है। ओहोहो! समझ में आया? **कहाँ ? आत्मा में-स्वस्वरूप में,...** आहाहा! **वह मैं हूँ-ऐसा स्वरूपवाला हूँ।** मैं तो आनन्दस्वरूप (हूँ)। मेरी शुद्ध परिणति से अन्दर जानेयोग्य हूँ। आहाहा! मेरे भगवान की भेंट निर्विकल्प—विकल्प से रहित परिणति से होता है। आहाहा! समझ में आया? मेरे प्रभु का दर्शन, मेरा परमात्मा... आहाहा! मेरे निर्विकल्पस्वरूप से मैं ज्ञान करनेवाला हूँ।

न तो मैं नपुंसक हूँ,... मैं हिंजड़ा, पावैया मैं नहीं। आहाहा! **न स्त्री हूँ, न पुरुष हूँ;...** पुरुष का शरीर और पुरुषवेद—दोनों मैं नहीं। आहाहा! समझ में आया? धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा का अनुभव करने में मानता है कि मैं तो वेदवाला नहीं। आहाहा! समझ में आया? **न पुरुष हूँ;...** भाई! पुरुष के शरीर से केवलज्ञान होता है। स्त्री के शरीर से होता है? तो कहते हैं कि नहीं, नहीं, भाई! पुरुष शरीर से नहीं होता। केवलज्ञान तो अपने शुद्ध स्वभाव के अवलम्बन से, शुद्ध परिणति से केवलज्ञान होता है। और वह परिणति भी एक ओर रहो। शुद्ध ध्रुव चैतन्य के आश्रय से मुझे केवलज्ञान होता है। स्वरूप की परिणति से भी नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें। ऐसा आये कि पहले संहनन चाहिए, मनुष्यदेह हो, पुरुष देह हो तो केवलज्ञान होता है। वह तो निमित्त हो ऐसा कहा। परन्तु उससे होता नहीं। आहाहा!

न मैं एक हूँ,... एक। वह तो विकल्प उठा। **न दो हूँ...** गुण-गुणी दो नहीं। **न मैं बहुत हूँ;...** अनन्त गुणवाला मैं हूँ, ऐसा बहुत नहीं, ऐसा विकल्प नहीं। आहाहा! स्वरूप एक है, ऐसा विकल्प मैं नहीं। गुण और गुणी दो है, ऐसा विकल्प मैं नहीं और अनन्त गुण मुझमें हैं, बहु-अनन्त गुण हैं, ऐसा विकल्प भी मेरे में नहीं है। आहाहा!

क्योंकि स्त्रीत्वादि धर्म हैं, वे तो कर्मोपादित देहस्वरूपवाले हैं। शरीर तो जड़

की आकृति है, मिट्टी। शरीर का लिंग और वेश शरीर का, सब मिट्टी जड़ की दशा है। वह मैं नहीं। और विषय वासना का विकल्प जो है, वह भी आस्रव और दु:खरूप है। मैं नहीं। मैं तो आनन्द का धाम, आनन्दस्वरूप मैं हूँ। आहाहा! समझ में आया? जहाँ मैं हूँ, वहाँ आनन्द है और जहाँ मैं नहीं हूँ, वहाँ आनन्द नहीं। स्त्री वेद, पुरुष वेद का विकल्प और शरीर में आनन्द नहीं। समझ में आया? ऐसा मार्ग पहले तो सुनने मिलता नहीं। जुगलजी! है? वह तो विद्वान व्यक्ति है। आहाहा!

दो आदि संख्या के विकल्पों का अभाव है। ऐसा धर्मात्मा अपने को मानते और जानते हैं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण १५, रविवार, दिनांक १२-१-१९७५, श्लोक-२३, प्रवचन-३३

२३ गाथा। समाधितन्त्र। भावार्थ। धर्म कैसे होता है? और धर्म होता है तो क्या होता है? समझ में आया? धर्म आत्मा आनन्दस्वरूप, आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत्-मौजूद, चिद्-ज्ञान और आनन्द स्वरूप उसका है। इस आनन्दस्वरूप का (लक्ष्य करके), पर से लक्ष्य छोड़कर... आहाहा! देह, अन्दर विकल्प जो राग उत्पन्न होता है विकार, उसका लक्ष्य छोड़कर त्रिकाल जो ध्रुव आनन्दकन्द प्रभु आत्मा है, उस ओर एकाग्र होकर आनन्द का वेदन करना, उसका नाम धर्म है। सूक्ष्म बात है। समझ में आया? है?

भावार्थ - मैं, स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा, स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप को, अपने आत्मा में अनुभवता हूँ अर्थात् मैं चैतन्यस्वरूप स्वसंवेदनगम्य हूँ। उसका अर्थ। वह तो भाषा हो गयी। उसका अर्थ क्या है? कि मैं। यह गुजराती है। कहाँ गये दूसरे आपके? समय पर आना चाहिए न। पीछे बैठे हैं। पाँच मिनिट हो गई। समझ में आया?

क्या कहते हैं कि जिसको आत्मज्ञान हुआ, वह शरीर, वाणी, मन से मैं पृथक् हूँ। शरीर वह तो जड़ है, मिट्टी धूल है पुद्गल। वाणी तो जड़ है। और उसमें जो पुण्य-पाप का विकल्प उठता है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना का राग और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का राग—दोनों विकार हैं। उससे मैं चीज़ भिन्न हूँ। ऐसी अन्तर में मैं, धर्मी जीव ऐसा जानता है कि मैं... हूँ है न? हूँ का अर्थ आपकी हिन्दी (में) मैं। मैं स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा। यह तो अध्यात्म बात है।

कहते हैं कि मैं स्व अर्थात् अपने ज्ञान द्वारा। ज्ञान की पर्याय जो अवस्था है, उसके द्वारा सं-पर का आश्रय छोड़कर स्व के आश्रय में स्वरूप का प्रत्यक्ष होना, उसका नाम सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन और आत्मानुभव है। अनन्त काल में किया नहीं। बाहर की प्रवृत्ति। शरीर की नहीं। शरीर तो जड़ है। उसकी प्रवृत्ति आत्मा कर सकता नहीं। अन्दर में पुण्य और पाप, शुभ और अशुभ विकल्प राग की प्रवृत्ति करता है और उसमें मुझे ठीक है ऐसा मानकर चौरासी के अवतार में भटकता है। आहाहा! चौरासी

के अवतार अनन्त बार, एक-एक योनि में अनन्त बार जन्मा-मरा। अपना स्वरूप चिदानन्दस्वभाव अखण्ड आनन्दकन्द प्रभु का आश्रय लेकर वेदन किये बिना पर के आश्रय से जो पुण्य-पाप भाव हुआ, वह संसार में भटकने का कारण है। आहाहा! युगलजी! ऐसी बात है। आहाहा!

नरसिंह मेहता कहते हैं न? नरसिंह मेहता। 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिह्नयो नहिं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी।' नवरंगभाई! नरसिंह मेहता ऐसा कहते हैं। 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिह्नयो नहि।' जब तक आत्मा का चिह्नयो अर्थात् अनुभव किया नहीं, आत्मा का पता न लेकर आनन्द का स्वाद लिया नहीं, तब तक चार गति में भटकता है। उसके बिना चाहे तो पूजा, भक्ति, व्रत, तप, नाम स्मरण करो, वह संसार का राग है। नवरंगभाई! आहाहा! ये संसार में वकालत, वकील है न? डॉक्टर है। डॉक्टर का। ये वकील भाईसाहब है। उसके समय में तीस साल पहले कोर्ट में दो सौ रुपये लेते थे, उस समय। उस समय में दो सौ, हों! अभी तो दो सौ की कीमत हो गयी बीस गुना। धूल थी। वह अज्ञान और मूर्खतापूर्ण बात थी।

भगवान आत्मा ज्ञान प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप। प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान और ब्रह्म अर्थात् आनन्द। आहाहा! उसका वह कायमी असली स्वरूप वह है। आहाहा! तो कहते हैं कि जिसको आत्मज्ञान हुआ, धर्मी हुआ तो धर्मी क्या करते हैं, कहते हैं? कोई क्रिया करते हैं? पूजा, भक्ति वह धर्म है? पूजा-भक्ति में तो शुभभाव पुण्य है और वह पुण्य संसार में भव का कारण है। आहाहा! समझ में आया?

मैं, स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा,... ओहो! मेरी चीज़ आनन्द और सच्चिदानन्दस्वरूप है। तो मैं मेरे ज्ञान द्वारा, कैसा ज्ञान? स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा। आहा! युगलजी! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा! कभी उसने आत्मा की दरकार की ही नहीं। ऐसे ही चौरासी के अवतार में मनुष्य होकर पशु में जाये, पशु होकर नरक में जाये, नरक से निकलकर पशु में जाये। ढ़ोर समझे? पशु। पशु में से कोई स्वर्ग में जाये। चार गति भटकने की है। दुःखी... दुःखी... दुःखी... समझ में आया? ये सेठिया कहो, राजा कहो, अरबोंपति कहो, देव कहो, वे सब दुःखी प्राणी हैं बेचारे। अपने आनन्दस्वरूप के भान बिना राग और

द्वेष का वेदन वह आकुलता और दुःख का वेदन है। वह दुःख का वेदन वर्तमान दुःख है और चार गति में भटकने का दुःख का वेदन कारण है। आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा सत् शाश्वत्, सत् शाश्वत ज्ञान-जाननशक्ति, आनन्द-सुखरूप शक्ति-गुण-स्वभाव—ऐसे ज्ञान द्वारा अन्तर में मैं मेरे स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा अपने **अपने आत्मस्वरूप को अपने आत्मा में...** मेरे स्वरूप को मेरे आत्मा में... आहाहा! **अनुभवता हूँ...** आहाहा! ज्ञानस्वरूपी प्रभु, प्रज्ञा-ज्ञान और आनन्द वर्तमान दशा राग से-विकल्प से भिन्न होकर... इतना तो ज्ञान होना चाहिए कि आत्मा क्या चीज है। उसमें शक्ति-सामर्थ्य-स्वभाव-गुण-सत् का सत्त्व स्वभाव क्या है? और विभाव क्या है? तो कहते हैं कि पहले ऐसा भान हुआ कि मैं तो पुण्य-पाप का विकल्प जो विभाव है, वह मैं नहीं। कहो, पोपटभाई! बहुत सूक्ष्म। निकाल देना? स्त्री, पुत्र को रखना कहाँ? वह तो उसमें है, उसमें है। यहाँ है?

अपना जो ज्ञान और आनन्द शुद्ध पवित्र स्वभाव वह अपने में है। उसको कभी उसने छोड़ा नहीं और परमार्थ से शुभ-अशुभ विकल्प जो पुण्य-पाप का है, उसको कभी ग्रहा नहीं। वस्तु स्वभाव है, वह राग को ग्रहता नहीं। आहाहा! अज्ञानभाव से मानता है कि मैं पुण्यवान हूँ, मैं दयावान हूँ, मैंने पुण्य किया, मैंने पाप किया—ऐसा अज्ञान से ऐसी दशा में मानता है और चार गति में मान्यता के फल में भटकता है। आहाहा! ये सब पैसेवाले को सुखी कहते हैं न?

मुमुक्षु : सुखी हो तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : आये। करोड़पति है।

मुमुक्षु : .... यहाँ क्यों आवे?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्यों आवे? ऐसा कहते हैं। वहाँ सुख हो तो यहाँ क्यों आये? ऐसा कहते हैं धूल में भी सुख नहीं है। सुख तो पुण्य-पाप के भाव में नहीं है, तो परवस्तु में सुख कहाँ से आया? अपनी चीज़ जो आनन्दमय चीज़ है उसको छोड़कर, अपना सच्चिदानन्द आनन्द और ज्ञान, अपना स्वभाव छोड़कर क्या राग में रहते हैं? वह स्वभाव क्या पर में रहता है कि पर से सुख मिले? आहाहा!

आत्मा अन्दर आनन्दस्वरूप परमात्मस्वरूप ही है। भगवान पूर्णानन्दस्वरूप ही आत्मा है। उसको धर्मी जीव मैं मेरा। है न? और आत्मा में। **अपने आत्मस्वरूप को अपने आत्मा में...** आहाहा! मेरा शुद्ध आनन्द ज्ञानस्वरूप में, मेरे आत्मा में, मेरे स्वस्वभाव में अनुभवता हूँ। आहाहा! उसका नाम धर्म कहते हैं। समझ में आया? वह जन्म-मरण अटकने का पंथ है। सुख, आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति का यह उपाय है। और उस आनन्द की प्राप्ति हुई तो उसके जन्म-मरण का अन्त आया। समझ में आया? वरना चौरासी लाख में अवतार करते-करते मर गया, अनन्त अवतार में। आत्मा कोई नया है? वह तो अनादि का है। कहाँ रहा? आनन्द में है? मोक्ष में गया? चार गति में भटका है अनादि काल से। आहाहा!

तो कहते हैं कि धर्मी, मैं तो अपने आत्मस्वरूप को अपने आत्मा में अनुभवता हूँ। **मैं चैतन्यस्वरूप स्वसंवेदनगम्य हूँ।** आहाहा! मैं तो मेरा ज्ञान, निर्विकल्प जो ज्ञान, उससे मैं गम्य हूँ, उससे मैं जानने में आता हूँ। राग से या निमित्त से या शास्त्र से या देव-गुरु से मैं अनुभव में आनेवाला नहीं हूँ। आहाहा! ऐसी बात। फुरसत कहाँ है लोगों को भटकने पीछे। यह समझना, विचारना, अनुभवना।

कहते हैं मैं तो मेरा स्वरूप चैतन्यस्वरूप मैं तो (हूँ)। चैतन्य अर्थात् जागृत स्वभाव, ज्ञायकस्वभाव, प्रज्ञास्वभाव। चैतन्य जानना-देखना ऐसा मेरा स्वभाव। वह मैं हूँ। **चैतन्यस्वरूप स्वसंवेदनगम्य हूँ।** अपनी चैतन्य की निर्मलदशा में मैं जानने में आनेवाला हूँ। कोई राग से-विकल्प से, व्यवहार से, निमित्त से जानने में आऊँ, ऐसा मैं हूँ नहीं। ऐसा बड़ा कठिन (मार्ग है), भाई!

हरिजन को बीड़ी मिली हो। बीड़ी चाहिए हरिजन को। ऐ... दादा! एक बीड़ी देना। धर्म होगा। बड़ा धर्म, भाई! बीड़ी एक दो, धर्म होगा। ये हरिजन होते हैं न? और ऐसे दो-चार ठूंठे मिल जाये, नीचे पड़े होते हैं न? किसी ने पीकर फेंक दिये हों। ऐसे दो-चार मिले हो। ऐ... दादा! एक दियासलाई दो, धर्म होगा। बड़ा धर्म, भाई! पोपटभाई! एक पाँच-पच्चीस रुपये दो हमको। जाना है बहुत दूर। गरीब आदमी हूँ। तुम्हें धर्म होगा। धूल में भी धर्म नहीं है, सुन तो सही। आहाहा! करोड़ों रुपये कदाचित् पास में

हो तो वह तो जड़ है। मेरा माननेवाला तो मूढ़ है। भगवान चैतन्यस्वरूप जड़ को मेरा माने... समझ में आया? मूढ़ता है।

यहाँ तो कहते हैं कि मैं रागरूप भी नहीं हूँ। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि होते हैं, भगवान का स्मरण, वह सब राग का-विकल्प का उत्थान है। राग मेरा स्वरूप नहीं। आहाहा! मैं तो रागरहित मेरी ज्ञानदशा द्वारा मेरे को मैं चैतन्य को स्वसंवेदन से अनुभवता हूँ। आहाहा! जगत को कठिन लगे। डॉक्टर-बॉक्टर कुछ पन्द्रह दिन सेवा करने जाये बड़े में... क्या कहते हैं? ओनररी। हेतु तो दूसरा होता है। प्रसिद्धि होने के बाद अपना चले। परन्तु ओनररी करता है ऐसा कहकर... उसमें धूल में भी ओनररी नहीं है वहाँ। राग और विकार का भाव है। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, मैं तो प्रभु। प्रभु अर्थात् मेरी प्रभुता, मेरी ईश्वरता और मेरा बड़प्पन आनन्द और ज्ञान से है। राग और पुण्य से मेरा बड़प्पन है नहीं। आहाहा! उसमें मैं मेरे ज्ञान द्वारा। ज्ञान अर्थात् यह शास्त्र का ज्ञान या बाह्य वकालत या डॉक्टर का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं; वह तो अज्ञान है। आहाहा! अन्तर ज्ञानस्वरूप जो प्रभु आत्मा, उसमें से ज्ञान की दशा निर्मल होकर अपने स्वरूप का वेदन करे, वह मैं हूँ। धर्मी ऐसे अस्तित्व को अपना मानते हैं। आहाहा! ऐसा धर्म कैसा?

उसमें स्त्री-पुरुषादि लिंग का... यह स्त्री का शरीर और पुरुष का शरीर, वह मेरे में है ही नहीं। वह तो जड़ में है—मिट्टी में। लिंग है, वह तो जड़ का मिट्टी का—धूल का है। स्त्री का शरीर, पुरुष का शरीर, पावैया-हिंजड़ा का शरीर, वह तो मिट्टी जड़ है। तो धर्मी कहते हैं कि मेरे में स्त्री का शरीरादि है नहीं। वह तो नहीं है, परन्तु स्त्री, पुरुष, नपुंसक की वासना वेद की उठती है, वह मेरी चीज़ में नहीं है। मेरे स्वरूप में तो ज्ञान और आनन्द पड़ा है। आहाहा! समझ में आया?

स्त्री-पुरुषादि लिंग का तथा एक, दो आदि संख्या... एक, दो, तीन, चार, पाँच ऐसा नहीं करते? वह तो विकल्प उठते हैं। एक, दो, तीन, चार, पाँच। ऐसा कहते हैं न? एक, दो, तीन। वह एक, दो, तीन तो विकल्प है। संख्या भाषा बोलते हैं, वह तो जड़ है। अन्दर जो एक, दो, तीन (संख्या ऐसा जो) वृत्ति का उत्थान होता है वृत्ति का,

वह तो राग है। अन्तर्जल्प है। वाणी में बहिर्जल्प है। एक, दो, तीन ऐसा विकल्प उठे, वह अन्तर्जल्प है। वह आत्मा नहीं। आहाहा! समझ में आया? आत्मा में हो तो आत्मा से भिन्न न हो। और भिन्न हो जाये वह आत्मा की चीज़ नहीं। राग और विकल्प और शरीर वह भिन्न हो जाते हैं, भिन्न हो जाता है, वह आत्मा की चीज़ नहीं। आहाहा! ये **लिंग और संख्या के विकल्पों का अभाव है।** मेरी चीज़ में तो एक मैं हूँ। एक स्वरूपी हूँ। गुण-गुणी से दो स्वरूप हूँ, ऐसा जो अन्तर्जल्प अर्थात् विकल्प अर्थात् राग का अंश वेदन में (आता है), वह मैं नहीं। आहाहा! समझ में आया?

अन्तरात्मा विचारता है कि... अन्तरात्मा विचारता है। उसका अर्थ। अन्तरात्मा— जो आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, उसका बोध हुआ अन्तर में, उसको अन्तरात्मा कहते हैं। और जो राग, पुण्य, पाप और फल जो संयोगी चीज़ (प्राप्त है), वह मेरी है, ऐसा मानता है। वह अन्दर में है नहीं और मेरा मानता है, तो वह बहिरात्मा है। बहिरात्मा मूढ़ है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा। ऐसी आत्मा की तीन दशा है। राग का विकल्प, शरीरादि मैं हूँ। जो विकल्प राग है, वह स्वरूप में नहीं है। स्वरूप में हो तो भिन्न नहीं हो। राग का विकल्प दया, दान, पुण्य, शुभभाव वह मेरा है। उसमें तो है नहीं। उसमें तो ज्ञान और आनन्द है। तो जिसमें जो स्वभाव है, ऐसा तो माना नहीं। जो भाव नहीं है, उसको अपना माना, वह बहिरात्मा है, वह मूर्ख आत्मा है। आत्मा मूर्ख होता है?

मुमुक्षु : पढ़ा-लिखा न हो, वह मूर्ख कहलाये। ये पढ़ा-लिखा हो.... फिर भी?

पूज्य गुरुदेवश्री : पढ़ा-लिखा हो, वकालत पढ़ा हो... न पढ़ा हो, वह मूर्ख कहलाता है। यहाँ तो यह बड़ा मूर्ख कहलाता है। समझ में आया?

जो विकल्प दया, दान, व्रत, भक्ति और काम, क्रोध, ऐसी जो वृत्तियाँ उठती हैं, वह स्वरूप में नहीं। नयी उत्पन्न करते हैं। और उत्पन्न करते हैं तो वह मेरी है, ऐसा माननेवाला, उसमें नहीं है उसको (मेरा है, ऐसा) माननेवाला बहिरात्मा है। आहाहा! क्या करना फिर? हम धन्धा करना, कमाना, स्त्री-पुत्र को (प्रसन्न रखना)....

मुमुक्षु : हमें खड़ा कहाँ रहना, वह तो बताओ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वही बात तो चलती है। जहाँ तेरा स्वभाव, वहाँ तुझे खड़ा रहना है। आहाहा! जवान लोग कमाये या ये करे? कमाना मतलब क्या? पैसा आता है, वह पुरुषार्थ करता है इसलिए आता है? पुरुषार्थ तो राग का है।

मुमुक्षु : उसका उपाय?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा पूर्व पुण्य के निमित्त से पैसा आता है। उसके बुद्धिबल से, राग के बल से पैसा आता है? बहुत पैसेवाले होते हैं, वह बुद्धि का बारदान होता है। बारदान समझे? खोखा। खाली खोखा बुद्धि का हो। अरबोंपति। और बुद्धि का खां हो, महीने, दो हजार पैदा करने में पसीना छूट जाता हो। वह तो पुण्य-पाप की ... है। पूर्व का पुण्य-पाप है, उससे संयोग होता है। आत्मा वर्तमान पुरुषार्थ करे कि मैं कमाऊँ, इसलिए पैसे आते हैं, (ऐसा है नहीं)। नवरंगभाई! क्या होगा? अब तो लड़के को सौंपा है न? कहो, समझ में आया? आहाहा!

भगवान! एक रजकण भी लाना और छोड़ना वह आत्मा के अधिकार की बात है नहीं। वह तो जड़ है, मिट्टी है। पैसा वह मिट्टी है, धूल है, वह अजीवतत्त्व है, अजीवस्वरूप है। अजीवस्वरूप जीवस्वरूप में कैसे आया? और जीवस्वरूप ने अजीवतत्त्व को कैसे प्राप्त किया? आहाहा!

मुमुक्षु : धर्म तो अनेकान्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या अनेकान्त है?

मुमुक्षु : सूक्ष्म .... और स्थूल को पकड़ना।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक जन कहता था। बहुत वर्ष पहले की बात है। सुमनभाई थे न? सुमनभाई नहीं? वहाँ है न मुम्बई में? ऐसो में। अब तो सरकार ने ले लिया। आठ हजार का एक महीने का वेतन है। उसका बेटा मुम्बई में है। तो पहले यहाँ मित्र थे। वह और भाई कौन? जज। अहमदाबाद में जज है न कनुभाई? कनुभाई जज हैं यहाँ के। हम यहाँ पहले मकान में रहते थे न? हीराभाई के मकान में। वह उसका मकान है। कनुभाई जज है अहमदाबाद में। वह सब जवान लोगों की टोली होती है, दोस्तों की। बहुत साल हुए।

मुमुक्षु : एक मण्डल किया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : मण्डल किया था। बहुत वर्ष हो गये, हाँ! २५ वर्ष, ३० वर्ष। फिर वह मण्डल एक बार वहाँ गया था। यहाँ सुनते थे। पालीताणा। रामविजय वहाँ थे। रामविजय के गुरु वहाँ थे। उन्होंने यहाँ का सुना हो न? वहाँ पूछा कि महाराज! आत्मा पर का कर सके? (तो उसने कहा), शरीर का कर सके (स्थूल का) काम कर सके। सूक्ष्म परमाणु का काम कर सके नहीं। सूक्ष्म परमाणु का कर सके नहीं। स्थूल का कर सके। ये जैन के आचार्य! सूक्ष्म है परमाणु सूक्ष्म, जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है, उसका न कर सके। परन्तु स्थूल है, उसका तो कर सकता है। ऐसा होता है, करता है या नहीं? धूल में भी नहीं (कर सकता)। सुन तो सही। ऐसा होता है, वह तो परमाणु रजकण नित्य रहकर उसकी अवस्था रूपान्तर होती है, वह विशेषपने पर्याय (होती है)। सामान्य जो परमाणु है, उसकी अवस्था है। आत्मा कर सके नहीं। ... समझ में आया? जड़ की अवस्था जड़ से होती है। चाहे तो स्थूल हो या सूक्ष्म हो। जो भगवान आत्मा से भिन्न तत्त्व है, भिन्न तत्त्व का भिन्न कैसे करे? समझ में आया? उसने कहा, सूक्ष्म का न कर सके। स्थूल का कर सके। रामविजय है, श्वेताम्बर। ऐसा है जगत का उल्टा। नाम धरावे आचार्य साधु। अभी तो श्रद्धा का ठिकाना नहीं। इसका कर सके।

उसने भी ऐसा कहा था न? भाई था न? चिमनलाल चकु। चिमन चकु है न? वकील वहाँ मुम्बई में। चिमनलाल सोलिसीटर। मालूम है न। यहाँ एक महीना रहे थे। (संवत्) १९९७ का वर्ष था। यह मन्दिर हुआ न? तब एक महीना रहे थे। एक बार ऐसी बात निकली तो उसने ऐसा कहा कि जड़ का कुछ कर सकता नहीं। लो, यह किया। क्यों न कर सके? भगवान! उसमें भूल गया तू। उस समय तो मैंने दृष्टान्त दिया था।

एक करोड़पति आदमी था। करोड़पति गृहस्थ। उसको लड़का हुआ ६० साल की उम्र में। बेटा हुआ तो... राजा का क्या कहते हैं? अच्छे-अच्छे लोग आते हैं न। आपके यहाँ बेटा हुआ तो बहुत अच्छ हुआ। राजा आया। ओहो! बहुत अच्छा! ६० वर्ष की उम्र में आप पैसेवाले करोड़पति। परन्तु देखने से राजा को ऐसा हुआ। और सुबह

जल्दी आया। चार दिन .. ओहो! लड़का बहुत कोमल है। सेठ! मेरी इच्छा अभी ऐसी हुई है कि उसके टुकड़े करके घी में तलकर खाने का भाव हुआ है। राजा कहता है। सेठ था नास्तिक। परलोक को मानता नहीं था। अरे! राजा ये क्या? क्यों? क्या हुआ? पाप है। पाप करे तो दुःख होता है। राजा कहता है। हम तो खाते हैं तो क्षुधा मिट जाती है। कहाँ से पाप आया तुम्हारा? ... करके खायेंगे तो क्षुधा मिट जायेगी। दुःख मिट जायेगा। और तुम कहते हो कि पाप है। पाप से दुःख मिटे? वह कहे नहीं... नहीं... नहीं... ऐसा नहीं। कुछ दूसरा लो। क्षुधा मिटती है उसमें कोई चीज़ दूसरी है। क्षुधा मिटती है तो पूर्व पुण्य का उदय है तो उसके कारण से क्षुधा मिटती है। वर्तमान में जो पाप का परिणाम किया उसका फल तो तुझे भविष्य में भोगना पड़ेगा। अभी भी दुःख है और भविष्य में भी दुःख है। ऐसा ... नहीं करके वर्तमान पाप किया, मेरी क्षुधा मिट गई माँस खाने से, ऐसा होता नहीं। न्याय को तुम समझते नहीं। समझ में आया?

क्षुधा मिटी वह तो पूर्व साता का उदय है तो माँस खाने से हजम हो जाता है। और साता उदय न हो तो मोसम्बी पानी डाले तो निकल जाते हैं। अपने ये राजपालजी को हुआ था न। राजपालजी थे। मोसम्बी यहाँ डाली। मरने की तैयारी थी। यहाँ निकल गयी। मोसम्बी निकल गयी। सडेडाट। भगवान! वह मोसम्बी पानी का रजकण आना और उसमें हजम होना उसमें तो ... वेदना साता हो तो निमित्त पड़े-पचता है। समझ में आया? और हजम न हो तो पूर्व का असाता का उदय हो तो पानी भी हजम न हो। डॉक्टर को ये सब होता है न। पानी न हजम हो, पानी। आहाहा! और माँस हजम हो जाये। भाई! माँस हजम होता है, उसमें साता, पूर्व साता का उदय है तो हजम होता है। वर्तमान में जो पाप का भाव हुआ, उससे क्षुधा मिट गई, ऐसा है नहीं। परन्तु ऐसा ... ? हमने खाया तो मिट गया। खाया तो मिट गया। मूढ़ है। समझ में आया?

ऐसे, हाथ से किया, क्या किया था खबर है उसमें? आत्मा में क्या होता है? जड़ में क्या होता है? वह तेरा आत्मा को खबर है अन्दर? आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। करे तो इच्छा करे। परन्तु इच्छा तो अपने अस्तित्व में रही। और शरीर के अस्तित्व में तो ऐसा हुआ। जड़ के अस्तित्व में इच्छा का प्रवेश तो हुआ नहीं। इच्छा ... शरीर हुआ है। लॉजिक से बात है। पण्डितजी! आहाहा!

भाई! ऐसा है नहीं। तुझे खबर नहीं। आहाहा! समझ में आया? कसाईखाना नहीं करते? अमेरिका में नहीं है एक? डेढ़ मील में कारखाना है। डेढ़ मील में। चाँदी की कुर्सी पर बैठे। तो क्या वह पाप करता है, उसका फल है ये? भाई! तुझे खबर नहीं। पूर्व का कोई ऐसा साता पुण्य बँधा हो। उस समय उसके फल में तेरे पास पैसे आते हैं। वर्तमान जो माँसादि कत्लखाना करता हैं, ऐसा भाव, ऐसे संयोग में रखेगा तो तू चिल्लाने लगेगा। हाय... हाय..! नरक गति है तेरी। समझ में आया?

एक मनुष्य को मारे और कोर्ट में गवाह मिले। कोर्ट में गवाह न मिले और बच जाये वकील के द्वारा, वह दूसरी बात है। परन्तु पड़े तो उसको एक बार फाँसी दे। तो एक आदमी को मारकर फाँसी है। और उसने कबूल किया मैंने हजार लोगों को मारा है। पूरे गाँव को जला दिया। ... तो उसको राजा क्या करे? हजार बार फाँसी दे? एक को मारने का फल फाँसी और हजार लोगों को मारे तो भी फाँसी? कुदरत में ऐसा नियम है? भगवान! तुझे खबर नहीं है। ... २५ आदमी या हजार लोगों को मारा ऐसा भाव, जितना तूने पर को प्रतिकूलता दी है, ऐसा भाव (है, तो), ऐसी जहाँ प्रतिकूलता है, वहाँ वह जन्मेगा। वह नरक स्थान है। लॉजिक से न्याय समझ में आया? तूने जितनी प्रतिकूलता दी, उतनी प्रतिकूलता जिस स्थान में है, वहाँ जन्म लेगा। वर्तमान में भले चाँदी और सोने की कुर्सी पर बैठे। वह मर जायेगा वहाँ। कुदरत में कुछ फेरफार होता नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ कहते हैं... आहाहा! मेरे में तो शरीरादि कुछ है नहीं। आहाहा! **जीव में स्त्री-पुरुषादि का व्यवहार, केवल शरीर के कारण है।** ये शरीर स्त्री का, ये शरीर पुरुष का, वह तो जड़ की बात है। वह तो जड़ का स्थान है। वह कोई आत्मा की चीज़ है? आहाहा! उसका अस्तित्व—जड़ का अस्तित्व-सत्ता-जड़ में है। आत्मा का अस्तित्व आत्मा में है। आत्मा के अस्तित्व में जड़ का अस्तित्व है नहीं और जड़ के अस्तित्व में आत्मा का अस्तित्व नहीं है। स्पष्ट बात है। समझ में आया? म्यान और तलवार भिन्न हैं। म्यान और तलवार भिन्न हैं। यह (शरीर) म्यान है। आत्मा तलवार है। दोनों भिन्न चीज़ हैं। तो आत्मा का शरीर है (और आत्मा) स्त्री-पुरुष है, ऐसा है नहीं। आहाहा!

बहुवचन का व्यवहार भी..., एक दो और बहुवचन का व्यवहार भी शरीराश्रित है। लिंग का (व्यवहार) भी शरीराश्रित है। एक, दो, तीन, चार ऐसी भाषा बोलना और विकल्प उठाना, वह भी शरीराश्रित—पर आश्रित है। **जबकि शरीर मेरा रूप ही नहीं है और मेरा शुद्धस्वरूप निर्विकल्प है...** परमात्मा अपना चैतन्यस्वरूप शुद्ध पवित्र ऐसा मैं हूँ। ऐसा निर्विकल्प हूँ। विकल्प-राग का भेद भी मेरे में नहीं। मैं तो अभेद अखण्डानन्द प्रभु... आहाहा! पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान वस्तु (हूँ)। वस्तु में अपूर्णता कहाँ? वस्तु में विपरीतता कहाँ? वस्तु जो आत्मा भगवान है, वह परिपूर्ण ज्ञान, आनन्द से भरा है। कैसे बैठे? कुछ खबर नहीं। समझ में आया?

शरीर मेरा रूप ही नहीं है और मेरा शुद्धस्वरूप निर्विकल्प है,... तो मेरे में लिंगभेद (अर्थात्) स्त्री-पुरुष-नपुंसक—ऐसे भेद मेरे में है नहीं। एक, दो, तीन—ऐसा विचार विकल्प भी मेरे में नहीं। घट सकता नहीं। **यह स्त्रीत्वादि धर्म तो कर्मोपादित देह का स्वरूप है,...** जड़ का स्वरूप है। **मेरा स्वरूप नहीं। मेरा चैतन्यस्वरूप तो इन सबसे पर (भिन्न) है।** सबसे पर है।

विशेष :- साधारण यह तो गुजराती भाषा में किया है। **आत्मा, शुद्ध आनन्दस्वभावी है,...** वस्तु है, वह दुःखरूप होती नहीं। दुःख तो विकृत है। राग-द्वेष, पुण्य-पाप का विकल्प जो है, वह दुःखरूप है। वस्तु दुःखरूप हो सके नहीं। वस्तु है वह तो आनन्द और सुखरूप ही है। परन्तु पर को मेरा माना है, इसलिए दुःखरूप दशा-विकृत अवस्था उत्पन्न होती है। वह अवस्था मेरे में नहीं है। मैं तो शुद्ध आनन्दस्वभावी हूँ। आहाहा! मैं जो आत्मा हूँ, **'मैं'** ऐसी जो विकल्प की आवाज आती है, उसके पीछे मैं वस्तु (हूँ)। आहाहा! वह तो शुद्ध आनन्दस्वभावी है। समझ में आया? अतीन्द्रिय आनन्दस्वभावी वस्तु है।

एक है—ऐसा रागमिश्रित विचार भी स्वभाव में नहीं है। गुण-गुणी के रूप से दो है... वह भी मैं नहीं। मैं तो एक हूँ। आहाहा! आनन्द और ज्ञानगुण और मैं उसका धरनेवाला गुणी, ऐसा भेद मेरे में नहीं है। समझ में आया? ऐसा भेद स्वरूप में नहीं है। आहाहा! विकल्प नहीं, शरीर नहीं, वाणी नहीं, लिंग नहीं। इसलिए कहते हैं कि

रागमिश्रित विचार भी स्वभाव में नहीं है। गुण-गुणी के रूप से दो है... गुण ज्ञान, दर्शन और वस्तु गुणी ज्ञानदर्शनवान। जैसे शक्कर, मीठापन और श्वेतता गुण। और उस गुणवाला शक्कर गुणी। ऐसा भेद मेरे में नहीं। मैं ज्ञान, दर्शन और ज्ञान, दर्शन का धरनेवाला मैं, ऐसा भेद नहीं। मैं तो ज्ञान दर्शन स्वरूप ही हूँ। आहाहा! बहुत कठिन, भाई! समझ में आया? दो है।

ज्ञान-दर्शन के उपयोग से दो है—ऐसा भेद स्वरूप में नहीं है। आहाहा! एकरूप चैतन्य है। वीतरागस्वरूप से विराजमान शुद्ध निर्विकल्प अभेद चीज़ आत्मा, उसमें वह चीज़ है नहीं। आत्मा का शुद्ध स्वरूप अभेद है। अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि शक्ति-गुण, मैं तो गुण को धरनेवाला आत्मा, आत्मा आधार और ज्ञान-दर्शन आधेय, ऐसा भेद भी नहीं है। आहाहा! समझ में आया या नहीं? भाषा तो सादी है। भाव भले सूक्ष्म हो। भाषा ऐसी कोई कठिन संस्कृत, व्याकरण ऐसा कुछ नहीं है। यहाँ तो सादी भाषा है। आहाहा!

क्या कहते हैं? फिर से। मैं जो आत्मा हूँ, वह शरीर से तो भिन्न, वाणी से भिन्न, लिंग से भिन्न, विकल्प वाणी एक, दो, तीन बोलना उससे भिन्न। परन्तु मुझमें रागमिश्रित विचार होता है, उससे भी मैं भिन्न हूँ। वह मेरे में नहीं है। और मैं गुणी और गुण, ऐसा दो भेद भी उसमें नहीं। शक्कर, मीठापन और श्वेतता से भरा हुआ पदार्थ है। शक्कर आधार, मीठापन और श्वेतता आधेय, ऐसा भेद है नहीं। आहाहा!

मार्ग बापू! यह है। उसके सुख का पंथ बहुत कठिन है। ये तो दुःख का पंथ लेकर पड़े हैं। ये व्रत, तप, भक्ति, पूजा वह सब दुःख का पंथ है। शुभराग है न। आता है। जब तक वीतराग न हो, तब तक ज्ञानी को भी ऐसा भाव आता है। पर है तो दुःखरूप। आहाहा! बड़ा कठिन मार्ग, प्रभु! तेरी चीज़ कोई अलौकिक है।

कहते हैं कि यह भेद मेरे में नहीं। मैं तो शुद्ध अभेद आत्मा हूँ। शुद्ध चैतन्यघन मेरा अस्तित्व है, मेरे अस्तित्व में भेद नहीं। अभेद चिदानन्दस्वरूप हूँ। आहाहा! **गुण-गुणी के भेदरहित है। उसमें लिंगभेद, वचनभेद, विकल्पभेदादि कुछ भी नहीं है।**

यहाँ आचार्य का लक्ष्य, अभेद-अखण्ड आत्मा के स्वरूप पर है;... मुनि कहते हैं न? मैं ऐसा हूँ। भगवान अभेद है। एक आत्मा, हों! सब आत्मा मिलकर नहीं। एक

आत्मा अभेद है। राग नहीं है स्वरूप में, शरीर-वाणी-मन नहीं, रागमिश्रित विचार नहीं परन्तु गुण-गुणी का भेद स्वरूप में नहीं है। ... विकल्प से उठाता है। तो ऐसा अभेद मैं अखण्ड आत्मा के स्वरूप में धर्मी की दृष्टि है। आचार्य अपना कहते हैं न? मैं ऐसा हूँ। समझ में आया? कहते हैं, उस समय तो विकल्प है, वृत्ति है। बोलते हैं, तब तो विकल्प है। परन्तु मैं वह नहीं हूँ। आहाहा! मैं तो अखण्ड अभेद चिदानन्दस्वरूप, सच्चिदानन्द सत् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द, आनन्द और ज्ञानवाला, ऐसा भी नहीं। मैं आत्मा ज्ञान और आनन्दवाला, यह भेद हो गया। मैं तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप ही हूँ। आहाहा! भारी कठिन बात, भाई! बालक को भी समझ में आये ऐसी बात है, हों! बालक तो शरीर है। आत्मा कहाँ बालक है? क्यों? आहाहा!

बहुत रुचिवाला लड़का है। कलकत्ता में भाषण दिया। पूरे मण्डल को इकट्ठा करके। पूरा मण्डल। भाई! तुम पढ़ो। व्याख्यान दिया। उसके दादा हैं। हुण्डी का धन्धा है कलकत्ता से। बहुत लाख रुपये। ... निकला। लड़का कहता है कि मुझे शादी नहीं करनी है। मैं धन्धा नहीं करूँगा। ... ब्याज का धन्धा है उसके पिताजी का। पैसे ... है। आहाहा! इतना तो वैराग्य है तो दादा आदि सबको अनुमोदन देना पड़ेगा। उससे पूछना नहीं कि तू क्या धन्धा करेगा? कहाँ गया? तेरा भाई है न अश्विन? आज साथ में आया था। मोटर में आया था। फिर कहा था। मैं भाई को साथ दूँगा। भाई निवृत्ति ले। छोटा भाई। ये सत्रह वर्ष का, वह पन्द्रह वर्ष का। तीन भाई हैं। उसके दादा यहाँ आते हैं। सोसायटी में दो ब्लॉक हैं। यहाँ रहते हैं। उसको मैंने आज कहा, हाँ! उसको कहा, अनुमोदन देना। आज साथ में आया था न? मोटर में। ... मोटर। आहाहा! निवृत्ति लेनी। तुम्हें भी निवृत्ति लेनी पड़ेगी। ऐसा नहीं है कि ये धन्धा न करे तो बोझा हुआ। बोझा नहीं। पुण्य अनुसार मिलेगा। धन्धा न करे तो क्या हुआ? उसकी निवृत्ति लेते हैं वह तो। ... समझ में आया? ना कहता है। शादी नहीं, शादी नहीं करनी। ऐसा वैराग्य है। १७ वर्ष का हुआ। १७ वर्ष, हाँ! उसको तो कन्या बहुत लाखोंपति भी दे। गृहस्थ है। ... बापू! इतना वैराग्य में अपना करना। इस मनुष्यदेह में नहीं करेगा तो कब करेगा? बापू! आहाहा! आँख बन्द होगी तो कहाँ चला जायेगा। कहाँ अवतार (होगा)? मिथ्याश्रद्धा, विपरीत मान्यता में रहनेवाला, बवण्डर में तिनका उड़ता है, वह कहाँ

जाकर गिरेगा? ऐसे जिसको तत्त्वदृष्टि का भान नहीं है, विपरीत मान्यता में पड़ा है, वह बवण्डर की तरह। वंटोळिया समझते हो? बबूला। ... उड़ता है। तिनका उड़कर कहाँ जाकर गिरेगा? आहाहा! ऐसे जिसको आत्मा क्या चीज़ है (ऐसी) आत्मा की सत्ता दृष्टि में आयी नहीं। 'यह मैं हूँ' ऐसा आया नहीं, 'यह रागादि मैं हूँ' ऐसा आया, तो राग में भटकेगा चार गति में। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है, भगवान! **उसमें लिंगभेद, वचनभेद, विकल्पभेदादि कुछ भी नहीं है।**

यहाँ आचार्य का लक्ष्य, अभेद-अखण्ड आत्मा के स्वरूप पर है; इसलिए उन्होंने कहा है कि वास्तव में आत्मा को स्त्री, पुरुष, नपुंसकादि अवस्था में नहीं हैं;... वह दशा नहीं है। **गुणों के भेदरूप और कारकों के भेदरूप कल्पना नहीं है।** ये ज्यादा डाला। अर्थात् क्या कहते हैं? उसमें आया न? भाई! आत्मा और आत्मा द्वारा। शब्द आया है न पाठ में। पाठ में आया था न? '**येनात्मनाऽहमात्मनैवात्मनात्मनि।**' तीन बोल आये न? इसलिए कहते हैं कि आत्मा... मूल पाठ में आया है। संस्कृत है न?

येनात्मनाऽहमात्मनैवात्मनात्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैका न द्वौ न वा बहुः ॥२३॥

यह तो मन्त्र हैं, भैया! कहते हैं कि मैं आत्मा, आत्मा से, आत्मा द्वारा, आत्मा में, आत्मा के आधार से, आत्मा के अपादान से और काम करके मैं रखता हूँ। ऐसा कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण—ऐसे छह बोल का भेद मेरे में नहीं है। आता है न? पाठ में है। आया है वहाँ। ७३ गाथा है न? समयसार, ७३ गाथा।

आत्मा ज्ञान की पर्याय का कर्ता, वह पर्याय उसका कार्य। निर्मल, हों! रागादि नहीं। मैं शुद्ध भगवान आत्मा ऐसा अनुभव होने पर, जो निर्मल पर्याय धर्म की-शान्ति की हुई, वह मैं कर्ता, वह मेरा कार्य। कर्ता-कर्म। उसका मैं साधन, उसकी क्रिया करके मैंने रखी, उससे हुआ, उसके आधार से हुआ। ऐसे छह भेद भी मेरे में नहीं हैं। आहाहा! सूक्ष्म है, भाई! यह धर्म ऐसे ही कोई साधारण बालगोपाल कर ले, ऐसा नहीं है। आहाहा! पाठ है न? तीन बोल। इसलिए उसने कारक डाले। तीन बोल है न। अन्दर ऐसा कहा न कि **आत्मस्वरूप को अपने आत्मा में... स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप को अपने आत्मा**

में... ऐसे कारक आये न तीन? तो कहते हैं, इतने कारक का भेद भी मेरी चीज़ में नहीं हैं। आहाहा! **आत्मा में...** आत्मा को, आत्मा से... आहाहा! बड़ी कठिन बात, बापू!

चैतन्य ज्ञानानन्दस्वभाव... और जिसका स्वभाव है, वह तो परिपूर्ण ही होता है। और स्वभाव है, वह तो शुद्ध ही-पवित्र ही होता है। तो उस पवित्र का स्वभाव में साधन करनेवाला और साधन मैंने किया, साधन करके मैंने रखा, साधन से मैंने बनाया साधन, अपने से साधन बनाया और अपने आधार से साधन मैंने किया—ऐसे छह भेद वस्तु की अनुभूति से भिन्न हैं। कहाँ पहुँचना है, कहाँ जाना है! आहाहा! समझ में आया?

मैं कर्ता मैं किन्हीं कैसी,
अब यौं करो कहौ जो ऐसी। (बन्ध द्वार-२४)

ये भाव उसमें है नहीं। इसका मैं कर्ता और यह मैंने किया। आहाहा! वह तो आनन्दस्वरूप भगवान ज्ञानस्वरूप का अस्तित्व, उसका ज्ञान और आनन्द की अस्तिवन्त उसमें यह ऐसा और यह ऐसा किया ऐसा भेद नहीं है। यह सम्यग्दर्शन का विषय ऐसा अभेद है। आहाहा! युगलजी! सम्यग्दर्शन का विषय यह है—अभेद। छह कारक भी नहीं। आहाहा! तो फिर, व्यवहार से होता है, दया, दान, व्रत करो तो आत्मा प्राप्त होता है। धूल में भी नहीं होता। धूल अर्थात् अच्छे पुण्य भी नहीं बँधेगा। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं कि **कारकों के भेदरूप कल्पना नहीं है...** कल्पना नहीं है। मैं आत्मा स्वरूप का कर्ता और स्वरूप मेरा कार्य, स्वरूप का साधन मैं, स्वरूप में क्रिया करके रखा, स्वरूप में से सब हुआ, और स्वरूप के आधार से स्वरूप हुआ। ऐसे छह कारक आते हैं। चौथी-पाँचवीं की पुस्तक में। छह कारक शास्त्र में आते हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदाय, अपादान, अधिकरण। आहाहा!

मैं अन्तरात्मा, परमात्मा होने की तैयारीवाला पूर्ण स्वरूप परमात्मा हो जाऊँगा। अन्तरात्मा साधकपने, साध्य परमात्मा पूर्णदशा है। दूज हुई है तो पूर्णिमा होगी, होगी और होगी। चन्द्रमा। ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी दूज-अभेद मैं आत्मा—ऐसा अनुभव हुआ तो दूज उगी। तो वह परमात्मा-पूर्णिमा होगी। पूर्णिमा के चन्द्र में सोलह कला होती है।

समझ में आया? अमावस्या है न। आज अमावस्या है। तो आज भी एक कला तो खिली है। वह तो हमेशा रहे। आज अमावस्या है न। अर्ध मास। आपके हिसाब से आज अर्ध मास हुआ। यह पौष का आधा महीना पूरा हुआ। और पौष दूसरा पक्ष कल से शुरु होगा। हिन्दुस्तान में शास्त्र के हिसाब से ऐसा है। चलती प्रथा के अनुसार शुक्ल पहले है। ऐसा नहीं होता। क्योंकि आज अमावस्या है। अमावस्या—अर्ध मास है। पूर्णमासी पूर्ण मास है। लॉजिक से न्याय से है। आहाहा! समझ में आया? यह पौष मास का अर्ध मास हुआ अभी। अपने यहाँ लॉजिक में मागसिर कृष्ण अमावस कहते हैं।

मुमुक्षु : मागसर पूरा हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरा हो गया। पौष का अर्ध मास है। एकम है तो पौष महीने की पूनम होगी। तब पौष महीना पूरा हुआ। पौष कृष्ण एकम् है तो वह महा कृष्ण एकम है। सिद्धान्त की चीज़ ऐसी है।

कहते हैं कि अमावस्या हो तो भी एक कला तो खिली रहती है। आत्मा में ... खिलती रहती है। निगोद में जाये आत्मा तो भी एक अक्षर के अनन्तवें भाग की कला तो वहाँ भी खिली है। सूक्ष्म बात है। आलू, शक्करकन्द में जीव है। वहाँ जाता है तो पर्याय बहुत हीन हो जाती है। तो भी एक पर्याय अक्षर के (अनन्तवें भाग की) खुली तो रहती है। आहाहा! और वह सोलह कला खिलेगी मेरी। मेरे अन्तरात्मा में ध्यान करते-करते परमात्मा मैं हो जाऊँगा। दूसरा कोई साधन है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष शुक्ल १, सोमवार, दिनांक १३-०१-१९७५, श्लोक-२३ से २५, प्रवचन-३४

समाधितन्त्र। २३ की अन्तिम लाईन। आत्मा का ध्यान या अनुभव कैसे होता है, ऐसा कहते हैं। आत्मा अखण्ड-अभेद, जिसमें स्त्री, पुरुष, नपुंसक तो नहीं परन्तु जिसमें एक, दो, तीन संख्या भी नहीं। तथा जिसमें षट्कारक के भेद भी नहीं। आहाहा! आत्मा कर्ता और आत्मा का कार्य और आत्मा साधन, ऐसे जो भेद, दृष्टि के विषय में आत्मा में यह भेद नहीं है। आत्मा का अनुभव होने पर ये भेद दृष्टि में नहीं रहता। कठिन बात है। अब यहाँ सब बाहर से मानना। व्यवहार से होगा।

ऐसी समझ से ज्ञानी, भेदविज्ञान करके,... पर से पृथक्ता करके। स्त्री, पुरुष, नपुंसक के शरीर से और उसकी वासना से भिन्न करके और, कारकों—कर्ता-कर्म आदि भेद का लक्ष्य छोड़कर **निरन्तर आत्मस्वरूप में एकाग्र होने की भावना भाता है।** इसमें कुछ व्यवहार करने से यह अनुभव होता है, (ऐसा नहीं है)। भेद करने से भी नहीं होता। वस्तु तो ऐसी है। आहाहा! अखण्ड चैतन्यमूर्ति अभेद, उसमें भेद का भी जहाँ आश्रय नहीं, भेद का जहाँ लक्ष्य नहीं, ऐसा चैतन्य अभेद, उसकी अनुभव दृष्टि होने पर विकार और भेदपना नाश पा जाता है। ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह २३ (गाथा पूरी) हुई।

श्लोक - २४

येनात्मना त्वमनुभूयसे स कीदृशः इत्याह -

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥ २४॥

यस्य शुद्धस्य स्वसंवेद्यस्य रूपस्य अभावे अनुपलम्भे। सुषुप्तो यथावत्पदार्थ-परिज्ञानाभावलक्षणनिद्रया गाढाक्रान्तः। यद्भावे यस्य तत्स्वरूपस्य भावे उपलम्भे। पुनर्व्युत्थितः विशेषेणोत्थितो जागरितोऽहं यथावत्स्वरूपपरिच्छित्तिपरिणत इत्यर्थः। किंविशिष्टं तत्स्वरूपं? अतीन्द्रियं इन्द्रियैरजन्यमग्राह्यं च। अनिर्देश्यं शब्दविकल्पा-

गोचरत्वादिदंतयाऽनिदन्तया वा निर्देष्टुम-शक्यम्। तदेवंविधं स्वरूपं कुतः सिद्धमित्याह -तत्स्वसंवेद्यं तदुक्तप्रकारकस्वरूपं स्वसंवेदनग्राह्यं अहमस्मीति॥२४॥

जिस आत्मा से तुम स्वयं अनुभव में आते हो, वह कैसा है? यह कहते हैं —

बोधि बिना निद्रित रहा, जगा लखा चैतन्य।
इन्द्रियबिन अव्यक्त हूँ, स्वसंवेदन गम्य॥२४॥

अन्वयार्थ - (यत् अभावे) जिस शुद्धात्मस्वरूप के प्राप्त न होने से (अहं) मैं, (सुषुप्तः) अब तक गाढ़ निद्रा में पड़ा रहा—मुझे पदार्थों का यथार्थ परिज्ञान न हो सका—(पुनः) और (यत् भावे) जिस शुद्धात्मस्वरूप की उपलब्धि होने पर, मैं (व्युत्थितः) जागृत हुआ हूँ—यथावत् वस्तुस्वरूप को जानने लगा हूँ, (तत्) वह शुद्धात्मस्वरूप (अतीन्द्रियं) इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है, (अनिर्देश्यं) वचनों के भी अगोचर है—कहा नहीं जाता। वह तो (स्वसंवेद्य) अपने द्वारा आप ही अनुभव करने योग्य है। उसीरूप (अहं अस्मि) मैं हूँ।

टीका - जिस शुद्ध स्वसंवेद्यरूप के अभाव से अर्थात् उसको अनुपलब्धि में-अप्राप्ति में, मैं सो रहा था अर्थात् यथावत् पदार्थ-परिज्ञान का अभाव जिसका लक्षण है—ऐसी निद्रा में मैं गाढ़ घिरा हुआ था (लिपटा हुआ था); और जिसके सद्भाव में अर्थात् जिसके तत्स्वरूप के सद्भाव में—प्राप्ति में (जिस स्वरूप का अनुभव होने पर) मैं जागृत हुआ—विशेषरूप से जागृत हुआ अर्थात् मैं यथावत् स्वरूप के परिज्ञानस्वरूप से परिणमित हुआ, ऐसा अर्थ है।

तत्स्वरूप किस प्रकार का है? वह अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियजन्य नहीं है, इन्द्रियग्राह्य नहीं है और वचन-अगोचर अर्थात् शब्द-विकल्पों से अगोचर होने से (शब्दों द्वारा कहने में नहीं आता होने से), यह या वह स्वरूपादिरूप से कहा जा सके, वैसा नहीं है। तो ऐसे प्रकार का स्वरूप कहाँ से सिद्ध होता है?, सो कहते हैं - 'वह स्वसंवेद्यस्वरूप अर्थात् वह उक्त प्रकार का स्वसंवेदन से ग्राह्यस्वरूप, वह मैं हूँ'।

भावार्थ - जो शुद्धात्मस्वरूप, अतीन्द्रिय, वचन-अगोचर और स्वानुभवगम्य है, वह मैं हूँ—ऐसा जब तक जीव को ज्ञान नहीं था, तब तक वह अज्ञाननिद्रा में सो रहा था परन्तु जब उसको अपने उक्त प्रकार के स्वरूप का यथावत् भान हुआ, तब

वह वास्तव में जागृत हुआ अर्थात् उसके परिज्ञानरूप से परिणमित हुआ।

जिसको शुद्धात्मा की उपलब्धि है, वही जागता है और जिसको शुद्धात्मा की उपलब्धि नहीं है, वह सोता है। जब से वह स्वसंवेदन द्वारा चिदानन्दस्वरूप को अनुभवता है, तब से वह सदा जागृत ही है — ऐसा समझना॥२४॥

श्लोक - २४ पर प्रवचन

२४। **जिस आत्मा से तुम स्वयं अनुभव में आते हो,...** जो आत्मा से निर्मल अभेद द्वारा अनुभव में आता है, **वह कैसा है? यह कहते हैं —**

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥ २४॥

टीका - जिस शुद्ध स्वसंवेद्यरूप के अभाव से... आनन्दस्वरूप, उसे स्व अर्थात् अपने से सं—अर्थात् पर का आश्रय छोड़कर और स्व के आश्रय से प्रत्यक्ष वेदन हो, उसके अभाव में। आहाहा! **अर्थात् उसको अनुपलब्धि में-** शुद्ध स्वरूप चैतन्य की सम्यग्दर्शन की अप्राप्ति—सम्यग्दर्शन (बिना) स्वरूप की अप्राप्ति (हो) उस समय अप्राप्ति में मैं कैसा था? **यथावत् पदार्थ-परिज्ञान का अभाव जिसका लक्षण है...** वास्तविक आत्मा वस्तुस्वरूप से जिस प्रकार शुद्ध और अभेद है, उसका ज्ञान नहीं था और उस शुद्धस्वभाव की प्राप्ति नहीं थी, तब मैं कैसा था?

परिज्ञान का अभाव जिसका लक्षण है—ऐसी निद्रा में मैं गाढ़ घिरा हुआ था... आहाहा! यह शुभादि विकल्पों के घेराव में मैं था। अहाहा! यह शुभ विकल्प जो है, उसमें मैं **(लिपटा हुआ था);...** यह तो ठेठ की बात है, भाई! मूल। सम्यग्दर्शन में शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति (हो उसके) अभाव में मैं वस्तु के परिज्ञान बिना का ऐसा निद्रा में सो रहा था। आहाहा! चाहे तो ग्यारह अंग का ज्ञान किया हो और चाहे तो शुक्ललेश्या नौवें ग्रैवेयक जाने की हुई हो। आहाहा! वह अपना स्वरूप ज्ञानानन्द, उसके भान का जहाँ अभाव था, तब मैं तो निद्रा में सो रहा था। यह सब धन्धा-बन्धा करे तो भी सो रहा था, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : घोर निद्रा।

पूज्य गुरुदेवश्री : घोर निद्रा। धन्धा करता नहीं परन्तु धन्धे के विकल्प में घिर गया है। तब मैं निद्रा में सो रहा था। मेरी चीज़ क्या है, उसका मुझे भान नहीं था। आहाहा!

और जिसके सद्भाव में... वस्तु स्वरूप चैतन्य निर्विकल्प अभेद का अनुभव होने पर, सम्यग्दर्शन में अभेद की प्राप्ति होने पर **जिसके तत्स्वरूप के सद्भाव में—** जैसा स्वरूप ज्ञायक चैतन्य निर्मल पवित्र आनन्द है, उसकी **प्राप्ति में (जिस स्वरूप का अनुभव होने पर)...** यहाँ तो एक और (एक)=दो (जैसी) बात है। आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव हों, परन्तु मैं उनमें घिरा हुआ था। मेरी चीज़ का मुझे ज्ञान नहीं था, ऐसा कहते हैं।

मैं जागृत हुआ... मैं चैतन्य स्वभाव, मेरी अस्ति परमपवित्र ऐसा भान होने मैं जागृत हुआ। **विशेषरूप से जागृत हुआ... 'व्युत्थितः'** है न? **'व्युत्थितः'** है न? **'व्युत्थितः'** शास्त्र के जानने में भी मानो मैं जगा था, ऐसा माना था। ऐसा कहते हैं। आहाहा! परन्तु चैतन्यस्वरूप का स्वसंवेद्य होने पर मैं जगा। आहाहा! मैं तो परमपवित्र आनन्द का नाथ हूँ। ऐसी मेरी दशा जागृत हुई। आहाहा! समझ में आया?

यथावत् स्वरूप के परिज्ञानस्वरूप से... जैसा आत्मा का निर्विकल्प शुद्ध ध्रुव स्वरूप है, ऐसे **परिज्ञानस्वरूप से परिणमित हुआ,...** आहाहा! उसकी श्रद्धा अर्थात् कि उसके शुद्धस्वरूप से परिणमना। जैसा शुद्धस्वरूप है, उसरूप परिणमना—होना, इसका नाम जागृत और स्वरूप की स्थिरता और इसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र है। आहाहा! गोविन्द को कोई मिले होंगे कोई, गाँव के साधु। हमको तो नींद में भी छठवाँ-सातवाँ आता है, कहे। किसे कहना छठवाँ-सातवाँ? हमारे तो छठवाँ-सातवाँ आता है। मुनि को छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होता है। सोवे पाँच-पाँच, छह-छह घण्टे। नींद में भी छठवाँ-सातवाँ आवे। कहो, यह क्या कहते हैं? जबलपुर में गये होंगे न... ओहोहो! अरे! नींद में, सच्चा अनुभव होवे तो भी नींद के समय तो छठवाँ ही होता है।

मुमुक्षु : जागृत हो तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : जागृत हो तब... और नींद की दशा मुनि को तो... सवेरे आया नहीं था? 'पिछली रयण...' पिछली रात्रि में थोड़ा एक करवट से। ऐसे हों तो एक करवट से। एक करवट से करवट अर्थात्। एक पहलू से थोड़ी देर निद्रा आ जाये। आहाहा! पौन सेकेण्ड के अन्दर। तुरन्त जाग जाये। अप्रमत्तदशा। आहाहा!

यहाँ तो सम्यग्दर्शन की बात की है। उस सहित, आचार्य है, इसलिए चारित्र सहित है। यहाँ तो आचार्य स्वयं कहते हैं न! मैं जागकर देखूँ वहाँ... आहाहा! जगत दिखे नहीं। वस्तु स्वरूप चैतन्य ज्ञानज्योति स्वभाव, जहाँ अनुभव में आया, कहते हैं, मैं सोता था, वह जाग गया। भावनिद्रा में सो रहा था, वह मैं जागृत हुआ। पदार्थ का परिज्ञान (अर्थात्) जैसा आत्मा है, उस प्रकार से समस्त प्रकार से उसका ज्ञान हुआ। आहाहा! समझ में आया? है?

यथावत् स्वरूप के परिज्ञानस्वरूप से... यथावत् स्वरूप के परिज्ञानस्वरूप। आहाहा! यह राग और विकल्परूप से परिणमन था अर्थात् कि दशा में वह परिणत दशा थी। मैं तो शुद्ध चैतन्य हूँ। ऐसा स्वसन्मुख के भान में यथावत् स्वरूप का परिज्ञान। जैसा भगवान आत्मा निर्मलानन्द शुद्ध है, वैसा यथावत् स्वरूप का परिज्ञान। इसका जो स्वरूप है, उसका विशेष ज्ञान स्पष्ट। उसमें मैं परिणमित हुआ। आहाहा! समझ में आया? मार्ग बहुत अलग प्रकार का। लोगों ने बाहर से (मान लिया है)।

अभी एक साधु आये थे। वह नहीं आया था एक? कलकत्ता से नहीं निकला था संघ? श्वेताम्बर का नहीं? कलकत्ता से संघ निकला था। पूरा निकला था न पैदल चलकर। अमदाबाद में,... वे साधु आये थे तब। वहाँ से आये होंगे। देखने आवे। यह देखना है। परन्तु यह बन्द रखते हैं उस समय। किसी को चाबी देनी चाहिए। ले नहीं जाना चाहिए। वह बेचारा कहे, हमारे जाना है यहाँ से। विहार करना होगा। यह देखना है। रहते तो कल आते, परन्तु रहना नहीं है। फिर खोला, कोई ले आया। शान्तिलाल या कोई ले आया। परन्तु वह ऐसा कहे कि कलकत्ते से विहार करके यहाँ आये। यहाँ जीथरी का एक बनिया था साथ में। कलकत्ते से चलकर आये। कहो, अब उसमें क्या

है? बापू! आहाहा! उसमें क्या किया, उसमें आत्मा का? वह तो एक शुभ विकल्प और चलने की क्रिया मेरी, यह मान्यता तो मिथ्यात्व है। और बहुतों को, हजारों लोगों को मैंने चलाकर मार्ग दिखाया। अरे भगवान! मार्ग, बापू! हित का पंथ बहुत अलग प्रकार का है। दुनिया माने और दुनिया पसन्द करे, इससे कहीं वस्तु यहाँ आ जाये? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि मैं जैसा मेरा यथावत् निर्विकल्प शुद्धस्वरूप, यथावत् उस स्वरूप के परिज्ञानरूप से परिज्ञानरूप से परिणमित हुआ। आहाहा! समझ में आया? **यथावत् स्वरूप के परिज्ञानस्वरूप से परिणमित हुआ,...** ऐसे बाह्य से शास्त्र से पढ़कर हुआ, यह नहीं। आहाहा! गजब बात करते हैं न! समझमें आया? भगवान के पक्ष में चढ़कर मैंने आत्मा का स्वरूप भलीभाँति जाना है। आहा! अब उसरूप से मैं हुआ। राग की क्रिया में अन्ध था, मैं निद्रा में था। आहाहा! व्यवहार की क्रियाएँ, विकल्प जो अन्ध... शरीर अन्ध तो आया था अपने। आया था। यहाँ पाठ आया था। यहाँ तो विकल्प अन्ध है। आहाहा! है? यह तो कारकों का निषेध किया न, २३ में? ओहोहो!

यह भेद वस्तु का विकल्प, वह राग है। राग तो अन्ध है। राग में एकत्वबुद्धि, वह तो अन्ध अज्ञान है। आहाहा! भगवान आत्मा राग से भिन्न पड़कर अर्थात् कि उसका लक्ष्य छोड़कर, अन्तर चैतन्य की गहराई स्वभाव में प्रवेश करे, तब वह ज्ञान और आनन्दरूप होता है, तब मैं जागृत हुआ, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! देखो! यह सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर का कहा हुआ सम्यग्दर्शन का यह स्वरूप। समाधि का स्वरूप कहो या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कहो। **ऐसा अर्थ है।**

तत्स्वरूप किस प्रकार का है? भगवान तत्—उस स्वरूप। चिदानन्द प्रभु का स्वरूप कैसा है? **वह अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियजन्य नहीं है, इन्द्रियग्राह्य नहीं है...** इन्द्रियजन्य वह नहीं। इन्द्रिय से पकड़ में आये, ऐसा वह है नहीं। आहाहा! समझ में आया? **इन्द्रियग्राह्य नहीं है और वचन-अगोचर अर्थात् शब्द-विकल्पों से अगोचर होने से...** शब्द से वक्तव्य है, अवक्तव्य है, ऐसी सप्तभंगी है। परन्तु शब्द से गम्य है, ऐसा नहीं है। यह क्या कहा? वचन से सर्वथा अव्यक्तव्य है, ऐसा नहीं। वचन से कथंचित् वक्तव्य है, कथंचित् अव्यक्तव्य है, कथंचित् वक्तव्य-अवक्तव्य है, ऐसी सप्तभंगी होती

है। और ४७ नय में आता है न? भाई! नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। स्थापना कही जा सकती है, नाम... यह वस्तु अलग। यह अलग। यह वचन से कहीं जा सकती है, वह अलग बात है। और वचन से गम्य है, वह अलग बात है। आहाहा! समझ में आया?

शब्द-विकल्पों से अगोचर... है। आहाहा! तो कोई कहे, तब फिर उसे सुनाना किसलिए? शब्द से, वाणी से तो अगम्य है और वक्तव्य है वाणी से कथंचित्, तो कथंचित् वक्तव्य है तो वचन द्वारा वह ज्ञात हो, ऐसा नहीं है? नहीं। उसका लक्ष्य छोड़कर अन्तर वेदन में जाये, तब ज्ञात होता है। आहाहा! समझ में आया? **(शब्दों द्वारा कहने में नहीं आता होने से),...** यह बहुत साधारण बात की है। शब्दों द्वारा कहा जाता है, (इसलिए) वक्तव्य है। परन्तु शब्द द्वारा वेदन में-जानने में आता नहीं। ऐसा चाहिए। समझ में आया? एकदम शब्द द्वारा कहने में न आवे...

मुमुक्षु : शब्दों द्वारा कहने में तो आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है। समझ में आया? यहाँ तो भाई अपने को... शब्दों द्वारा कथंचित् वक्तव्य है। परन्तु शब्दों द्वारा ज्ञात हो, ऐसा वह आत्मा नहीं है। आहाहा! अरे! भगवान! कहो, नवरंगभाई! ऐसा मार्ग अब उसमें... आहाहा!

जहाँ जो तथारूप प्रभु विराजता है, वहाँ जाये तो ज्ञात हो, ऐसा है—ऐसा कहते हैं। किसी व्यक्ति से मिलना हो तो उस मकान में जाये, तब मिले न वह? दीवार आड़ी हो और बाहर से वह मिले? आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञान और आनन्दस्वरूप... यह प्रवचनसार में कहा है न? आत्मा ज्ञान है। ज्ञान, वह आत्मा; परन्तु आत्मा, वह ज्ञान और सुख आदि (अनन्त गुण है)। नहीं? भाई! ऐई... दिलीप! क्या कहा? देखो! विशेषण। कहता था न तू कि विशेषण... फिर ज्ञान है, ऐसा पकड़ में आवे, ऐसा है। परन्तु आवे यह। प्रवचनसार में कहा है। ज्ञान, वह आत्मा। परन्तु आत्मा, वह ज्ञान और आत्मा वह दर्शन, आत्मा वह आनन्द—ऐसे उसके अनेक गुण हैं। समझ में आया?

ज्ञान, वह आत्मा। क्योंकि ज्ञान वह आत्मस्वभाव और आत्मा वह अकेला ज्ञान है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? ज्ञान आत्मा के साथ अभेदपना है। इसलिए वह ज्ञान,

वह आत्मा। परन्तु आत्मा वह ज्ञान अकेला, ऐसा नहीं है। तो दूसरे सब गुण रह जाते हैं। आहाहा! समझ में आया? क्यों? कि जो आत्मा वह ज्ञान अकेला हो तो अनन्त गुण की पर्याय प्रगट तो न हुई। अकेली ज्ञान की अवस्था प्रगट हुई। वह हो सकता नहीं। आहाहा! समझ में आया? ज्ञान, वह आत्मा, परन्तु आत्मा वह ज्ञान, आत्मा वह आनन्द, आत्मा वह श्रद्धा, आत्मा वह शान्ति। पोपटभाई! यह तो बहुत तुम्हारे लड़कों के साथ कभी ऐसी बात हुई नहीं होगी वहाँ। वहाँ कहाँ थी बात? यों ही सम्प्रदाय में नहीं तो तुम्हारे घर में तो कहाँ से होगी? आहाहा! वस्तु ऐसी है, भाई!

कहते हैं कि वचन से कथंचित् वक्तव्य है परन्तु वचन से गम्य है कथंचित्, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? इसमें क्या अन्तर पड़ा? शब्दों द्वारा कहने में नहीं आता, ऐसा नहीं है। अनुभव में नहीं आता। शब्दों के लक्ष्य से या विकल्प के लक्ष्य से वह अनुभव में आवे, ऐसी चीज़ नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह तो बाल (केश) चीरने से भी सूक्ष्म बात है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं होता बाल-बाल? क्या कहलाता है वह? बाल। बाल की अन्तिम दो रग पृथक् होती है कितनों की। बाल की छोर। समझ में आया?

बहुत वर्ष पहले राणपुर की बात है। बहुत वर्ष पहले। (संवत्) १९८४ के वर्ष। एक बाल देखा तो बाल को दो टुकड़े ऊपर से। बाल को दो ऊपर के छोर अलग-अणी। समझ में आया? क्या कहा? बाल के दो छोर होते हैं। बाल को। एक ही छोर, ऐसा नहीं। किसी को एक होता है, किसी के दो। छोर दो भाग। अब उसे चीरना हो तो किस प्रकार? दोनों को पृथक् करना हो। टूट जायेगा। आहाहा! यह तो उससे बारीक चीज़ है यह तो। भगवान! इसको इसके छोर में ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि पर्यायें हैं। परन्तु उस पर्याय पर लक्ष्य रखकर आत्मा वेदन में आवे, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह तो वह शब्द है न जरा, उसे सुधारनेयोग्य है।

मुमुक्षु : कोष्ठक में है वह भूल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह भूल है थोड़ी। भाई!

मुमुक्षु : शब्दों द्वारा अनुभव में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस, इतना ही लेना। यह तो उस समय हुआ कोई...

'**अनिर्देश्यं**' है न? वाणी द्वारा कहा नहीं जा सकता। यह शब्द वहाँ लिया है। '**अनिर्देश्यं**' है न? '**अनिर्देश्यं**' शब्द है भाई! मूल पाठ में। '**अनिर्देश्यं**' उसमें से निकाला है। है न? पाठ में ऐसा है, देखो! '**अनिर्देश्यं**' वचनों से अगम्य। परन्तु वह वचन से अगम्य इसका अर्थ है। '**अनिर्देश्यं**' अर्थात् अ—नहीं कहा जा सकता ऐसा। शब्दार्थ ऐसा होता है। भाई! '**अनिर्देश्यं**'—कहा नहीं जा सकता। परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं है। देखो! इसका अर्थ ही यह किया, देखो इन्होंने। '**अनिर्देश्यं**' वचनों से अगम्य है। पश्चात् **(वचनों से कहा नहीं जा सकता वह),...** यह और स्वयं वापस कोष्ठक में डाला है, अन्वयार्थ में। अन्वयार्थ में डाला है और यहाँ डाला है। अन्वयार्थ है न? '**अनिर्देश्यं**' शब्द है सही न। इसलिए उसे ऐसी ध्वनि उठती है।

मुमुक्षु : वचनों से नहीं कहा जा सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। यह। '**शब्दविकल्पागोचरत्वां**' ऐसा शब्द है। देखो टीका। टीका भी ऐसी है। अनिर्देश्य। '**शब्दविकल्पागोचरत्वां**' शब्द और विकल्प से अगम्य है। परन्तु शब्द से बिल्कुल कहा नहीं जा सकता, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : कथंचित् कहा जा सकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कथंचित् कहा जा सकता है।

मुमुक्षु : कितना कहा जा सकता है....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह और अलग। कुछ न कुछ उसका ईशारा आवे। समझ में आया? तथापि उस ईशारा द्वारा आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

(शब्दों द्वारा कहने में नहीं आता होने से),... '**अनिर्देश्यं**' है न इसलिए ऐसा कहा। टीकार ने ऐसा नहीं कहा। '**अनिर्देश्यं**' शब्द पड़ा है न? कहना नहीं, कहा नहीं जा सकता, ऐसा लिया। परन्तु टीकाकार ने ऐसा शब्द नहीं लिया। '**अनिर्देश्यं**' अर्थात् वचन और विकल्प द्वारा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। अगम्य है। आहाहा! **यह या वह**

स्वरूपादिरूप से कहा जा सके, वैसा नहीं है। यह कि वह स्वरूपादि रूप से कहा जा सके, ऐसा नहीं है। वह तो वाणी से कहा जा सके अनुभव में आकर।

मुमुक्षु : अनुभव में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बस। '**शब्दविकल्पागोचरत्वा**' यह क्या है?

मुमुक्षु : ....इस रूप है और इस रूप नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह ठीक। यह कहा। वह '**निर्देष्टुमशक्यम्**' ऐसा तो है वहाँ। निर्देश्य अशक्य। वहाँ, परन्तु यह वह '**निर्देष्टुमशक्यम्**' का अर्थ उसके द्वारा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

क्योंकि यहाँ तो सिद्ध यह करना है, '**स्वसंवेद्यमसम्यहम्**' चौथा पद है न? यह सिद्ध करना है। मैं वाणी और विकल्प द्वारा ज्ञाता होऊँ, ऐसा नहीं। चौथा पद है न? २४ (गाथा का)। स्वसंवेद्य यह सिद्ध करना है।

मुमुक्षु : स्वसंवेद्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब यह। मैं तो मेरे ज्ञान के आनन्द के प्रत्यक्ष वेदन द्वारा ज्ञात होऊँ ऐसा हूँ। आहाहा! समझ में आया? तो फिर व्यवहार से निश्चय होता है, यह इसमें कुछ रहा नहीं। यह कहते हैं न सब कि व्यवहार साधन और निश्चय साध्य नहीं लिखा? यह पण्डितजी ने लिखा है अपने। पंचास्तिकाय में नहीं लिखा? फिर नीचे लिखना पड़ा कि ऐसा है और वैसा है। यह मिटाया है, ऐसा वे कहते हैं। अब सुन न, बापू! यह वीतराग मार्ग है, भाई! एक न्याय में जरा भी अन्तर पड़े तो वस्तु नहीं रहेगी।

यहाँ तो कहते हैं कि वह गुण-गुणी का भेद अन्तर्जल्प या शब्द बाह्य, इनके द्वारा ज्ञात हो—ऐसा नहीं है। समझ में आया? अर्थात् कि व्यवहार से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है, ऐसा इसका अर्थ हुआ। राग हुआ। आहाहा! समझ में आया? शास्त्र का ज्ञान है, वह भी व्यवहार है। उससे भी ज्ञात हो, ऐसा नहीं है, यह कहते हैं। आहाहा! परसन्मुख की दिशा से तो ऐसा भागना है। आहाहा! मार्ग ऐसा है। आहाहा! भगवान त्रिलोकनाथ की भेंट वह तो कोई ऊँची बात है, साधारण बात नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यह या वह स्वरूपादिरूप से कहा जा सके, वैसा नहीं है। अर्थात् टीका में फिर कहा सही न? '**निर्देष्टुमशक्यम्**' परन्तु इसका अर्थ यह।

मुमुक्षु : कहा अर्थात् जानना।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस जानना।

तो ऐसे प्रकार का स्वरूप कहाँ से सिद्ध होता है? तो कहते हैं कि विकल्प और वाणी द्वारा वह वस्तु ज्ञात नहीं होती, वेदन में नहीं आती, अनुभव में नहीं आती। तो अनुभव किस प्रकार करे? ऐसा कहते हैं। वह निषेध करके अब हकार सिद्ध करते हैं। आहाहा! '**वह स्वसंवेद्यस्वरूप अर्थात् वह उक्त प्रकार का स्वसंवेदन से ग्राह्य...** वह तो अन्तर के ज्ञान के वेदन से होता है। आहाहा! समझ में आया? ज्ञान की पर्याय उसके सन्मुख होने पर उस ज्ञान से ज्ञात हो, ऐसा है। यथातथ्य उसका जो स्वरूप, उसकी ज्ञान की दशा से ज्ञात हो, ऐसा है। व्यवहार के विकल्प, गुण-गुणी भेद के विकल्प-राग हो, परन्तु उससे अन्तर्मुख हो नहीं सकता। इसका अर्थ यह कि उससे ज्ञात नहीं होगा। आहाहा!

स्वसंवेद्यस्वरूप अर्थात् वह उक्त प्रकार का स्वसंवेदन से ग्राह्यस्वरूप, वह मैं हूँ। आहाहा! यह तो मोक्ष का मेवा पकना है न? आहाहा! आनन्द पकता है, कहते हैं। आनन्द और ज्ञान की पर्याय से मैं ज्ञात होऊँ, ऐसा हूँ। वह मैं। उससे ज्ञात हों, ऐसा वह मैं। ज्ञान और आनन्द की दशा से 'यह', यह ज्ञात हो, वह मैं। आहाहा! अरे! जिसे लक्ष्य में भी यह बात नहीं और मान बैठे कि हम साधु हैं, श्रावक हैं, व्रतधारी हैं। स्वतन्त्र जीव ने ऐसा ही अनन्त काल से किया है।

सवेरे नहीं आया था छहढाला में? ऐसे भव किये... ऐसे भव किये... ऐसे भव किये। यह निद्रारूप से। मेरे स्वरूप में परिज्ञान के अभाव में अर्थात् कि निद्रारूप से ऐसे भव किये। अर्थात् कि अज्ञान और मिथ्यात्वभाव से ऐसे भव किये। अब जिससे -विकल्प से तो भव हुए। तो भव के स्वभाव के अभाववाला, वह भव के भाव से कैसे ज्ञात हो? आहाहा! भगवान आत्मा भव के भाव और भव के स्वभाव से अभावस्वरूप है। समझ में आया? ऐसी बातें करे तो लोगों को... सोनगढ़ ने ऐसा किया, ऐसा कहते

हैं। सोनगढ़ ने किया या वस्तु का स्वरूप ऐसा है? वे कहते हैं कि समकित मानो। दीक्षा ले तब द्रव्यसमकित का आरोप श्वेताम्बर में करते हैं। फिर दीक्षा देते हैं। अरे... भगवान! कहाँ द्रव्यसमकित? व्यवहार समकित भी निश्चय हो तो व्यवहार होता है। समझ में आया? व्यवहार तो अन्ध है। उस अन्ध को देखनेवाला जगा तो उसे अन्ध को व्यवहार कहा जाता है। आहाहा! और अन्ध जानने का काम करे? आँखें नहीं और कहे यह देखता है। समझ में आया? ओहो! शैली, वह भी शैली! विकल्प है, वह तो अन्ध है। व्यवहार है, वह तो राग है। वह अन्ध जानने का काम करे? नहीं, नहीं; भाई! देखता देखने की परिणति द्वारा परिणमता है। उससे ज्ञात हो ऐसा है। समझ में आया?

भावार्थ - जो शुद्धात्मस्वरूप, अतीन्द्रिय,... इन्द्रिय ग्राह्य नहीं। क्योंकि वह वस्तु अतीन्द्रिय है। इन्द्रिय ग्राह्य नहीं, इसका अर्थ? कि वस्तु अतीन्द्रिय है।

मुमुक्षु : अतीन्द्रिय महापदार्थ।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। अतीन्द्रिय महापदार्थ। आता है न ९२ में? प्रवचनसार। आहा!

जो शुद्धात्मस्वरूप, अतीन्द्रिय,... इन्द्रियगम्य नहीं, इन्द्रियाँ इसमें नहीं। वास्तव में तो द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय वह वस्तु में नहीं। अतीन्द्रिय स्वरूप में, भावेन्द्रिय है न? एक-एक अंश से एक-एक विषय को जाने, वह भावेन्द्रिय भी उसमें नहीं। उससे ज्ञात हो, ऐसा तो नहीं परन्तु उसमें नहीं। उसमें नहीं, इसलिए उससे ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? इसे बहुत करने का है, भाई! ऐसे बैठ जाये कहीं? बापू! बहुत करने का है, भाई!

वस्तुस्वरूप अतीन्द्रिय है, इन्द्रिय से ज्ञात हो, ऐसा नहीं, इसका अर्थ यह कि द्रव्येन्द्रिय से तो ज्ञात नहीं होता, भावेन्द्रिय से भी ज्ञात नहीं होता। आहाहा! ऐसी चीज़ है। साधारण व्यक्ति के लिये ऐसा रास्ता होगा? कुछ सरल रास्ता करो न! ऐसा कहते हैं। सरल तो वहाँ पहुँचे ऐसा रास्ता होगा या अन्यत्र जाये, ऐसा रास्ता होगा? अन्यत्र जाये, वह विकल्प में अन्यत्र जाये, वह इसका रास्ता कहलायेगा? उसे सरल कहना? आहाहा! सरल है राग। उस व्यवहार से प्राप्त हो, यह करोगे तो प्राप्त होगा, विकल्प से

प्राप्त होगा और... यह सरल रास्ता है। तो वहाँ पूछते थे श्रीमद् में, कि यह बात निश्चय की तो बराबर है। परन्तु इसका उपाय-साधन क्या? ऐसा कि यह भक्ति करना, वाँचन करना। ऐ बापू! यह सब साधन नहीं है। आहाहा! कठिन बहुत, हों! दुर्लभ काम है। कठिन का अर्थ अपूर्व प्रयत्न अपेक्षित है। यह साधारण प्रयत्न से मिले, ऐसा नहीं है। क्योंकि वस्तु साधारण वस्तु ही नहीं है। आहाहा!

स्वानुभवगम्य है,... अतीन्द्रिय है, वचन अगम्य है और स्वानुभवगम्य है। उन दोनों में नकार किया और एक में हकार। **'वह मैं हूँ'**—धर्मी, वह 'मैं हूँ' ऐसा जानता है और मानता है। जो अतीन्द्रिय स्वरूप विराजमान शुद्धात्मस्वरूप, वचन, मन और राग से अगम्य—ऐसा स्वरूप है, वह मैं हूँ। आहाहा! **ऐसा जब तक जीव को ज्ञान नहीं था,...** ऐसा जब तक जीव को ज्ञान (अर्थात्) अतीन्द्रिय, वचन से अगम्य, स्वानुभवगम्य—ऐसा ज्ञान नहीं था, **तब तक वह अज्ञाननिद्रा में सो रहा था...** आहाहा!

परन्तु जब उसको अपने उक्त प्रकार के स्वरूप का यथावत् भान हुआ,... उक्त अर्थात् निर्विकल्प है ऐसा। आहाहा! अरूपी, निर्विकल्प, मन के सहारे से भी ज्ञात नहीं ऐसा। आहाहा! समझ में आया? **परन्तु जब उसको अपने उक्त प्रकार के स्वरूप का यथावत् भान हुआ, तब वह वास्तव में जागृत हुआ...** तब वह वास्तव में जागृत हुआ। वह नींद में से जगे, इसलिए जगा, (ऐसा नहीं)। उठ, उठ, कहते हैं। सोने का नळिया हुआ। नहीं कहते? सवेरे देरी से उठे तो सोने का नळिया अर्थात्? सूर्य उदित हुआ और यह नळिया पीले हुए जिसे। उठ। अभी उठता नहीं। आहाहा! अरे! जाग रे जाग नाथ! तेरा चैतन्यमूर्ति प्रभु। महा परमात्मस्वरूप विराजमान प्रभु, उसके सन्मुख देख। राग और विकल्प के सामने न देख, भाई! आहाहा! जो तू है, वह ऐसा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! परमात्मा तू है, भाई! परम स्वरूप विराजमान है, उसे देख न! कितनी मुद्दत और ऐसे नहीं देखना चाहिए। कितनी अवधि लगेगी? यह अवधि तो उसने देखा इतनी अवधि हो गयी। आहाहा!

स्वरूप का यथावत् भान हुआ, तब वह वास्तव में जागृत हुआ अर्थात् उसके परिज्ञानरूप से परिणमित हुआ। उसके विशेष ज्ञानरूप, खास उसके ज्ञानरूप, ऐसा।

चैतन्यस्वरूप है, उसके खास ज्ञानरूप परिणमा। आहाहा! ऐसी कथा! कहो, सेठ! वहाँ बीड़ी बनाने में ऐसा कुछ मिलता है? दो भाई बैठते थे वहाँ। बातें करें लाखों रुपये की। आहाहा! भगवान में प्रवेश करने के लिये योग्यता स्वसंवेदन है। दूसरी सामर्थ्य नहीं विकल्प और निमित्त में कि आत्मा ज्ञात हो। आहाहा! समझ में आया?

जिसको शुद्धात्मा की उपलब्धि है,... उपलब्धि का अर्थ प्राप्ति। सिद्ध की उपलब्धि कहते हैं न? आत्मा की उपलब्धि। सिद्ध के लिये ऐसा कहते हैं। भाई! आत्म –उपलब्धि। अर्थात् आत्मा है, ऐसा समीप में जाकर पूर्ण प्राप्त होना। आहाहा! यह आत्म उपलब्धि। भगवान पूर्णानन्द का नाथ वीतराग मूर्ति प्रभु है। उसके समीप में... आहाहा! उसके समीप में जा, कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! इसका नाम उपलब्धि है। स्वयं प्राप्त—मिलना चाहिए न, ऐसा कहते हैं। राग और पुण्य–पाप हो, उसमें आत्मा कहाँ आया? वह तो आस्रव है। राग, पुण्य, दया, दान, विकल्प, वह तो विकार है, पुण्य है, वह तो अनात्मा है। आत्मा की उपलब्धि किसे कहना? आहाहा! समझ में आया? यह अनात्मा द्वारा आत्मा की उपलब्धि होगी? ओहोहो! वीतरागमार्ग पहला ही शुरुआत में ऐसा होता है, ऐसा कहते हैं। और पहले कुछ करे कषाय को मन्द और अमुक, इसलिए वह प्राप्त हो, यह वस्तु ऐसी नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? गये सुमनभाई? सुमनभाई।

यह नवला नाथ का यह वास्तु है, कहते हैं। निवृत्त भगवान आत्मा के वास्तु के लिये किसी के आश्रय की आवश्यकता नहीं। आहाहा! यह स्वसंवेदन से ही वास्तु कर सकता है। आहाहा! है न? अभावस्वरूप है? है अभावस्वरूप। पर से अभावस्वरूप है। परन्तु स्वयं है न? भावस्वरूप है। आहाहा! चिद्घन है, आनन्दघन है। भावस्वरूप है। भावस्वरूप को अन्दर की निर्मल स्वसंवेदन पर्याय द्वारा वह ज्ञात हो, ऐसा है। आहाहा! समझ में आया?

और जिसको शुद्धात्मा की उपलब्धि नहीं है, वह सोता है। यह जगता है और वह सोता है। **जब से वह चिदानन्दस्वरूप को...** आहाहा! ज्ञानानन्दस्वरूप को स्वसंवेदन द्वारा अपनी जाति के वेदन से वेदन में आवे ऐसा भगवान **अनुभवता है, तब से वह सदा**

जागृत ही है... वह बाह्य से सोवे तो भी वह जागृत है। और अज्ञानी बाहर से जागता हो तो वह सोता है। करने का तो यह है। परन्तु इसका कोई साधन दूसरा ? ऐसा माँगता है। उसे तो (लगता है कि) यह एकदम है। एल.एल.बी. की बात है, एल.एल.बी. की नहीं, भगवान! प्रथम शुरुआत का ही यह मार्ग है, भाई! यह वस्तु ऐसी चैतन्यसत्ता, महा सत्ता के सन्मुख हुए बिना वेदन होता नहीं। वेदन हुए बिना सन्मुख हो नहीं। आहाहा! इसका अर्थ यह कि सन्मुख अर्थात् सत् के सन्मुख हुआ। आहाहा! असत् से विमुख हुआ। आहाहा!

लोगों ने सम्यग्दर्शन की कीमत निकाल डाली। यह तो अपने को खबर नहीं पड़ती सम्यग्दर्शन की। अपने को श्रद्धा हो, वह मान लो। यह तो अष्टपाहुड़ में आता है। नहीं ? पण्डित जयचन्द्रजी ने नहीं कहा ? अमुक परीक्षा होने के पश्चात् समकित है या नहीं, शंका नहीं करना। आता है। शुरुआत में पहले दर्शनपाहुड़ में। यह बात हो गयी है। अभी ही वाँचन हो गया है अष्टपाहुड़। उसमें यह आता है। पृष्ठ लिखे गये अधिक उसमें। पृष्ठ लिखे हैं न अधिक ? उसमें अर्थ है। अपने वेदन में आया और पूरा प्रत्यक्ष न पड़े, इसलिए शंका करना कि यह कैसे होगा, ऐसा नहीं है। ऐसा कहा है। समझ में आया ? यह प्रत्यक्ष ज्ञान का वेदन हुआ, वह समकित के साथ ही है। आहाहा! अविनाभाव है वह।

उस स्वरूप का स्वसंवेदन करनेवाले को रागादि का विशेष क्षय होने से, क्वचित् भी शत्रु-मित्र की व्यवस्था (कल्पना) नहीं रहती... क्वचित अर्थात् किसी भी प्रकार की, ऐसा। किसी भी प्रकार के शत्रु-मित्र का विकल्प नहीं रहता। शत्रु कौन और मित्र कौन ? वह तो ज्ञेय है। सब पदार्थ तो ज्ञेय हैं। उनमें शत्रु-मित्र का भाग करता है वह तो मिथ्यात्व करता है। मिथ्याश्रद्धा भाग करती है। आहाहा! सम्यग्ज्ञान में दो भाग नहीं पड़ते, वह ज्ञेय है। आहाहा! क्वचित् भी व्यवस्था रहती नहीं, **यह दर्शाते हुए कहते हैं** — लो!

श्लोक - २५

तत्स्वरूपं स्वसंवेदयतो रागादिप्रक्षयान्न क्वचिच्छत्रुमित्रव्यवस्था भवतीति दर्शयन्नाह -

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः॥ २५॥

अत्रैव न केवलमग्रे किन्तु अत्रैव जन्मनि क्षीयन्ते। के ते? रागाद्याः आदौ भवः आद्यः राग आद्यो येषां द्वेषादीनां ते तथोक्ताः। किं कुर्वन्तस्ते क्षीयन्ते? तत्त्वतो मां प्रपश्यतः। कथम्भूतं मां? बोधात्मानं ज्ञानस्वरूपं। तत इत्यादि यतो यथावदात्मानं पश्यतो रागादयः प्रक्षीणास्ततस्तस्मात् कारणात् न मे कश्चिच्छत्रुः न च नैव प्रियो मित्रम्॥२५॥

उस स्वरूप का स्वसंवेदन करनेवाले को रागादि का विशेष क्षय होने से, कथञ्चित् भी शत्रु-मित्र की व्यवस्था (कल्पना) नहीं रहती—यह दर्शाते हुए कहते हैं—

जब अनुभव अपना करूँ, हों अभाव रागादि।
मैं ज्ञाता, मेरे नहीं, कोई अरि-मित्रादि॥ २५॥

अन्वयार्थ - (यतः) क्योंकि (बोधात्मानं) शुद्ध ज्ञानस्वरूप (मां) मुझ आत्मा का (तत्त्वतः प्रपश्यतः) वास्तव में अनुभव करानेवाले के (अत्र एव) इस जन्म में ही (रागाद्यः) राग, द्वेष, क्रोध, मान, मायादि दोष (क्षीयन्ते) नष्ट हो जाते हैं; (ततः) इसलिए (मे) मेरा (न कश्चित्) न कोई (शत्रुः) शत्रु है (न च) और न कोई (प्रियः) मित्र है।

टीका - यहाँ ही, नहीं कि केवल आगे (अन्य जन्म में) ही, परन्तु इस जन्म में ही (वे) क्षय को प्राप्त होते हैं। वे कौन? रागादि अर्थात् राग जिसके आदि में हैं, वैसे द्वेषादि (दोष)। क्या करते हुए वे क्षीण होते हैं? तत्त्वतः (परमार्थपने) मुझे देखते-(अनुभवते)। कैसे मुझे? बोधात्मा अर्थात् ज्ञानस्वरूप (ऐसा मुझे)। यथावत् आत्मा का अनुभव करने पर, रागादि क्षीण होते हैं; इस कारण से न कोई मेरा शत्रु है और (न) कोई मेरा प्रिय, अर्थात् मित्र है॥२५॥

भावार्थ - ज्ञानस्वरूप आत्मा को यथार्थस्वरूप से अवलोकते-अनुभवते राग-द्वेषादि दोषों का (भूमिकानुसार) यहाँ ही अभाव होता है; इसलिए ज्ञानी कहता है कि 'इस जगत में मुझे कोई शत्रु-मित्ररूप भासित नहीं होता अर्थात् वास्तव में कोई किसी का शत्रु-मित्र नहीं हो सकता।' जब आत्मा, प्रबुद्ध होकर यथार्थ वस्तुस्थिति का अनुभव करता है, तब उसकी राग-द्वेषरूप इष्ट-अनिष्ट की कल्पना मिट जाती है और बाह्यसामग्री के साधक-बाधक बनते जीवों के प्रति, उसको उपेक्षाबुद्धि रहती है; इसलिए वह न तो किसी को शत्रु समझता है अथवा न किसी को मित्र मानता है। इस प्रकार आत्मस्वरूप की भावना के बल से, उसके राग-द्वेषादि का नाश होने पर, उसको किसी के प्रति शत्रु-मित्रपना नहीं रहता।

विशेष स्पष्टीकरण -

ज्ञानभावनारूप से परिणमित ज्ञानी विचारता है कि—'निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममत्वरहित हूँ, ज्ञानदर्शन से पूर्ण हूँ, उस स्वभाव में रहता हुआ, उसमें-उस चैतन्य-अनुभव में लीन होता हुआ, मैं इन क्रोधादिक सर्व आस्रवों का क्षय कराता हूँ।' *(श्री समयसार, गाथा-७३)*

सारांश यह है कि जब ज्ञानी, अपने आत्मस्वरूप को यथार्थरूप से जानकर, उसमें लीन होता है, तब उसके आस्रवभाव—राग-द्वेषादि विकार स्वयं उत्पन्न नहीं होते—ऐसी स्थिति में उसको कोई शत्रु-मित्र भासित नहीं होता; उसको सभी के प्रति समभाव प्रगट होता है॥२५॥

श्लोक - २५ पर प्रवचन

२५वाँ।

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः॥ २५॥

टीका - यहाँ ही, नहीं कि केवल आगे (अन्य जन्म में) ही,... ऐसा नहीं है। यहाँ ही वह। ऐसा। ऐसा कि धर्म होगा यहाँ और फिर उसका फल आयेगा भविष्य में,

ऐसा नहीं है। **नहीं कि केवल आगे (अन्य जन्म में) ही, परन्तु इस जन्म में ही...** आहाहा! अर्थात् कि पूर्ण क्षय भले अमुक समय में होओ, परन्तु जितना स्व का आश्रय लिया है, उतना तो राग का क्षय कहने में आता है। आहाहा! है ऐसा। समझ में आया?

इस जन्म में ही (वे) क्षय को प्राप्त होते हैं। वे कौन? रागादि अर्थात् राग जिसके आदि में हैं,... ऐसा। राग, द्वेष, विषयवासना सबसे एकत्वबुद्धि हट जाती है। आहाहा! **क्या करते हुए वे क्षीण होते हैं? तत्त्वतः (परमार्थपने) मुझे देखते- (अनुभवते)।** ऐसा। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य को अनुसरकर वेदन-अनुभव करते हुए रागादि का क्षय हो जाता है। '**क्षीयन्ते**' यहाँ तो कहा, क्षय हो जाता है। लो! आहाहा! देखा! उपशम हो जाता है, उसके बदले '**क्षीयन्ते**' आहाहा! जोर इतना है। '**क्षीयन्ते**' है न? इसका अर्थ कि नाश पाता है। '**क्षीयन्ते**' का अर्थ नाश पाता है।

वे क्षीण होते हैं? मुझे अनुभव करते हुए। **कैसे मुझे?** कैसा मैं? कैसे मुझे अनुभव करते हुए रागादि का नाश होगा? **बोधात्मा अर्थात् ज्ञानस्वरूप (ऐसा मुझे)।** मुख्य गुण लिया न? ज्ञानस्वरूप बोधात्मा—बोधात्मा। ज्ञान, वह आत्मा। ऐसा जो बोधात्मा **यथावत् आत्मा का अनुभव करने पर, रागादि क्षीण होते हैं; इस कारण से न कोई मेरा शत्रु है और (न) कोई मेरा प्रिय, अर्थात् मित्र है।** इस कारण से। शुद्ध चैतन्य स्वरूप का वेदन होने पर अनुभव में आने पर, उतने प्रकार का भूमिका प्रमाण राग-द्वेष का क्षय होता है, इसलिए मुझे कोई शत्रु और मित्र है नहीं। समभाव है।—ऐसा कहते हैं, लो!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष शुक्ल २, मंगलवार, दिनांक १४-१-१९७५, श्लोक-२५-२६, प्रवचन-३५

श्लोक है इसका भावार्थ। यह तो मुद्दे की रकम है। अब व्यवहार से उन्हें खटकता है लोगों को।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार बीच में आवे, हो सही। परन्तु यह व्यवहार है वह बन्ध का कारण बीच में आता है। व्यवहार न हो, ऐसा नहीं है। मुनि को भी व्यवहार बीच में आता है। परन्तु यह व्यवहार है, वह मोक्ष का मार्ग नहीं है। वह तो बन्ध के परिणाम हैं। आहाहा! कहो, श्रीपालजी! अब यह सबको खटकता है। क्या करना? कहो। व्यवहार से धर्म (नहीं) होता ऐसा न कहो, और व्यवहार...

मुमुक्षु : व्यवहार से होता है अर्थात् व्यवहार न छोड़ सको ऐसा अर्थ... होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु है न। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

जिसे व्यवहार के कारकों की अपेक्षा नहीं, ऐसा स्वभाव ज्ञानस्वरूप में अन्दर जाना, कोई अपेक्षा नहीं। आहाहा! अब यह बात। भले इसे—जगत को न जँचे और प्रचार-प्रसार न पाये, परन्तु वस्तु तो यह है। सत्य वस्तु की शरण बिना तो आत्मा परमानन्द ज्ञानस्वरूप, वह शरण है। बीच में विकल्प आवे, हो। वह कहीं शरण नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञानस्वरूप आत्मा को... ऐसा कहा। ... चैतन्यस्वरूप। वह रागस्वरूप या पुण्यस्वरूप या व्यवहारस्वरूप यह आत्मा नहीं है। वह तो अनात्मा है। आहाहा! ऐसी बातें, बापू! यह तो जिसे जन्म-मरणरहित होना हो (उसके लिये बात है)। यह जन्म चौरासी के अवतार दुःखी... दुःखी... दुःखी। प्राण है यह। इसे कहीं शान्ति नहीं चारों गति में। चारों गति को दुःख कहते हैं न। और चारों गतियाँ पराधीन हैं। आहाहा! पंचास्तिकाय में आया न! आहा! जिसे ऐसा परम सत्य... यह आत्मा अर्थात? और इसका शरण कब ले? कि यह ज्ञानस्वरूपी आत्मा है, वह दया, दान, व्रत के परिणाम का स्वरूप, वह आत्मा नहीं। समझ में आया? सत्य ऐसा है। अब न रुचे और न प्रसार

पावे, इससे कहीं सत्य दूसरा हो जाता है? आहाहा! ऐसा है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा को यथार्थस्वरूप से अवलोकते... दूसरा पद आया। ज्ञानस्वरूप आत्मा और यथार्थस्वरूप से अर्थात् सन्मुख होकर जानने पर। आहाहा! उसकी दृष्टि निमित्त, राग और पर्याय से छूटने पर... यह एक आया था न? भाई ने— फूलचन्दजी ने नहीं कहा था? कि व्यवहार की उपेक्षा, यही व्यवहार की अपेक्षा। भाई! आहाहा! अर्थात् निश्चयनय है, वह है एकान्त। क्योंकि नय एकान्त है और प्रमाण अनेकान्त है। अनेकान्त भी अनेकान्त है। आहा! दो अपेक्षा से अनेकान्त है और एक अपेक्षा से एकान्त, स्व की अपेक्षा से एकान्त है, नय की। क्योंकि नय है वह एक अंश को बतलाते हैं। त्रिकाली ध्रुव भी एक अंश है। दूसरा पर्याय अंश बाकी रह जाता है। आहाहा! समझ में आया?

नय है, वह अंश है, यह बात सच्ची। परन्तु उस नय का अंश जो निश्चय का है, वही आश्रय करनेयोग्य है। पर्याय का अंश है, वह फिर एकान्त सम्यक्त्व के स्वभाव का एकान्त दृष्टि-ज्ञान हुआ, उस काल में उसे पर्याय का ज्ञान तब उसे व्यवहार का ज्ञान यथार्थ होता है। आहाहा! ज्ञान, हों! आहाहा! कहो, शान्तिभाई! क्या करना? यह सब विरोध करते हैं। यह तो बेचारे उनका विरोध करते हैं। यहाँ का कुछ नहीं। यहाँ किसका करे? बापू! आहाहा! भाई! यह तो सत्य की बातें हैं, बापू!

कहते हैं, **यथार्थस्वरूप से अवलोकते...** कैसा? ज्ञानस्वरूपी आत्मा। ज्ञानस्वरूपी आत्मा यथार्थरूप से अवलोकन करने पर... आहाहा! उसके सन्मुख होकर यथार्थता से अवलोकन करे, वह तो निश्चय हो गया। आहा! अर्थात् कि अनुभव करते हुए। ज्ञानस्वरूप आत्मा यथार्थ स्वरूप से अनुभव करते हुए। जैसा उसका शुद्ध स्वरूप है— पवित्र है, आनन्द का नाथ कन्द है। आनन्दकन्द है। अकेला आनन्द दल वह है। अतीन्द्रिय आनन्द का वह सत्त्व का दल है। आहाहा! यहाँ ज्ञानस्वरूप से लिया है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा जो ज्ञानस्वरूप आत्मा यथार्थ अनुभव करते हुए, ऐसा। अर्थात् कि व्यवहार का लक्ष्य और पक्ष छोड़कर अन्तर में स्वरूप शुद्ध चिद्घन आनन्द को अनुभव करते हुए।

राग-द्वेषादि दोषों का (भूमिकानुसार) यहाँ ही अभाव होता है;... उस भूमिका अनुसार। लिया है न? पाठ में ऐसा है न? क्षय होता है। अर्थात् पूर्ण की बात यहाँ ली है। इसलिए इन्होंने जरा स्पष्टीकरण किया। जितना भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसका जितना यथार्थ अन्तर अवलोकन करे, उतने राग-द्वेष के भाव उत्पन्न नहीं होते। उसे राग-द्वेष का क्षय करे, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। आहाहा! कहो, सेठ! यह तुम्हारे पण्डित सब मानते नहीं, विरोध करते हैं यहाँ का। उनका करता है। उन्हें खबर नहीं, बापू! आहाहा!

अन्दर स्वयं महाप्रभु है। चिद्घन आनन्दकन्द सच्चिदानन्द प्रभु है वह तो। यह ज्ञानस्वरूप से, ऐसा कहने पर ज्ञान की विकास शक्ति है न? ज्ञान का अंश विकासरूप है संसार में। आनन्द का अंश विकासरूप नहीं। समझ में आया? इसलिए इन्होंने लिया कि ज्ञानस्वरूप जो विकास है, उसे अन्दर लेने पर पूरा ज्ञानस्वरूप आत्मा है। समझ में आया? ऐसा मार्ग! यात्रा करने निकले हों। अब उसे ऐसा कहना कि यात्रा, वह धर्म नहीं है। यह तो हमारे भाई को ऐसा लगा था न? तम्बोली को। फूलचन्द तम्बोली थे न, वे बराबर यात्रा करके आये। बहुत वर्ष हुए, हों! लीलाधरभाई स्वर्गस्थ हो गये तब। स्वर्गस्थ हो गये उस दिन। कौन सा वर्ष? २००५ न? (संवत्) २००१। ओहोहो! यह तो २००१ के वर्ष। तो ३० वर्ष हुए। ओहोहो! वह तम्बोली थे न? सेठ! यहाँ तम्बोली। यहाँ छबलबहिन रहती हैं न? उनकी बहिन। ईसरी। उन्हें पहले से बहुत रस, हों! पहले करोड़पति हो गये थे। फिर टूट गये थे, फिर करोड़पति हुए, फिर टूट गये थे। ऐसा बहुत सब हुआ था। धीरुभाई नहीं। वे यहाँ यात्रा करके आये मौके से। और यहाँ कहा गया कि व्यवहार, वह धर्म नहीं। भड़क गये। यात्रा वह धर्म नहीं। ऐसा वे बेचारे आये होंगे। चढ़े हो गिरनार, शत्रुंजय। कितनी मेहनत करे। अब उन्हें ऐसा कहना कि... ऐई! चिमनलालजी!

जब तक... सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ स्व के आश्रय से, जब तक पूर्ण नहीं, तब तक राग भक्ति, यात्रा का भाव आता है, होता है। होता है, इसलिए वह धर्म का कारण है या धर्मरूप है, ऐसा नहीं है, भगवान! यह तेरी महिमा इसमें हट जाती है। राग

में आने पर उसकी शान्ति हट जाती है। कहा नहीं उसमें? कि पुण्य का भाव आने पर स्वरूप से पतित हो जाता है। पुण्य-पाप के अधिकार में। जयसेनाचार्य की टीका। आहाहा! (में कहा है)। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प, शास्त्र का पढ़ना, भगवान के कहे हुए शास्त्र, हों! उनका पढ़ना और पंच महाव्रत का आना। यह तीनों होने पर यह पाप है, उसमें कहा है वहाँ तो। आत्मा के स्वरूप से पतित होता है। आहाहा! समझ में आया? व्यवहार का विकल्प आता है, होता है। परन्तु होता है, उस काल में स्वरूप चिदानन्द प्रभु से तो पतित होता है, च्युत हो जाता है। अब उसे धर्म कैसे कहना? व्यवहार धर्म कहलाता है। अर्थात् कि धर्म नहीं, उसे व्यवहारनय से निश्चय हो उसके यह व्यवहारधर्म कहलाता है। आहाहा! परन्तु जहाँ स्व का आश्रय नहीं... आहाहा! उसके व्यवहार को व्यहाराभास है वह तो। आहाहा! ऐसी चीज़ भी जगत को बहुत कठिन पड़ती है। पण्डितों को खटकता है कैलाशचन्दजी को। इसलिए ऐसा डाले तब उसे सन्तोष होता है। अरे! भगवान! बापू! मार्ग तो यह है, हों! सत्य की शरण बिना कोई शरण नहीं है। भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द का नाथ-गठड़ी है। उसे खोलने में सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की पर्याय है। आहाहा! समझ में आया?

अनुभवते राग-द्वेषादि दोषों का (भूमिकानुसार) यहाँ ही अभाव होता है;... पाठ में तो ऐसा है सही न? '**क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।**' अर्थात् '**ऽत्रैव**' है परन्तु उस काल में ही है ऐसा कहते हैं। जितने अंश में स्वभाव का आश्रय लिया दर्शन-ज्ञान-चारित्र, अर्थात् आंशिक वहाँ राग की उत्पत्ति नहीं। वह राग का क्षय किया, ऐसा कहने में आता है। ऐसी है वस्तु। अब किस प्रकार वाद-विवाद करके ढीला कैसे करना? शान्तिभाई! आहाहा! मार्ग तो ऐसा है, भाई! समझ में आया?

इसलिए ज्ञानी कहता है कि 'इस जगत में मुझे कोई शत्रु-मित्ररूप भासित नहीं होता... कौन शत्रु और कौन मित्र? आहाहा! कौन सहायक और कौन विरोध करनेवाला? आहाहा! **शत्रु-मित्ररूप भासित नहीं होता अर्थात् वास्तव में कोई किसी का शत्रु-मित्र नहीं हो सकता।** आहाहा! माने भले अज्ञानी। इससे कहीं शत्रु-मित्र हो सकता है? वह तो ज्ञेय है। आहाहा! कौन शत्रु? बापू! आहाहा! अरे! ऐसे जन्म-मरण टालने का

अवसर आया, उस समय भी ऐसे झगड़े खड़े करना! अरे! तुझे शोभा नहीं देता, प्रभु! आहाहा! यह संसार चार गति में जल-सुलग रहा है। दु:ख से बेचारे अंगारों में सुलगे हैं। आहाहा!

सर्प का दृष्टान्त नहीं दिया था? चूड़ा में। गांठिया या भुजिया कुछ बनाते थे। जैन स्थानकवासी, फिर मन्दिरमार्गी। तब कुंवरजी स्थानकवासी थे। दूसरे उनके भाई और वह सब मन्दिरमार्गी। कुंवरजीभाई यहाँ आते थे। एक बार बारह महीने का धर्म का निकाला था, वह यहाँ दे गये थे। उन्होंने धर्मादा निकाला था। बारह महीने में निकाले न, वह दे गये बारह महीने का। एक बार। स्थानकवासी हैं, उन्हें प्रेम है। दूसरे तो सब भाई मन्दिरमार्गी हैं। वे बेचारे गांठिया या... गांठिया समझते हो? क्या कहते हैं? खाने का आटे का गांठिया होता है। वह गांठिया या भुजिया बनाते होंगे। भुजिया कहते हैं गांठिया को।

मुमुक्षु : मारवाड़ी भुजिया कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : भुजिया कहे। गांठिया नहीं होते? चने के आटे के। चने का आटे के ... वह ... ऊपर का तेल नीचे चढ़ाया। धुँआ-गर्मी लगी न! ऊपर से सर्प निकला। आधा गिरा तेल में और आधा बाहर रहा। बेचारे त्रास पा गये। वह झारी.. झारी थी न? उससे बनाते थे। ऐसे निकाला। परन्तु खबर नहीं कि कहाँ दु:ख से मुक्त हुआ जाये? इस दाह से कहाँ से मुक्त हुआ जाये, इसकी खबर नहीं होती। आहाहा! उलझन में वह वहाँ गिर गया भट्टी में और भट्टी में तो धगधगती अग्नि। समाप्त। बेचारा.... बन्द कर दिया। त्रास... त्रास... जयचन्दभाई! कुंवरजीभाई! आहाहा!

इसी प्रकार यह जीव अनादि का अज्ञान से जल-सुलग रहा है। और यह जल-जलकर कैसे छूटा जाये, इसकी खबर नहीं होती। और दाह के कारण ऐसे मिथ्यात्व और राग-द्वेष में वापस घुंटता है। वहाँ पड़ता है। आहाहा! समझ में आया? विपरीत मान्यता और राग-द्वेष, यह सब दु:खरूप है। आकुलता है। सम्यग्दर्शन और राग-द्वेष से रहित दशा, वह आनन्दमय है। आहाहा! वहाँ आनन्द है। आनन्द धूल में भी कहीं नहीं। पैसे में या स्त्री में या कीर्ति में या... आहाहा! लड़के का विवाह हो, दो-पाँच लाख खर्च

करता हो। दो-पाँच करोड़ की पूँजी हो। उस समय ऐसा उत्साह... उत्साह... उत्साह... उत्साह... यह किसका उत्साह? बापू! यह तो दुःख का उत्साह है। समझ में आया? उसमें विवाह करे लड़के का, विवाह हो जाने के बाद बड़ों को पैर छुए। बड़े हों न। सेठ! विवाह हो जाये न विवाह? फिर बड़े हों, तुम मुझे यह ठीक डाला अग्नि में। तुम पड़े थे ऐसा मुझे डाला। ऐई! नवरंगभाई! यह तो उसका उपकार मानता है। यह तो वे प्रसन्न हो जाये।

मुमुक्षु : सच्ची बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सच्ची बात है? आशीर्वाद दे। सौ वर्ष का होना, वृद्ध होकर मरना, ऐसा कहे। आहाहा! और क्या कुछ कहे? माँ के पास।

मुमुक्षु : सात पुत्रों की माँ हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा कुछ कहे। सात पुत्रों की माँ होना, बहू को ऐसा कहे। कहो, अब सात पुत्रों की माँ होना। आकुलता में रहना और दुःखी होना, ऐसा हुआ। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि इस जगत में शत्रु-मित्र कोई नहीं, भाई! यह तो कल्पित की हुई बात है। जहाँ ज्ञानस्वरूपी भगवान... यह आता है। आचारांग में पहले सूत्र में ऐसा कहते व्याख्यान में तब, हों! 'पुरिसा! तुमं एवं तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तंइच्छसि?' बोटाद में बड़ी सभा में। आचारांग के पहले भाग में है। श्वेताम्बर में, हों! 'पुरिसा! तुमं एवं तुमं मित्तं,....' तू तेरा मित्र है। आहाहा! 'किं बहिया मित्तंइच्छसि?' तेरे आत्मा के अतिरिक्त बाह्य में कहाँ मित्र को खोजता है? ऐसा सूत्र आता था। यह अर्थ तो मैं करता था। ... टुकड़े हो गये। मूल तो सब विपरीत बहुत परन्तु ऐसे टुकड़े कितने ही थे। और व्याख्यान चलता था। इसलिए लोग बहुत प्रसन्न (होते)। बोटाद में ३०० घर। हजारों लोग हमेशा व्याख्यान में हों। वहाँ ऐसा कहा था।

'पुरिसा!' हे आत्मा! 'तुमं ऐवं...' तू ही तेरा मित्र है। तू तेरा मित्र है। 'किं बहिया मित्तं इच्छसि?' क्या मित्र को बाहर में खोजता है? कोई बाहर में मित्र तो है नहीं। भाई! आहाहा! बाह्य पदार्थ तो सब दुःख में कारण-निमित्त है। दुःख तो स्वयं

उत्पन्न करता है। आहाहा! मेरी रक्षा करनेवाला है, मेरी सम्हाल करनेवाला है, यह मेरी अर्धांगिनी है। यह तो इसने माना है मिथ्यात्व में। इस मिथ्यात्व में वह निमित्त है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि आत्मा को शुद्ध चैतन्य का जहाँ आत्मस्वरूप का भान हुआ, अनुभव हुआ, राग-द्वेष उत्पन्न (नहीं होते)। इसलिए आंशिक शत्रु-मित्र कोई है नहीं। है ही नहीं शत्रु-मित्र। आहाहा! कोई शत्रु नहीं।

जब आत्मा, प्रबुद्ध होकर... जब आत्मा प्र-बुद्ध। प्र-विशेष आत्मा के अवलोकन में आया। अन्तर के अनुभव में आया। आहाहा! **यथार्थ वस्तुस्थिति का अनुभव करता है,...** यथार्थ आत्मा की वस्तुस्थिति, आनन्द और ज्ञानस्वरूप का अनुभव करता है। आहाहा! **तब उसकी राग-द्वेषरूप इष्ट-अनिष्ट की कल्पना मिट जाती है...** आहाहा! **और बाह्यसामग्री के साधक-बाधक बनते जीवों के प्रति,...** देखो! बाह्य सामग्री के बाधक और साधक। शत्रु बाधक और स्त्री, कुटुम्ब साधक। बाह्य सामग्री में। **जीवों के प्रति, उसको उपेक्षाबुद्धि रहती है;...** धर्मी जीव को तो पर के प्रति उपेक्षा (रहती है)। यही व्यवहार की अपेक्षा आ गयी। आहाहा! समझ में आया?

'भूदत्थमस्सिदो खलु समादिट्ठी हवदि जीवो' यह सिद्धान्त। (समयसार) ११वीं गाथा का महासिद्धान्त। जैनदर्शन का प्राण। भूतार्थ भगवान आत्मा, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। यह तो एक नय हुआ। दूसरा नय तो वहाँ रहा नहीं। दूसरा नय नहीं, तब ही इसे निश्चयनय कहा जाता है। अब इस निश्चय में बहुत कहो तो कि व्यवहारनय आवे तो दो नय में आया कहलाये। तो कहते हैं, व्यवहार जो राग की पर्याय है, उसकी उपेक्षा हुई, उतनी व्यवहार की अपेक्षा कहलाती है। आहाहा! समझ में आया? भाई ने डाला है। फूलचन्दजी ने डाला है। यहाँ तो ऐसा ही कहा कि भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। एकान्त कहा। वहाँ तो अभूतार्थ के—पर्याय के आश्रय से सम्यग्दर्शन हो, वह तो इनकार ही किया। राग के आश्रय से नहीं होता, निमित्त के आश्रय से नहीं होता। क्योंकि अंश में पूरी चीज़ कहाँ आयी है? और पूरी चीज़ के आश्रय बिना सत्य पूर्ण कहाँ दृष्टि में आया? समझ में आया? आहाहा!

सत् पूर्ण जो है ध्रुव चैतन्यमूर्ति ऐसा पूर्ण स्वरूप सम्यक् जैसा है, वैसा दृष्टि में न आवे तो वह सम्यग्दृष्टि कहाँ से हुआ? आहाहा! वहाँ अपूर्ण की भी उपेक्षा हो गयी। वह उपेक्षा हुई, यही अपेक्षा। आहाहा! यह एकान्त लगता है, हों! सबको एकान्त लगता है। कैलाशचन्दजी को, यह सब एकान्त है... एकान्त है (कहते हैं)। परन्तु चलेगा धीरे-धीरे। उन्होंने कहा कि दोनों को भले रखो। और जैन में से निकाल नहीं डालते। ऐसा कि दिगम्बर साधु सब दिल्ली में मक्खनलालजी ने कहा था जाकर। शान्तिभाई! सुना है? मक्खनलालजी ने वहाँ कहा। सब साधु को—धर्मसागर, यह विद्यासागर, विद्यानन्दजी... दूसरे कौन वे? देशभूषण। यह सोनगढ़ है, वह एकान्त है, दिगम्बर धर्म से विरुद्ध है। इसलिए आप सब होकर निश्चित करो कि यह दिगम्बर नहीं है। मक्खनलालजी ने कहा। तब दूसरों ने ऐसा कहा, नहीं। ऐसा नहीं। निकाल डालो तो निकाल डालेंगे हम... आहाहा!

यहाँ तो भगवान आत्मा व्यवहार से तो निकल गया जहाँ... आहाहा! उसे तो कहाँ अब निकालना है? वस्तु नित्यानन्द प्रभु की शरण लेने से व्यवहार से भी पृथक् पड़ गया। व्यवहार के साथ रहा नहीं। वह स्वयं ही व्यवहार से निकल गया। अब उसे रखना है कहाँ तुझे? आहाहा!

कहते हैं, **बाह्यसामग्री के साधक-बाधक बनते जीवों के प्रति, उसको उपेक्षाबुद्धि रहती है; इसलिए वह न तो किसी को शत्रु समझता है अथवा न किसी को मित्र मानता है। इस प्रकार आत्मस्वरूप की भावना के बल से,...** आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध स्वरूप की भावना। भावना अर्थात् एकाग्रता, उसकी सन्मुखता। आहाहा! **आत्मस्वरूप की भावना के बल से, उसके राग-द्वेषादि का नाश होने पर, उसको किसी के प्रति शत्रु-मित्रपना नहीं रहता।**

विशेष - ज्ञानभावनारूप से परिणमित ज्ञानी विचारता है कि... यह अपने ७३ गाथा डाली समयसार की।

मैं एक शुद्ध ममत्व हीन रु, ज्ञान दर्शन पूर्ण हूँ।
इसमें रहूँ स्थित लीन इसमें, शीघ्र ये सब क्षय करूँ॥७३॥

मेल किया है, हों! यहाँ क्षय आया है न पाठ में? इसलिए गाथा इन्होंने मेलवाली डाली है छोटाभाई ने। पाठ है न? क्षय करूँ है न? रागादि। देखो! '**क्षीयन्ते**' पहला ही पद है। '**क्षीयन्ते अत्र एव**' रागादि आदि। आहाहा!

'**निश्चय से मैं एक हूँ,....** धर्मी सम्यग्दृष्टि धर्म की दशा में परिणमित। ऐसा है न, वहाँ ३८ में यह? आहाहा! **मैं एक हूँ...** वहाँ तीनों से परिणमित ऐसा लिया है। ३८ है सही न। जीव का पूर्ण स्वरूप। दर्शन-ज्ञान, चारित्र तीनों। आहाहा! दर्शन, ज्ञान और चारित्र, तीनों में मैं परिणमित ऐसा एक हूँ। आहाहा! **शुद्ध हूँ,...** अत्यन्त पवित्रता का पिण्ड हूँ। आहाहा! मैं अनेक हूँ, यह नहीं। सवेरे आया था न? पर्याय से देखो तो अनेक है, अन्य है। द्रव्य से देखो तो तन्मय है, अभिन्न है। दूसरा क्या था? तीन-चार शब्द थे न? अनन्य, अभिन्न, एक और तन्मय चार शब्द थे। आहाहा!

मैं एक हूँ... गुण-गुणी के भेदरूप से अनेक, वह मैं नहीं। आहाहा! **शुद्ध हूँ...** यह अस्ति से लिया। **ममतारहित हूँ...** अब नास्ति से। आहाहा! रागादि मेरे हैं, उनसे मैं रहित हूँ। व्यवहार का विकल्प है, समकिती ऐसा जानता है कि मैं उससे रहित हूँ। **ज्ञान-दर्शन से पूर्ण हूँ...** अब स्पष्टीकरण किया। एक और शुद्ध परन्तु है, क्या वह चीज़? एक और शुद्ध तो एक परमाणु भी कहलाता है। परमाणु भी द्रव्य से तो एक है और शुद्ध ही है। जड़रूप से परन्तु वह शुद्ध है। आहाहा! तब कहते हैं कि **मैं ज्ञानदर्शन से पूर्ण हूँ...** आहाहा! जानना और देखना ऐसा स्वभाव, वस्तु का स्वभाव, वह पूर्ण ही होता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग बेचारों को सुनने को मिलता नहीं। एकान्त करे। कहीं है नहीं। सब भटकने के रास्ते को मानकर बैठे हैं। व्रत पालन करो, अपवास करो, दया पालो, पूजा-भक्ति करो, मन्दिर बनाओ। जाओ, तुम्हारे धर्म होगा। सेठ! आहाहा! वापस यहाँ कहते हैं कि वह मन्दिर भी उसके कारण से हुआ है। इसमें एकान्त नहीं? आहाहा! तो रामजीभाई ने यह ध्यान रखा, उसका क्या हुआ? यह अभी तक कितना ध्यान रखा? ऐई! वजुभाई ने सब कितना किया, लो! इसके नक्शे बनाये। भाई कहते थे। अभी आया था, हों! धनजीभाई आये थे। यहाँ काम करते हैं न! उन्होंने नक्शा बनाया है न। सब उन्होंने बनाया है कागज में। यह लिखा है डॉक्टर जयन्ती प्रसाद ने,

भवन देखो तो रम्य और सब ऐसा। परन्तु एक अपूर्ण–एक क्षति है। लिखा नहीं परन्तु उसका अर्थ यह है।

मुमुक्षु : व्यवहार से लाभ होता है, ऐसा कहते नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इतनी बात है। अथवा व्यवहार करो, ऐसा भी नहीं कहते। यात्रा करना, भक्ति करना। भाई होता है, उसे करना, यह मान्यता मिथ्यात्व है। सुन न! राग करना है कहाँ? राग को करना है? स्वरूप शुद्ध है, उसमें वह राग को करे? वहाँ उसमें है, उसकी शक्ति वह राग को करे? आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग है, भाई! दुनिया के साथ मिलान खाये, ऐसा नहीं है, भाई!

मुमुक्षु : दुनिया रागी और धर्म वीतरागी। दोनों को मिलान कहाँ से हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : वीतरागी धर्म, बापू! सम्यग्दर्शन, वह वीतरागी पर्याय है। सराग समकित, इसलिए ऐसा नहीं। वह तो राग का दोष चारित्र में था (इसलिए सराग) समकित (नाम) मात्र है। समकित सराग नहीं है। आहाहा! सम्यग्दर्शन तो पूर्ण आनन्द की प्रतीतिरूप वीतरागी पर्याय है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, मैं **ज्ञानदर्शन से पूर्ण हूँ...** जिसे जानना और देखना—ऐसा ही स्वभाव, उस स्वभाव में पूर्ण ही हूँ। स्वभाव में अपूर्णता और विपरीतता कहाँ आयी? आहाहा! देखो! ऐसी बातें हैं, भाई! **उस स्वभाव में रहता हुआ...** है न? ऐसे स्वभाव में रहता हुआ। ज्ञान और दर्शन मेरा पूर्ण स्वभाव, उसमें रहता हुआ, यह पर्याय हुई। पूर्ण जो ज्ञान–दर्शन स्वभाव है, उसमें रहता हुआ, यह पर्याय हुई। वह पूर्ण गुण और द्रव्य हुआ। आहाहा! उसमें लिया है। नय दो क्यों लिये? कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। गुणार्थिक क्यों नहीं लिया? तब उसमें लिखा है। यह तो इसमें भी पूछा है अपने शास्त्र में। भाई! गुण है वह सामान्य है, वह द्रव्यार्थिक में सम्मलित हो जाते हैं। इसलिए गुण का नय गुणार्थिकनय अलग नहीं है। गुण, वे सामान्य हैं और द्रव्य भी सामान्य है। इसलिए द्रव्य में यह गुणार्थिकनय, वह गुण सम्मिलित हो गया। श्वेताम्बर ऐसा कहते हैं परन्तु उसमें आया है कल, नय के वांचन में। यह तो आ गया। दो ही नय और गुण है, वह तीसरा, इसलिए गुण नहीं? ऐसा उस श्वेताम्बर में आता है। द्रव्य और पर्याय

दो। गुण नहीं। आहाहा! अरे! भाई! द्रव्य एकरूप और गुण अनेक। दोनों ध्रुव हैं, दोनों सामान्य है। दोनों परिपूर्ण है। इसलिए गुणार्थिकनय कहो या द्रव्यार्थिकनय, सब एक है। एक गुण को पृथक् कर जाओ, तब तो वह पर्यायनय में जाता है। और अनन्त गुण का एकरूप लो तो वह द्रव्यार्थिक और गुणार्थिक दोनों एक ही हो गये। समझ में आया? वस्तुस्थिति ऐसी है। आचार्यों ने तो बहुत काम किया है। बहुत स्पष्ट किया है। ओहोहो!

मुमुक्षु : स्पष्ट तो आप करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें स्पष्ट है न, बापू! आहाहा! दिगम्बर सन्तों ने गजब काम किया है! आहाहा! अभूतपूर्व काम!! आहाहा! ऐसी स्थिति को दिगम्बर सन्तों ने बनाये रखा है। केवली के मार्ग को बनाये रखा है, बापू!

यह तो गुणार्थिक का आता है। श्वेताम्बर कहते हैं कि गुणार्थिकनय नहीं, इसलिए गुण नहीं। द्रव्य और द्रव्य दो है। अरे भाई! ऐसा नहीं है। द्रव्य जैसे त्रिकाली सामान्य है, वैसे ज्ञान, दर्शन, आनन्द अनन्त गुण का सामान्य है, वह द्रव्यार्थिकनय में आ गये। अंश जो दशा है, वह पर्यायनय। दो नय में पूर्णता आ जाती है। समझ में आया? आहाहा! यह लोगों को ऐसा कि बाहर का उत्साह और हर्ष आवे न! मन्दिर बनाने की, यात्रा करने की बहुत उन्होंने लेखन (किया है), यात्रा की महिमा की है। यात्रा करने जाते-जाते कितने लोगों को मिलाये। कैसे हैं वह बतलाये, कैसा कामकाज... यह तो पंचाध्यायी में लिया है, हों!

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि को तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : जाना। पण्डितों को वहाँ इकट्ठा होना। यह तो उनका विकल्प है। व्यवहार है न इतना। एक होता है, यह बताया है। व्यवहार नहीं? मुनि हो तो भी उसे व्यवहार नहीं? पंच महाव्रतादि के विकल्प हैं, वह व्यवहार है। आहाहा! और गुरु हो, वहाँ शिष्य मुनि हो वह जाये। यह क्या है? यह सब विकल्प व्यवहार है। यात्रा के लिये जाये। मुनि भी जाये। यह विकल्प उठे, राग है। जानते हैं कि परद्रव्य के आश्रय से यह भाव हुआ। परन्तु मेरी निर्बलता के कारण यह भाव आये बिना रहता नहीं। आहाहा!

उस स्वभाव में रहता हुआ... इसका अर्थ कि मैं राग में और व्यवहार में नहीं रहता। आहाहा! ऐसा हुआ या नहीं? **उसमें-उस चैतन्य-अनुभव में लीन होता हुआ, मैं...** एक शुद्ध ममतारहित परिपूर्ण में लीन होता हुआ मैं, **चैतन्य-अनुभव में लीन होता हुआ,...** यह तो अनुभव और पर्याय की लीनता को वेदता है। चैतन्य के स्वभाव सन्मुख में लीन होता हुआ मैं **इन क्रोधादिक सर्व आस्रवों का क्षय कराता हूँ।** आहाहा! जितने अंश में स्वभाव की शरण में गया, उतने अंश में विभाव के अंश का नाश होता है। आहाहा! कठिन काम भाई ऐसा। समझ में आया?

सारांश यह है कि जब ज्ञानी, अपने आत्मस्वरूप को यथार्थरूप से जानकर,... अपने आत्मस्वरूप को—आत्मस्वरूप को। व्यवहार को (जानकर), ऐसा नहीं। आहाहा! **यथार्थरूप से जानकर, उसमें लीन होता है, तब उसके आस्रवभाव—राग-द्वेषादि विकार...** आस्रवभाव अर्थात् रागादि विकार। ऐसा। **स्वयं उत्पन्न नहीं होते...** देखा! यहाँ सुना हुआ है न, सब सुना है। मैंने (छोटालालभाई ने-सोनगढ़ में) वहाँ सुना है वह यह... **विकार स्वयं उत्पन्न नहीं होते...** आहाहा!

निहालभाई ने डाला है उसमें—द्रव्यदृष्टिप्रकाश में। देखो तो सही, ऐसा लिखा है कि आत्मा में एकाग्र हो तो उसे राग उत्पन्न नहीं होता, उसे नाश होता है, ऐसा महाराज तो कहते हैं। पत्र में है। आहाहा! समझ में आया? **ऐसी स्थिति में उसको कोई शत्रु-मित्र भासित नहीं होता; उसको सभी के प्रति समभाव प्रगट होता है।** यह गाथा पूरी हुई। यह गाथा पूरी....

श्लोक - २६

यदित्वमन्यस्य कस्यचिन्न शत्रुर्मित्रं वा तथापि तवान्यः कश्चिद्द-विष्यतीत्याशंक्याह -

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः॥ २६॥

किं आत्मस्वरूपे प्रतिपन्नेऽप्रतिपन्ने वाऽयं लोको मयि शत्रुमित्रभावंप्रतिपद्यते ? न तावदप्रतिपन्ने। मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः। अप्रतिपन्ने हि वस्तुस्वरूपे रागाद्युत्पत्तावतिप्रसङ्गः। नापि प्रतिपन्ने। यतः मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः। आत्मस्वरूपप्रतीतौ रागादिकप्रक्षयात् कथं क्वचिदपि शत्रुमित्रभावः स्यात् ?॥२६॥

भले ही तुम अन्य किसी के शत्रु-मित्र न हो, तो भी अन्य कोई तो तुम्हारा शत्रु-मित्र होगा न ? — ऐसी आशङ्का की है, उसका समाधान करते हैं —

जो मुझको जाने नहीं, नहीं मेरा अरि मित्र।
जो जाने मम आत्म को, नहीं शत्रु नहीं मित्र॥ २६॥

अन्वयार्थ - (मां) मेरे आत्मस्वरूप को (अपश्यन्) नहीं देखता हुआ, (अयं लोकः) यह अज्ञ प्राणिवृन्द, (न मे शत्रुः) न मेरा शत्रु है (न च प्रियः) और न मित्र है तथा (मां) मेरे आत्मस्वरूप को (प्रपश्यन्) देखता हुआ, (अयं लोकः) यह प्रबुद्ध प्राणिगण, (न मे शत्रुः) न मेरा शत्रु है (न च प्रियः) और न मित्र है।

टीका - आत्मस्वरूप समझ में आये या न समझ में आवे, तो भी यह लोक मेरे प्रति शत्रु-मित्रभाव कैसे करे ? प्रथम तो (आत्मस्वरूप) न समझे, तो भी वह न करे, क्योंकि यह लोक मुझे देखता नहीं; इसलिए वह मेरा शत्रु नहीं और मेरा मित्र नहीं; जहाँ वस्तुस्वरूप न समझ में आवे, वहाँ भी रागादि की उत्पत्ति हो तो अतिप्रसङ्ग आयेगा।

(वस्तुस्वरूप) समझ में आने पर भी न (कोई मेरा शत्रु-मित्र है) क्योंकि यह (ज्ञानी) लोक, मुझे देखता (जानता) होने से, वह न मेरा शत्रु है, न मेरा मित्र है।

आत्मस्वरूप की प्रतीति होने पर, रागादि का क्षय (अभाव) होने से, कथञ्चित् भी शत्रु-मित्रभाव किस प्रकार हो सकता है ?

भावार्थ :- अन्तरात्मा समाधान करता है कि 'अज्ञानीजन तो मेरे आत्मा को देखते-जानते नहीं। मेरा आत्मस्वरूप अतीन्द्रिय होने से उनकी इन्द्रियों के अगोचर है; इसलिए वे मेरे विषय में शत्रु-मित्र की कल्पना किस प्रकार कर सकते हैं? वे मेरे जड़शरीर को ही देखते हैं; शरीर से अत्यन्त भिन्न मेरा आत्मा तो दिखता नहीं; अतः भले ही वे मेरे शरीर को शत्रु-मित्र माने; मुझे (मेरे आत्मा को) उससे क्या?'

ज्ञानीजन, मेरे शुद्धात्मस्वरूप को यथावत् जानते होने से, उनमें राग-द्वेषादि का अभाव है; इसलिए उनमें मेरे प्रति शत्रु-मित्रभाव किस प्रकार हो सकता है?

इस प्रकार ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई जीव, मेरे शत्रु या मित्र नहीं हैं॥२६॥

श्लोक - २६ पर प्रवचन

भले ही तुम अन्य किसी के शत्रु-मित्र न हो, तो भी अन्य कोई तो तुम्हारा शत्रु-मित्र होगा न? — ऐसी आशङ्का की है, उसका समाधान करते हैं —

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः॥ २६॥

आहाहा! **टीका - आत्मस्वरूप समझ में आये या न समझ में आवे, तो भी यह लोक मेरे प्रति शत्रु-मित्रभाव कैसे करे?** सामनेवाले को ज्ञानी का आत्मस्वरूप समझ में आये ज्ञानी को या न समझ में आये अज्ञानी को। यह **यह लोक मेरे प्रति शत्रु-मित्रभाव कैसे करे?** किसलिए करे नहीं? कि **प्रथम तो (आत्मस्वरूप) न समझे, तो भी वह न करे, क्योंकि यह लोक मुझे देखता नहीं;...** मेरा स्वरूप जो है, उस प्रकार से तो देखता नहीं। उसके स्वरूप को उसने देखा नहीं। इसलिए मेरे स्वरूप को भी उसने देखा नहीं। आहाहा! क्योंकि आत्मस्वरूप न समझ में आये, ऐसे प्राणी, वे मेरे स्वरूप को जानते नहीं, इसलिए वे नहीं करते। क्योंकि यह लोक मुझे देखता नहीं, इसलिए यह मेरा शत्रु नहीं। आहाहा! शत्रु नहीं, इसकी व्याख्या की। यह लोक मुझे देखता नहीं, मुझे देखे बिना यह शत्रु किस प्रकार हो? आहाहा! **इसलिए वह मेरा शत्रु नहीं और मेरा मित्र नहीं;...** कौन? स्वरूप के अजान अज्ञानी। वे मेरे स्वरूप को जानते नहीं, उनके स्वरूप

को जानते नहीं। इसलिए वे मेरे शत्रु और मित्र नहीं हो सकते। आहाहा! वे नहीं हो सकते, ऐसा कहते हैं। है न?

जहाँ वस्तुस्वरूप न समझ में आवे, वहाँ भी रागादि की उत्पत्ति हो तो अतिप्रसङ्ग आयेगा। अर्थात् क्या कहते हैं? वस्तु की खबर नहीं और हमारा वह द्वेषी हो या मित्र हो। तो अतिप्रसंग हो जाये। ऐसा है नहीं। समझ में आया? यह तो विरोध आवे, ऐसा कहते हैं। चैतन्यस्वरूप वीतरागमूर्ति प्रभु को जिसने जाना नहीं, वह मेरे स्वरूप को तो जानता नहीं। तो मेरे स्वरूप के प्रति राग-द्वेष करे, यह तो अतिप्रसंग आता है, कहते हैं। यह मिथ्यापन आता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? यह समाधिशतक है। समझ में आया?

जहाँ वस्तुस्वरूप न समझ में आवे, वहाँ भी रागादि की उत्पत्ति हो तो अतिप्रसङ्ग आयेगा। क्या अतिप्रसंग? समझ में आया? मुझे और उसे उसने जाना नहीं। और मेरे प्रति राग और द्वेष हो, यह किस प्रकार बने? मेरा मित्र और मेरा यह शत्रु, यह नहीं हो सकता। क्योंकि उसने वस्तु का स्वरूप जाना नहीं। ऐसा कहते हैं। आहाहा! गजब व्याख्या ऐसी धर्म की। सम्प्रदाय में जाये तो कहे व्रत करो, अपवास करो, प्रोषध करो, सामायिक करो। मन्दिरमार्गी हो तो (कहे) यात्रा करो। पालीताणा की और सम्मेदशिखर की। दिगम्बर हो तो कहे, वस्त्र छोड़ दो, नग्न होओ या प्रतिमा धारण करो। ऐसा कहे, प्रतिमा धारण करो। अरे! बापू! अभी वस्तु क्या है, इसके भान बिना प्रतिमा कैसी? व्रत कैसा? भाई! आहाहा! यह विरोध करते हैं। कहते हैं कि इसे वस्तु समझ में आयी नहीं, इसलिए मेरी वस्तु, इसे खबर नहीं तो यह किसका विरोध करे? इसका स्वयं का करता है। आहाहा!

(वस्तुस्वरूप) समझ में आने पर भी... अब सुलटा लिया। जिसने वस्तु का स्वरूप जाना है ऐसे ज्ञानी... आहाहा! **न (कोई मेरा शत्रु-मित्र है) क्योंकि यह (ज्ञानी) लोक, मुझे देखता (जानता) होने से,...** ज्ञानी लोक मुझे जानता है कि यह तो ज्ञानस्वरूप है। आहाहा! **वह न मेरा शत्रु है, न मेरा मित्र है।** आहाहा! अज्ञानी समझते नहीं, इसलिए मेरे स्वरूप को जानते नहीं। तो वह राग-द्वेष करे तो वह अतिप्रसंग हो जाता है। वह

मुझे जानता नहीं और राग-द्वेष करता है। और हमको जो जाननेवाले हैं, वे मुझे जानते हैं कि यह तो ज्ञानस्वरूप आत्मा है। अब इसका शत्रु-मित्र किस प्रकार हो सके? आहाहा! वाह! कैसी दलील! आहाहा! जादवजीभाई! ऐसा यहाँ कहते हैं। कहते हैं कि मैं जो हूँ, वह तो आत्मस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन हूँ। और ऐसे चैतन्यघन स्वरूप को जिसने जाना नहीं, उसका, वह मुझे भी ऐसा जाना नहीं कि यह चैतन्यस्वरूप है। तो उसने उसका जाना नहीं, मेरा उसने जाना नहीं, तो राग-द्वेष किस प्रकार कर सकता है मेरे प्रति? आहाहा! समझ में आया?

आत्मस्वरूप की प्रतीति होने पर, रागादि का क्षय (अभाव) होने से, कथञ्चित् भी शत्रु-मित्रभाव किस प्रकार हो सकता है? ऐसा। किसी प्रकार शत्रु-मित्र होकर कैसे हो सकता है? ऐसा कहते हैं।

भावार्थ :- अन्तरात्मा समाधान करता है कि 'अज्ञानीजन तो मेरे आत्मा को देखते-जानते नहीं। मेरा आत्मस्वरूप अतीन्द्रिय होने से उनकी इन्द्रियों के अगोचर है; इसलिए वे मेरे विषय में शत्रु-मित्र की कल्पना किस प्रकार कर सकते हैं? मेरा विषय जिसे ख्याल में आया नहीं। आये बिना वह शत्रु-मित्र किस प्रकार कर सकता है वह? आहाहा! सन्तों की भाषा तो देखो! **अज्ञानीजन तो मेरे आत्मा को देखते-जानते नहीं। मेरा आत्मस्वरूप अतीन्द्रिय होने से उनकी इन्द्रियों के अगोचर है; इसलिए वे मेरे विषय में शत्रु-मित्र की कल्पना किस प्रकार कर सकते हैं?** ऐसा कहते हैं। मेरे सम्बन्धी शत्रु (की कल्पना)। क्योंकि मैं कौन हूँ, इसकी तो खबर नहीं उसे। उसे उसकी खबर नहीं, इसलिए मेरी भी उसे खबर नहीं। आहाहा! कहो, पण्डितजी! आहाहा!

वे मेरे जड़शरीर को ही देखते हैं;... आहाहा! **शरीर से अत्यन्त भिन्न मेरा आत्मा तो दिखता नहीं; अतः भले ही वे मेरे शरीर को शत्रु-मित्र माने; मुझे (मेरे आत्मा को) उससे क्या?** आहाहा! वह तो शरीर को देखकर यह शत्रु है और यह शत्रु है-मित्र है। (ऐसा मानता है)। वह तो जड़ है। वह अन्दर भगवान स्थित है, वह तो भिन्न तत्त्व है। आहाहा! उसे तो इसके ज्ञान का विषय बना नहीं क्योंकि इन्द्रिय के विषय में वह आ नहीं सकता आत्मा। इसलिए ज्ञान का विषय इसने बनाया नहीं। तो उस जड़ के साथ

शत्रु-मित्र सम्बन्ध भले करे। मेरे साथ नहीं कर सकता। आहाहा! समझ में आया? यह स्त्री, पुत्र सब मित्ररूप से सम्हाल नहीं रखते? ऐई! मलूकचन्दभाई! ऐसे चार लड़के पैसेवाले करोड़पति और पकाने के लिये स्त्री रखना पड़े। कौन है? कौन पकाये और कौन सहायता दे? कहते हैं। आहाहा!

मुझे (मेरे आत्मा को) उससे क्या? शरीर देखता है, उसके साथ शत्रु-मित्रता करता है, उसमें मुझे क्या? मैं उसे दिखता नहीं तो मेरा विषय तो उसे लक्ष्य में आया नहीं। तो वह मेरे प्रति राग-द्वेष (करके) शत्रु-मित्र किस प्रकार हो सकता है? देखो न बात! ओहोहो! समाधान-शान्ति रखने की कला। आहाहा!

ज्ञानीजन, मेरे शुद्धात्मस्वरूप को यथावत् जानते होने से,... जो ज्ञानी हैं, धर्मी हैं, वे तो मेरे स्वरूप को यथावत् जानते हैं। क्योंकि उसने जाना है, ऐसा मैं हूँ। आहाहा! **उनमें राग-द्वेषादि का अभाव है;...** क्योंकि मैं स्वयं ज्ञानस्वरूप हूँ, उसे ज्ञानस्वरूप का भान है। उसमें भी राग-द्वेष नहीं, मुझमें भी राग-द्वेष नहीं, ऐसा ज्ञानी को ज्ञात होता है। आहाहा! ऐसी सब ऊँची बातें लगे लोगों को। ऊँची नहीं। यह तो अभी सम्यग्दर्शन की समाधान की बातें हैं। आहाहा! यह तो मूल-मूल की बातें हैं। यह उसे ऐसा मानता है कि यह सब निश्चय... निश्चय... निश्चय। यात्रा करते-करते कल्याण होगा, पण्डित मिले, विद्वान मिले और बहुतों के विचार सुनने को मिले। उससे क्या? वह तो सब विकल्प है। दान में पैसा खर्च करने को मिले, ऐसे प्रसंग में दान दिया जाये, पैसा खर्च हो। परन्तु उससे क्या? वह शुभराग है, शुभराग है। आहाहा!

ज्ञानीजन, मेरे शुद्धात्मस्वरूप को यथावत् जानते होने से, उनमें राग-द्वेषादि का अभाव है;... उनमें राग-द्वेष का अभाव है। तो यहाँ मेरा स्वरूप जाने, उसमें भी राग-द्वेष का अभाव है। आहाहा! **इसलिए उनमें मेरे प्रति शत्रु-मित्रभाव किस प्रकार हो सकता है?** आहाहा! उसे तो ज्ञाता-दृष्टा का भाव हुआ। वह शत्रु-मित्र किस प्रकार होगा? मैं भी ज्ञाता-दृष्टा हूँ। यह जानता है कि ज्ञाता-दृष्टा है। अब वह किस प्रकार शत्रु-मित्र होगा? समझ में आया? ओहोहो!

दिगम्बर सन्त एक से एक कोई भी देखो, उन्होंने परम सत्य को प्रसिद्ध कर दिया

है। आहाहा! समझ में आया? महाधर्मात्मा सन्त केवलज्ञानी के पथानुगामी अल्प काल में केवल(ज्ञान) लेनेवाले हैं यह सब। यह पंचम काल, इसलिए पुरुषार्थ इतना नहीं हो सकता। इसलिए स्वर्ग में गये हों। आहाहा! परन्तु वह अल्प काल में एकाध भव में केवल(ज्ञान) लेनेवाले हैं। ऐसी बात है यह। देखो! आहाहा! उसमें (श्वेताम्बर में) आता है। हेमचन्द्र आचार्य बड़े कलिकाल सर्वज्ञ। यह एक इमली के नीचे खड़े थे। तब पहले वे पीपल के नीचे खड़े थे। तब उस देखनेवाले ने प्रश्न किया। पहले पीपल के नीचे खड़े थे, बड़ के नीचे। परन्तु फिर प्रश्न किया तब वहाँ से निकलकर इमली के नीचे थे। इसलिए प्रश्न किया भगवान को। वहाँ ऐसी सब बातें आती हैं। इन हेमचन्द्राचार्य को भव कितने? कि वे वृक्ष के नीचे खड़े हैं, जितने पत्ते उतने उनके भव। वहाँ वह प्रसन्न हुआ कि ओहोहो! वड़ के पत्ते तो बहुत थोड़े। समझ में आया? यहाँ आकर जहाँ देखता है तो इमली के... इमली समझते हो? (इमली) उसके पत्ते बहुत होते हैं इमली के। बहुत पत्ते। अरे! महाराज को प्रश्न किया। अवधिज्ञानी, इसलिए कोई... वहाँ तो तुम्हारे वृक्ष के नीचे पत्ते हैं। उसमें नीचे है, वह तो बहुत है। तो भी अच्छा है। इतने भव हैं न तो इतने पत्ते। ऐसी बात आती है, लो। ऐसी बात आती है। आहाहा!

इतने भव धर्मी को होते ही नहीं। धर्मी को तो बहुत-बहुत हो तो सात-आठ भव अर्थात् पन्द्रह। आठ मनुष्य के और सात देव के। बस। उन्हें दूसरी गति नहीं होती। आहाहा! मुख्य वस्तु ऐसी है। गौणरूप से बहुत भव कहे समकिती को।... तथापि वह सम्यग्ज्ञान-दर्शन की भाँति उग्र आराधना है, वह तो इन पन्द्रह से अधिक नहीं हो सकती। यह तो एक-दो भव में जाये। समझ में आया? तो कहते हैं कि यह शत्रु-मित्र किस प्रकार हो सकता है?

इस प्रकार ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई जीव, मेरे शत्रु या मित्र नहीं हैं। आहाहा! कहो, समझ में आया? महा—मीठी-मधुर बात है। ज्ञानस्वरूपी भगवान, जिसकी नजरों में निधान देखे, कहते हैं कि वह जीव तो राग-द्वेष रहित है दृष्टि में। वह तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप का स्वामी है। आहाहा! ऐसा दूसरा ज्ञानी भी ऐसे स्वरूप को जो जानता

है, वह मेरी चीज़ को भी ऐसी ही जानता है। तो मेरे प्रति उसे मित्र-शत्रु किस प्रकार (हो सकता है) ? ज्ञातापने में मित्र-शत्रु कहाँ से आया ? समझ में आया ? और उसका शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा का स्वरूप, ज्ञानस्वरूप जाना नहीं उसने, तो मेरा स्वरूप मैंने माना है, ऐसा तो उसने जाना नहीं। क्योंकि इन्द्रियग्राह्य मैं हूँ नहीं। अतीन्द्रिय ग्राह्य जिसे होना हो आत्मा, वह अतीन्द्रिय ग्राह्य मुझे जाने। आहाहा! इन्द्रिय से शरीर दिखता है और उसके साथ शत्रु-मित्र (की कल्पना) करे—जड़ के साथ, उसमें मुझे क्या ? आहाहा! अब २७वीं गाथा। यह २६ (गाथा पूरी) हुई।

(**श्रोता** : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - २७

अन्तरात्मनो बहिरात्मत्वत्यागे परमात्मत्वप्राप्तौ चोपायत्वं दर्शयन्नाह -

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् (तः)॥ २७॥

एवमुक्तप्रकारेणान्तरात्मव्यवस्थितः सन् बहिरात्मानं त्यक्त्वा परमात्मानं भावयेत्। कथंभूतं? सर्वसंकल्पवर्जितं विकल्पजालरहितं अथवा सर्वसंकल्पवर्जितः सन् भावयेत्॥२७॥

अन्तरात्मा को, बहिरात्मपने के त्याग का और परमात्मपने की प्राप्ति का उपाय दर्शाते हुए कहते हैं —

यों बहिरातम दृष्टि तज, हो अन्तर-मुख आत्म।
सर्व विकल्प विमुक्त हो, ध्यावे निज परमात्म॥ २७॥

अन्वयार्थ - (एवं) इस प्रकार (बहिरात्मानं) बहिरात्मपने को (त्यक्त्वा) छोड़कर, (अंतरात्मव्यवस्थितः) अन्तरात्मा में स्थित होते हुए (सर्वसंकल्पवर्जितं) सर्व सङ्कल्प -विकल्पों से रहित (परमात्मानं) परमात्मा को (भावयेत्) ध्याना चाहिए।

टीका - इस प्रकार अर्थात् उक्त प्रकार से अन्तरात्मा में व्यवस्थित होकर और बहिरात्मा का त्याग करके, परमात्मा की भावना करना। कैसा होकर? सर्व सङ्कल्पों से रहित होकर-विकल्पजालरहित होकर अर्थात् सर्व सङ्कल्प से मुक्त होकर (परमात्मा की भावना करना)।

भावार्थ - प्रथम, जीव बहिरात्मपने को छोड़कर, आत्मस्वरूप के सन्मुख होने पर, अन्तरात्मा होता है; तत्पश्चात् क्रम-क्रम से पुरुषार्थ बढ़ाकर, सर्व विकल्पों से रहित होकर, ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मा की आराधना करता है अर्थात् उसमें लीन होकर, तद्रूप बनने की भावना भाता है — यह परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय है॥२७॥

पौष शुक्ल ३, बुधवार, दिनांक १५-१-१९७५, श्लोक-२७-२८, प्रवचन-३६

समाधितन्त्र। **अन्तरात्मा को, बहिरात्मपने के त्याग का और परमात्मपने की प्राप्ति का उपाय दर्शाते हुए कहते हैं —** है न?

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् (तः)॥ २७॥

***टीका* - इस प्रकार अर्थात् उक्त प्रकार से अन्तरात्मा में व्यवस्थित होकर...** लो, यह उपाय। व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प, वह उपाय, ऐसा यहाँ नहीं कहा। सीधा भगवान शुद्ध आत्मा पूर्णानन्द सच्चिदानन्दस्वभाव उसे प्राप्त करके, परमात्मा की भावना करके (अर्थात्) परमात्मा होने की एकाग्रता करके। यहाँ तो सीधे ऐसा कहा। व्यवहार साधन, निश्चय अन्तरात्मा साध्य—ऐसा नहीं कहा। आहाहा!

बहिरात्मा का त्याग करके,... अर्थात्? शुद्ध आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप, उसमें व्यवस्थित होकर, व्यवस्थित-विशेष अन्दर अवस्था प्रगट करके। सूक्ष्म बात है, भाई यह! प्रथम सम्यग्दर्शन में, प्रथम सम्यग्दर्शन की भावना, वह स्वरूप की शुद्धता में एकाग्र होना यह। यह तो सीधी बात ली। व्यवहार साधन और निश्चय साध्य। आहाहा! आत्मा आनन्दस्वरूप है, अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति है। उसे दृष्टि में लेकर व्यवस्थित आत्मा में रहे, विशेष अवस्था प्रगट करना। आहाहा! लो, यह तो सीधा उपाय यह है।

बहिरात्मा का त्याग करके,... अर्थात्? स्वरूप में जो राग की एकता और राग, वह मैं, ऐसी जो मान्यता थी, वह बहिरात्मा। अर्थात् कि उसके स्वरूप में नहीं, ऐसे दया, दान, व्रतादि के विकल्प या अशुभ विकल्प, वे मेरे, मैं उनका (—ऐसा माननेवाला), वह बहिरात्मा है। जो उसमें नहीं, उसे—बाह्य चीज़ को अपनी मानना, वह बहिरात्मा—वह मिथ्यादृष्टि। आहाहा! पर शरीर, वाणी, मन, कुटुम्ब की तो बात ही यहाँ है नहीं। वह तो कहीं पृथक् रह गये। पुत्र कहीं रह गये पृथक्।

मुमुक्षु : मुम्बई।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुम्बई। परन्तु यहाँ हो तो भी पृथक् रहते हैं। वे कहाँ इसके हैं?

यहाँ तो अन्दर में पर्याय में अपनी कमजोरी के कारण जो राग और द्वेष होते हैं, वह मैं हूँ और वे मेरे—अहं, मम्। वह मैं, वे मेरे (—ऐसा जो मानता है), वह बहिरात्मा है। आहाहा! वह मिथ्यादृष्टि जीव है। चाहे तो बाह्य से साधु हुआ हो, परन्तु अन्दर में वह राग की क्रिया, शुभभाव की क्रिया, वह मेरी है और वह मेरा कर्तव्य है (—ऐसा मानता है) तब तक, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। ऐसी बातें हैं।

वह बहिर् जो वस्तु उसमें नहीं थी, उसे अपनी मानकर बहिरात्मपना था। वह शुद्ध आनन्दघन हूँ, ऐसे आनन्दघन में सन्मुख होकर अन्तर एकाग्रता होकर व्यवस्थितपना पर्याय का निर्मल प्रगट करना। इससे बहिरात्मपना उत्पन्न नहीं होता। बहिरात्मपना, उसे बहिरात्मपना छोड़ा, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! मार्ग तो कठिन मार्ग है यह। समझ में आया? यह बहिरात्मपना भी दर्शनमोह के कारण नहीं था। इसने मान्यता में खड़ा किया था, इसलिए यह था।

जो चैतन्यस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान, अणीन्द्रिय स्वरूप में वह पुण्य-पाप, राग-द्वेष के भाव इसके स्वरूप में नहीं। उन्हें अन्दर अपने माने, वह इसका मिथ्यात्व का दोष है। वह कर्म का दोष नहीं। कर्म के कारण, उस परवस्तु को अपनी मानता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म मार्ग, भाई। वह अपनी मान्यता से, उल्टी दृष्टि से; शुद्ध चैतन्य निर्मल स्वयं ज्योति सुखधाम, 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुखधाम', ऐसी चीज़ को छोड़कर अर्थात् कि उसे लक्ष्य में न लेकर, महाप्रभु चैतन्य की सत्ता है, उसे अवगणना करके, गणना किये बिना (अर्थात्) उसे गणना में नहीं लिया। और राग, द्वेष की पर्याय, दया, दान या व्रतादि के परिणाम को गणना में लिया। उन्हें आत्मा के साथ एकमेक माना। यह मान्यता का दोष है। और मान्यता का दोष कर्म के कारण नहीं है।

मुमुक्षु : कब से है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि से। आया नहीं था छहढाला में पहला? अनादि महा मोहमद पियो अनादि। क्या कहते हैं? तुमने कण्ठस्थ नहीं किया था पहले?

मुमुक्षु : मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह। परन्तु पहले (कण्ठस्थ) की था या नहीं छहढाला?

मुमुक्षु : नहीं की थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं की थी। आहाहा! 'मोह महामद पियो अनादि' इससे भ्रमित हुआ भ्रमणा में। कर्म के कारण भ्रमणा में हुआ। यह छहढाला में भी नहीं है।

मुमुक्षु : कर्म को भी महा मोहमद कहलाता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं। यहाँ तो महामद भाव है, उसकी बात है। भूला कहा न? अनादि से भूला कहा। महामोह से भूला है वह। यह अपने भाव में...

मुमुक्षु : भूली आपको भरमत वादि....

पूज्य गुरुदेवश्री : भरमत वादि। अज्ञानी भ्रमणा करता है। आहाहा! बहुत बात इसमें। पुस्तक के सब लेख आये हैं। वह यहाँ का आया था और वह गणेशप्रसाद वर्णी, यहाँ का स्पष्टीकरण। नहीं आया था? पहले आया था।

मुमुक्षु : ज्योतिप्रसाद का आज आया है।....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं। ज्योतिप्रसाद का नहीं। वह तो पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई? वह बाबू (लाल) जमादार की ओर से। आयी है। कानजीस्वामी के विचारों सम्बन्धी वर्णीजी का स्पष्टीकरण। आ गयी है यहाँ अपने। पुस्तक नहीं आयी? आ गयी है। और इसने तो उनकी भूल निकाली है। बात सच्ची है। ... कैलाशचन्दजी की। कैलाशचन्दजी ने लिखा था न भाई पहले? कि अपने दिगम्बर में... ऐई! चेतनजी! ऐसा साहित्य नहीं, ऐसा कुछ श्वेताम्बर में है। ऐसा लिखा है। बड़ी भूल है। उनका जीवन और उनका वर्णन जो करना है वस्तु का स्वरूप, वह तो दिगम्बर में पूरा-पूरा है। यह तो कितने पारणा किये और कितने ये किये। अब उसका यहाँ क्या काम था? यह तो सब खोटा है। खोटी बातें हैं। जैन गजट में कैलाशचन्दजी की खोटी बातें। बात तो सच्ची है। दिगम्बर में क्या नहीं? महावीर सर्वज्ञ कैसे हुए, कहाँ से, यह सब वर्णन है। इतना विस्तार से वर्णन है कि ऐसा वर्णन तो अन्यत्र श्वेताम्बर में भी नहीं। मूल जीवन की बात है न! कितने पारणा किये और कहाँ के चातुर्मास में रहे अपने (उसका क्या काम है)? आहाहा!

मुमुक्षु : परन्तु कौन निश्चित करने गया है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु क्या काम है ? वे भी उनके सच्चे किये हुए हैं वे ? बहुत लिखा है, हों! यह बात जैन गजट में। यह सच्ची हो तो... ऐसा कि तुमको श्रद्धा नहीं लगती आचार्य की। ऐसा जैन गजट में है। ...

मुमुक्षु : नहीं पहिचाने और पहिचाने तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे जाये। दोनों को बड़ा विवाद। बहुत लिखा है। आहाहा! और विद्यानन्दजी का बड़ा लेख। आहार की शुद्धि से शरीर की निरोगता रहे, मन की स्फूर्ति रहे, धर्म में सहायक हो। यह बड़ा लेख जबरदस्त आहार का।

मुमुक्षु : वह तो परद्रव्य है। परद्रव्य का क्या काम है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! उसके साथ क्या काम है ? बापू! आहाहा! उनके लोग अधिक इकट्ठे हों—लोग बहुत इकट्ठे हों। वह सब लोकरंजन है। बहुत लोग इकट्ठे हों। अब ऐसी बात।

यह आत्मा अपने शुद्ध आनन्दघन को भूलकर और इन शुभ-अशुभभाव को मिथ्यात्वभाव से अपना मानता है, वह भ्रमणा में अज्ञानी पड़ा है। अब समाज इतना सब प्रसन्न इसमें होता है न। मार्ग तो यह है, वस्तु तो यह है। सर्वज्ञ वीतराग त्रिलोकनाथ परमात्मा दिव्यध्वनि का यह कहना है।

मुमुक्षु : वह यह दिव्यध्वनि का स्वरूप सुनने बहुत आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। अब तो बहुत... यह लोग २०-२० हजार भीड़ भरे।

मुमुक्षु : अपने दिगम्बर के पचास हजार।

पूज्य गुरुदेवश्री : अब अपने यहाँ २५ हजार हुए थे, इस समय। और यह अब कहते हैं वहाँ ५० हजार होनेवाले हैं। खीमचन्दभाई कहे, लाख होनेवाले हैं। और फिर दो-तीन पड़ जायेंगे—भाग पड़ गये हैं। सम्मेदशिखर में हैं और दूसरा यहाँ कुण्डलपुर में है। लोगों को उत्साह बहुत है। कल आयी थी न! पत्रिका आयी थी। निमन्त्रण (पत्रिका) भोपाल की। आहाहा! लोगों को हो...हा... हो...हा... चाहिए है। बड़ी सभा, उसमें सब लोग प्रसन्न होते हैं।

मुमुक्षु : उन्हें मनुष्यव्यवहार चाहिए है न, आत्मव्यवहार कहाँ है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे ! यह तो अनन्त बार किया है। अरे ! व्रत के भाव, तप के भाव, दया-दान के भाव अनन्त बार किये हैं। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो'...

मुमुक्षु : 'पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' निज आत्मज्ञान।

पूज्य गुरुदेवश्री : निज आत्मज्ञान। आहाहा ! साधु के अट्ठाईस मूलगुण पालन किये, पंच महाव्रत पालन किये, वह तो सब राग, विकल्प है, राग है। उस राग से चैतन्य भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान करके इसने आत्मज्ञान नहीं किया। और उस आत्मज्ञान के बिना इसे सुख का स्वाद नहीं आता। यह राग का स्वाद आता है। पंच महाव्रत पालन करे, वह तो राग—आस्रव का स्वाद है। आहाहा ! भारी बातें। बापू !

मुमुक्षु : वह तो आकुलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आकुलता है, भाई ! शान्तस्वरूप भगवान अकेला अकषाय स्वभाव का रस आत्मा है। शान्त... शान्त... शान्त... उसकी दृष्टि तो की नहीं, उसके सन्मुख हुआ नहीं और राग की क्रिया होकर स्वभाव से विमुख हुआ और विकार के सन्मुख हुआ, (वह तो) मिथ्यादृष्टि है। आहाहा ! समझ में आया ? वेदन में इसने अन्तर नहीं किया। अनादि से राग का वेदन है, उस वेदन में रहा। आहाहा ! परन्तु मैं एक शुद्ध आनन्दकन्द सच्चिदानन्द प्रभु हूँ, ऐसा वेदन में नहीं लिया। भाषा में तो कहा, वाँचन किया ग्यारह अंग। समझ में आया ? आहाहा !

यहाँ कहते हैं, **बहिरात्मा का त्याग करके,...** यह राग की क्रिया, यह शुभ दया, दान, व्रत आदि वह मेरी है, ऐसा जो बहिरात्मपना इसने स्थापित किया। उपदेश की शैली में क्या आवे ? इसका त्याग करके। अर्थात् कि राग की एकताबुद्धि जो पड़ी थी, उससे लक्ष्य छोड़कर चैतन्य महाप्रभु की दृष्टि करना, वह अन्तरात्मा हुआ, अन्तरात्मा हुआ तो बहिरात्मपने का त्याग हो गया। आहाहा ! समझ में आया ? ऐसा धर्म, भाई ! वे बेचारे यात्रा करने निकले हों, मेहनत करके महीने-महीने, दो-दो महीने से। मैले कपड़े हों, नहाने को मिले नहीं, धोने को मिले नहीं। अब उसे ऐसा कहना कि यात्रा का भाव करना, वह धर्म नहीं है। चिल्लाहट मचाये न बेचारे। ऐई !

मुमुक्षु : उसे जटिल लगता होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : जटिल (लगे), बापू! परन्तु मार्ग नहीं, बापू! वह तो परद्रव्य सन्मुख की क्रिया हुई। यह यात्रा, भगवान की भक्ति, परमात्मा की पूजा... आता है न सवेरे, नहीं? कुछ बोलते हैं। अपने को बहुत याद नहीं आता। सन्मतिनाथ और ऐसा बोलते हैं न? कहाँ गये पूरणचन्दजी? नहीं? आहा! भगवान तो ऐसा कहते हैं कि तू मेरे सामने देखकर जो शुभभाव करता है, उसे तो हम पुण्य का कारण कहते हैं। वह धर्म नहीं है और धर्म का कारण नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : परम्परा कारण तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी परम्परा कारण नहीं। परम्परा अनर्थ का कारण है। यह तो समकिती को परम्परा का कारण क्यों कहा? कि राग की रुचि छोड़कर, चैतन्यस्वरूप की दृष्टि हुई है और उसमें जो शुभभाव होता है, उसमें अशुभ घटता है। उसे, हों! उस दृष्टिवन्त को। इसलिए घटता है और अब फिर उसे भी छोड़कर (स्वरूप में) स्थिर होगा, इसलिए परम्पर कहा गया है। आहाहा! कठिन मार्ग, बापू!

इस प्रकार **अन्तरात्मा में व्यवस्थित होकर...** बहुत संक्षिप्त में। **बहिरात्मा का त्याग करके, परमात्मा की भावना करना।** शब्द तो ऐसा है, देखो! **'त्यक्त्वैवं बहिरात्मानम'** समयसार में तो ऐसा कहा है कि राग-द्वेष का नाशकर्ता आत्मा नहीं है। है? ३४ गाथा। राग-द्वेष का नाशकर्ता, वह तो नाममात्र है। परमार्थ से भगवान आत्मा राग-द्वेष का नाश करनेवाला नहीं कहा जा सकता। क्यों? कि जो स्वरूप शुद्ध चैतन्य है, उसमें जो दृष्टि दी; इसलिए राग की, मिथ्यात्व की (दृष्टि) फिर नहीं हुई, उसने मिथ्यात्व का नाश किया—ऐसा उपचार से कथन किया जाता है। आहाहा! अब ऐसी बात। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, इन्द्र और गणधरों के बीच यह बात करते थे। समझ में आया?

(परमात्मा की भावना करना)। अर्थात्? अन्तरात्मा होकर, बहिरात्मा छोड़कर परमात्मा की भावना करना। आहाहा! अर्थात्? **कैसा होकर? सर्व सङ्कल्पों से रहित होकर**- है न? **'सर्वसंकल्पवर्जितम्'** चौथा पद है। गुण-गुणी के भेद का विकल्प भी छोड़कर। दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव, उसे तो छोड़कर। परन्तु मैं एक शुद्ध हूँ,

बुद्ध हूँ—ऐसा जो विकल्प, उसे (भी) छोड़कर। आहाहा! ऐसा मार्ग है। सीधा चैतन्यस्वरूप का अनुभव करना, यह लोगों को ठीक नहीं पड़ता। कुछ न कुछ दूसरा, हल्का साधन बताओ।

अगास में यह प्रश्न हुआ था। लोगों ने सुना। लोगों की सभा तो विशाल थी! हिम्मतभाई आये हैं न। वह यहाँ की बात निश्चय की बात सच्ची, परन्तु उसका साधन? यह भक्ति करना, शास्त्र पढ़ना, पूजा करना, वह उसका साधन। ऐसा न करे तब तक, उसे सन्तोष नहीं होता। परन्तु वह साधन है ही नहीं। आहाहा! वह तो बाधक है। क्या हो? मूल जाति की भात पड़े नहीं जहाँ... वह राग से भात पड़े अन्दर? यह स्वरूप चैतन्य...

अलिंगग्रहण में आया नहीं था? अपने स्वभाव से ज्ञात हो, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। छठवाँ बोल है। बीस बोल है न अलिंगग्रहण के? १७२ गाथा, प्रवचनसार। अलिंगग्रहण के २० बोल हैं। उसमें छठा बोल है। भगवान आत्मा अपने स्वभाव से ज्ञात हो, ऐसा है। राग विभाव है, उससे ज्ञात हो—ऐसा नहीं है। आहाहा! कितना स्पष्ट है! और वह प्रत्यक्ष ज्ञाता है। उसने मन का आश्रय छोड़ दिया है। इसलिए उसे आत्मा का सीधा आश्रय हुआ है। इसलिए वह प्रत्यक्ष जाननेवाला-देखनेवाला है। आहाहा! समझ में आया? वहाँ ऐसा नहीं कहा कि राग की मन्दता से ज्ञात हो, ऐसा आत्मा है। ऐसा तो कहा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : राग तो बाधक है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो बाधक है। जो-जो कहे साधक वे-वे वहाँ बाधक हैं। यह तो आ गया नहीं अन्दर? संकल्प-विकल्प तो विघ्न करनेवाले हैं। आहाहा!

सर्व सङ्कल्पों से रहित होकर-विकल्पजालरहित होकर अर्थात् सर्व सङ्कल्प से मुक्त होकर (परमात्मा की भावना करना)। आहाहा! गृहस्थाश्रम में भी यह करने का है, कहते हैं। श्रावक को यह आता है न? योगसार में दोहे आते हैं। जो आत्मा में लीन होकर, नहीं? गृहस्थाश्रम में आता है न? योगसार में।

मुमुक्षु : गृह आश्रम में लीन हो करे अधिक अभ्यास, अधिक कर्म का क्षय कर पावे शिवपुर वास।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। यह तो गृहस्थाश्रम की....

मुमुक्षु : गृहकार्य करते हुए....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह। 'जो गृहकार्य करता हुआ जो आतम में रहे लीन' यह। गृहस्थाश्रम में भी रागादि के विकल्प जो हैं, उन्हें छोड़कर आत्मा का ध्यान करता है। आत्मा को दृष्टि में लेता है, इसलिए विकल्प टूट जाते हैं। आहाहा! मार्ग कठिन, भाई! अब यहाँ कितना लेख लिखा है, भाई! विद्यानन्दजी ने। आहार में... ऐसा कि क्या कहलाता है वह? वैदुं?

मुमुक्षु : आरोग्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : आरोग्य। आयुर्वेद, आयुर्वेद। आयुर्वेद को? आयुर्वेद। आयुर्वेद ऐसा कहता है... आयुर्वेद ऐसा कहता है। अरे! भगवान! यहाँ भगवान क्या कहते हैं, यह कह न अब। बहुत बड़ा लेख है। बस आहार सुधारो। उससे मन सुधरे, उसमें से सुख की प्राप्ति होगी। सब आवे... आहाहा! लोगों का अभी झुण्ड इकट्ठे हों, वे प्रभावित कहलाये। धर्म का प्रभाव करनेवाला। धूल की है प्रभावना। आहाहा! प्रभावना तो प्र— विशेष अन्तर में एकाग्र होना, वह प्रभावना है।

मुमुक्षु : आत्म प्रभावी।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आत्म प्रभावना। यह आता है न? आत्म प्रभावना।

दिगम्बर सन्तों ने तो केवलज्ञान के पथानुगामियों ने परम सत्य को खड़ा रखा है। समझ में आया? ऐसी स्पष्ट बात अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। समझ में आया? उनके माननेवालों को खबर नहीं अभी... आहाहा! कि क्या भगवान कहते हैं और दिगम्बर का पन्थ क्या है? आहाहा! बाहर से कपड़े का त्याग और अन्दर से वृत्तियों के विकल्प का त्याग, इसका नाम दिगम्बर है। अन्दर में विकल्प जो हो न (कि) ऐसा-ऐसा आत्मा है, उसका त्याग। दिग् अर्थात् आकाश अर्थात् अम्बर। अर्थात् कि उसे विकल्प का अवकाश नहीं। विकल्प, वह उसके स्वरूप में नहीं, ऐसी भावना करे। गृहस्थाश्रम में कर सकता है। आहाहा!

शुद्ध उपयोग गृहस्थाश्रम में भी हो सकता है। समझ में आया? तब और यह ले आये। कितनी? २५४ न? गृहस्थ को इस धर्म से मोक्ष होता है। २५४। २५४। यह ७५

गाथा अलग है न। यह २५४। बड़ी चर्चा हुई थी। अहमदाबाद। आहाहा! कहते हैं कि देखो! गृहस्थ को तो शुभभाव से परम्परा उसे ही मोक्ष होगा। ऐसा लिया है। यह तो चरणानुयोग का व्यवहार से कथन है कि जिसे आत्मानुभव हुआ है, आत्मा आनन्द का वेदन जिसे प्रगट हुआ है, उसे शुभभाव आता है तो बहुत अशुभ वहाँ टलते हैं, वह धीरे-धीरे इस शुभ को टालकर मोक्ष जानेवाला है। ऐसा है। रखकर होगा? उससे होगा? आहाहा! यहाँ (कहते हैं), **(परमात्मा की भावना करना)।**

भावार्थ - प्रथम, जीव बहिरात्मपने को छोड़कर,... लो! प्रसिद्ध शब्द पड़ा है न अन्दर में? संस्कृत में है। **'योऽनन्तज्ञानाद्यात्मकः प्रसिद्धः परमात्मा'** है? है प्रसिद्ध शब्द कहीं? यह तो २८ का है। २८ में आता है। वहाँ प्रसिद्ध परमात्मा लिया है। आहाहा! वस्तु प्रसिद्ध है, वह तो परमात्मस्वरूप है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! 'प्रसिद्ध-सिद्ध' नहीं आती स्तुति?

मुमुक्षु : प्रसिद्ध विशुद्ध सुसिद्ध समूह।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह। वहाँ भी प्रसिद्ध। प्रसिद्ध विशुद्ध। यह परन्तु आत्मा प्रसिद्ध नहीं? कहते हैं। आहाहा! प्रसिद्ध हुआ है अनादि से। यह आत्मा परमात्मस्वरूप है, वह तो प्रसिद्ध बात है। आहाहा!

जीव बहिरात्मपने को छोड़कर, आत्मस्वरूप के सन्मुख होने पर,... यहाँ से विमुख हुआ, स्वरूप से सन्मुख हुआ। लो! आहाहा! राग को अपना मानता था, उससे विमुख हुआ और स्व के सन्मुख हुआ। आहाहा! उसका विकल्पसहित निर्णय तो करे कि मार्ग तो यह है। बाकी सब बातें हैं। **अन्तरात्मा होता है;...** भगवान आत्मा पूर्ण आनन्दघन, अनन्त चतुष्टय—आनन्द, ज्ञान, दर्शन और वीर्य—ऐसा जो अनन्त चतुष्टयस्वरूप ही यह आत्मा है। भगवान को अनन्त चतुष्टय पर्याय में प्रगट हुए हैं। यह अनन्त चतुष्टय स्वभाव इसका है। यह भगवान ही है यह आत्मा। आहाहा! जरा सी महिमा हो, वहाँ प्रसन्न हो जाता है। यह कैसा परमात्मा है? आहाहा! कुछ जरा पाँच इन्द्रिय के विषयों की अनुकूलता हो, वहाँ हम सुखी हैं। आहाहा! अरे! कहाँ गया तू? भाई!

मुमुक्षु : इन्द्रिय के विषयों में गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ तेरा लक्ष्य गया, बापू! परमात्मस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन...

यह बात तो धीरे-धीरे कही जाती है न। महाराज! तुमने पहले तो बहुत जोरदार कहा। अब शक्ति घटी लगती है, ऐसा एक व्यक्ति कहता था। यह वाडीभाई की बहू आयी थी न। है या नहीं? गयी होंगी। वाडीभाई भावनगरवाले नहीं? गृहस्थ थे न? वाडीभाई चत्रभुज। वे आये थे न प्राणभाई के (यहाँ)? कहाँ प्राणभाई है या नहीं? वहाँ उनके पुत्र की पुत्री दी है न, उनके लड़के को? प्राणभाई के। वे आये थे उन्हें छोड़ने। वह अन्दर आकर कहे, महाराज! मैं पहले व्याख्यान में आती थी सम्प्रदाय में... आती होगी। कहीं आती होगी। ...अब तो बोलने की शक्ति घट गयी लगती है। धीरे-धीरे आवे न। वे कहते थे। प्राणभाई का आहार था न, तब आये थे। धीरुभाई का पुत्र था न साथ में।

भाई! यह मार्ग अलग है, बापू! आहाहा! वस्तु स्वरूप शुद्ध का अवलम्बन लेना, उस शुद्ध के सन्मुख होना, यह इसे करनेयोग्य है। पहले में पहला कर्तव्य हो तो यह है। आहाहा! समझ में आया? दुनिया दुनिया का जाने। अनेक मत, अभिप्राय जगत में हो, परन्तु वीतराग का अभिप्राय तो यह है। समझ में आया? आहाहा!

तत्पश्चात् क्रम-क्रम से पुरुषार्थ बढ़ाकर,... अर्थात् क्या कहते हैं? प्रथम भगवान पूर्ण शुद्ध स्वरूप है, उसके सन्मुख होकर अन्तरात्मपना प्रगट करना और फिर धीरे-धीरे स्वभाव का आश्रय बढ़ाकर भावना—एकाग्र होने पर परमात्मा होना। आहाहा! साधन तो यह है। एक ही बात कहते हैं। प्रथम यह अन्तरात्मपने परिणमना और फिर भी अन्तरात्मा में एकाग्र होना, वह परमात्मा होने का कारण है। वचन में सब व्यवहार आता है, इसलिए वह परमात्मा का कारण है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

क्रम-क्रम से पुरुषार्थ बढ़ाकर, सर्व विकल्पों से रहित होकर, ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मा की आराधना करता है... आहाहा! भगवान तो ज्ञानानन्दस्वरूप है प्रभु। आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूप है। आहाहा! ज्ञान और ज्ञान का आनन्द, ऐसा स्वरूप होकर... आहाहा! परमात्मा की आराधना करे। **अर्थात् उसमें लीन होकर, तद्रूप बनने की भावना भाता है—यह परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय है।** लो! वह उपाय यह है, कहते हैं। व्यवहार उपाय है, वह इस गाथा में बात ली ही नहीं। समझ में आया? बहुत जगह आता है व्यवहार साधन, निश्चय साध्य। वह तो राग की मन्दता की मर्यादा कितनी थी, उसका ज्ञान कराने के लिये बात है। आहाहा! क्या हो? अरे! अनादि से लुटाया है और लुटता है।

श्लोक - २८

तद्भावनायाः फलं दर्शयन्नाह -

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढ़संस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम्॥ २८॥

योऽनन्तज्ञानात्मकः प्रसिद्धः परमात्मा सोऽहमित्येवमात्त-संस्कारः आत्तो गृहीतः संस्कारो वासना येन। कया कस्मिन्? भावनया तस्मिन् परमात्मनि भावनया सोऽहमित्यभेदाभ्यासेन। पुनरित्यन्तर्गर्भितवीप्सार्थः। पुनः पुनस्तस्मिन् भावनया। तत्रैव परमात्मन्येव दृढ़ासंस्कारात् अविचलवासनावशात्। लभते प्राप्नोति ध्याता। हि स्फुटम्। आत्मनि स्थितिं आत्मन्यचलतां अनन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपतां वा॥२८॥

उस भावना का फल दर्शाते हुए कहते हैं —

'मैं ही वह परमात्म हूँ', हों जब दृढ़ संस्कार।
इन दृढ़ भावों से बने, निश्चय उस आकार॥ २८॥

अन्वयार्थ - (तस्मिन्) उस परमात्मपद में (भावनया) भावना करते रहने से (सः अहं) वह अनन्त ज्ञानस्वरूप परमात्मा मैं हूँ - (इति) - इस प्रकार के (आत्तसंस्कारः) संस्कार को प्राप्त हुआ ज्ञानी पुरुष, (पुनः) फिर-फिर उस परमात्मपद में आत्मस्वरूप की भावना करता हुआ, (तत्रैव) उसी परमात्मस्वरूप में (दृढ़संस्कारात्) संस्कार की दृढ़ता हो जाने से, (हि) निश्चय से (आत्मनि) अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप में (स्थितिं लभते) स्थिरता को प्राप्त होता है।

टीका - जो अनन्त ज्ञानादिस्वरूप प्रसिद्ध परमात्मा है, वह' मैं हूँ'—ऐसा संस्कार पाकर अर्थात् ऐसा संस्कार / वासना ग्रहणकरके। किसके द्वारा? किसमें? उसकी भावना द्वारा अर्थात् परमात्मा की भावना द्वारा-वह 'मैं हूँ'—ऐसे अभेद अभ्यास द्वारा, उसकी बारम्बार भावना से, उसके ही अर्थात् परमात्मा के ही-दृढ़ संस्कार के कारण, अविचल भावना के कारण-ध्याता वास्तव में आत्मा में स्थिति पाता है-प्राप्त करता है अर्थात् आत्मा में अचलता व अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयरूपता प्राप्त करता है।

भावार्थ - अनन्त ज्ञानस्वरूप परमात्मा, वही 'मैं हूँ'—ऐसी बारम्बार अभेद भावना भाने से, उसके संस्कार दृढ़ होते हैं और वैसे संस्कार के कारण, जीव आत्मस्वरूप में स्थिर होकर, अनन्त चतुष्टयरूप परमपद की प्राप्ति करता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

जब अन्तरात्मा, स्वसन्मुख होकर अपने को सिद्धसमान शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, सुखधाम और अनन्त चतुष्टयादिरूप ध्याता है-बारम्बार भाता है, तब अभेद अविचलभावना के बल से, वह शुद्धात्मस्वरूप में तन्मय हो जाता है। उस समय उसको अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है। यह परमात्मस्वरूप की दृढ़ भावना का फल है।

'जो परमात्मा है, वही मैं हूँ—ऐसी बारम्बार भावना भाने से, शुद्धस्वात्मा में जो लीनता होती है, वह कोई वचन-अगोचर योग है-समाधिरूप ध्यान है।'

(अध्यात्म रहस्य, श्लोक-५७, पण्डित आशाधरजी)

इस प्रकार परमात्मभावना के दृढ़ संस्कार से आत्मा, परमात्मा हो जाता है ॥२८ ॥

श्लोक - २८ पर प्रवचन

उस भावना का फल दर्शाते हुए कहते हैं — लो! अब ऐसी भावना अर्थात् स्वरूप शुद्ध आनन्द, उसका भान होने पर अन्तरात्मा हुआ। अन्तरात्मा अर्थात् जो अन्तर में चीज़ थी अनन्त आनन्द आदि, उसे दृष्टि में लिया। अन्तर में था, उसे दृष्टि में लिया, वह अन्तरात्मा। और अन्तर में नहीं तथा रागादि को अपना मानना, वह बहिरात्मा। आहाहा! यह तो सादी भाषा है। इसमें कहीं बड़े भंग-भेद सीखे, ऐसा कुछ नहीं है। वे बोलते हैं न? बाबूभाई बोले न जहाँ हो वहाँ। 'रंग लाग्यो रे प्रभु तारो रंग लाग्यो। तारी भक्ति करवाने मारो भाव जाग्यो।' परन्तु वह भी राग है। लोगों को अच्छा लगे। 'तारी पूजा करवाने मने भाव जाग्यो।' वह भी विकल्प है। पूजा तो भगवान आत्मा की करना। पूज्यपना तो परमात्मा अपना है। आहाहा! क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : उत्कृष्ट शुभभाव होवे तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : उत्कृष्ट शुभभाव होवे तो भी बन्ध का कारण है।

मुमुक्षु : परन्तु अब इस स्थिति की अपेक्षा तो वह स्थिति अच्छी।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल अच्छा कोई नहीं। दोनों समान हैं। बन्धन के कारण की अपेक्षा से दोनों एक जाति के हैं। व्यवहार से कहा जाता है यह शुभ, यह अशुभ। यह तो उन लोगों को यही अवरोधक है। यहाँ व्यवहार को हेय... हेय (कहते हैं)। और इतने-इतने वर्ष हुए ४०, परन्तु कोई साधु हुआ? किसी ने ग्यारह प्रतिमा ली किसी ने यहाँ से? बापू! यह प्रतिमा किसे कहना? भाई! आहाहा! लेकर बैठे वह क्या करते हैं, यह देखो तो खबर पड़े। आहाहा! २८। २८ न?

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढ़संस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम्॥ २८॥

टीका - जो अनन्त ज्ञानादिस्वरूप प्रसिद्ध... देखो, आया। भगवान आत्मा यह वस्तु है न, प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वस्तु जो ध्रुव सत्ता, जिसका अस्तित्व जो है, वह तो शुद्ध का अस्तित्व है। शुद्धात्मा, वह अस्तित्व है। ऐसे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त बल-वीर्य इत्यादि। ऐसे **अनन्त ज्ञानादिस्वरूप प्रसिद्ध परमात्मा है, वह 'मैं हूँ'...** समझ में आया? ऐसी भावना करना चाहिए, ऐसा कहते हैं। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, स्वच्छता इत्यादि ४७ शक्तियाँ हैं या नहीं? ऐसी अनन्त शक्तिस्वरूप भगवान आत्मा वह प्रसिद्ध परमात्मा है। आहाहा! ऐसा आत्मा है, वह तो बाह्य प्रसिद्ध है न? तू भगवान है पूर्णानन्द का नाथ। बापू! वह प्रसिद्ध है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें।

ऐसा संस्कार पाकर... बारम्बार चैतन्य और पूर्णानन्द का नाथ हूँ, शुद्ध हूँ, पूर्ण हूँ—ऐसे संस्कार डालकर। आहाहा! **अर्थात् ऐसा संस्कार / वासना ग्रहण करके।** ऐसी वासना (अर्थात्) चैतन्यस्वभाव पूर्ण परमात्मस्वरूप, वह मैं... वह मैं... वह मैं। राग और अल्पज्ञ, वह मैं नहीं। आहाहा! ऐसी बातें! वीतराग, वीतराग का मार्ग अलौकिक! अलौकिक!! लोगों ने लौकिक जैसा कर डाला मानो साधारण हो। उसमें नहीं आता? मनुष्य मुझे मनुष्य जैसा बनावे। फिर आता है कुछ? मेरी सब... क्या आता है?

मुमुक्षु : प्रभुता सजावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : मेरी समस्त प्रभुता सजावे। भजन में आता है। आहाहा! भगवान तो खाये, भगवान सोवे, भगवान वस्त्र रखे, लो!

मुमुक्षु : कोट-पेन्ट पहने।

पूज्य गुरुदेवश्री : और मूर्ति को पहनावे। कोट, पेन्ट और वापस उन्हें इत्र लगाकर।

मुमुक्षु : जब में घड़ी।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! कांडा की घड़ी पहनते होंगे। आहाहा!

प्रतिबिम्ब तो उसे कहते हैं, जैसी वीतराग शान्त अकषायस्वभाव की मूर्ति आत्मा, ऐसा प्रतिबिम्ब हो। बिम्ब यह और प्रतिबिम्ब वह। आहाहा!

मुमुक्षु : परन्तु भगवान को कोट-पेन्ट पहनावे तो अपने को पहनने की सुविधा हो न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा भी विचार करता था। एक आया था न साधु? कान्तिलाल। कान्तिलाल न? ...कान्तिलाल नहीं? छोटी उम्र। एकान्त में हमारे पास आवे। जवान योद्धा जैसा। मन्दिरमार्गी श्वेताम्बर। एकान्त में आवे कि महाराज! मैं कुछ मानता नहीं। परन्तु आपको देखकर कुछ विश्वास आता है कि कुछ होगा। ऐसा कहा। वह कहे, मुझे कुछ इस प्रकार की श्रद्धा नहीं है।

मुमुक्षु : .... कि ऐसा करूँ ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा करूँ कि अभी यहाँ से जाते ही, जमावट कर दूँगा। कहे। अरे रे! अरे बापू! यह क्या है? भाई! बोलना आया और कहना आया और लोग इकट्ठे हों, यह कुछ वस्तु है? आहाहा! कहने की भाषा तो जड़ की है। उपदेश जड़ से होता है, आत्मा से नहीं होता? बहुत लोग बैठे थे। कहे कि, तुम क्यों भगवान को रथ में बैठाते हो? ऐसा कि ऐसा नहीं होता। वस्त्र। ऐसे बैठाओ वहाँ वस्त्र? तुम रथ में ऐसे बैठाते हो या ऐसा करके बैठते हैं? कहो, नवरंगभाई! ठीक! तुम तुम्हारे रथ में भगवान को कैसे बैठाते हो? ... तुम रथ में बैठाओ, हम वस्त्र पहनाते हैं। भाई! वह तो स्वतन्त्र

जीव है न। आहाहा! भाई! यह तो दूसरा कोई उपाय नहीं होता। प्रभावना आदि हो तब तो भगवान को रथ में बैठाया। रथ में बैठे तो गृहस्थ बैठे, साधु बैठे? उन्हें बैठाओ रथ में। वहाँ खोटा नहीं, हम वस्त्र पहनावे वह खोटा। कहे। अरे! भगवान! भाई! वह तो अशक्य परिहार। दूसरा कोई उपाय नहीं। भगवान की प्रतिमा को बाहर ले जाना हो तो मात्र सिर पर लेकर कहाँ घूमे? इसलिए कपड़े पहनाना और मूर्ति के ऊपर गहने... क्या कहलाता है? मुकुट-मुकुट। आंगी और... आहाहा! चैतन्य को तो विकृत किया परन्तु भगवान के रूप को भी विकृत किया। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, ऐसा संस्कार **किसके द्वारा? किसमें?** किसके द्वारा और किसमें? **उसकी भावना द्वारा अर्थात् परमात्मा की भावना द्वारा-वह 'मैं हूँ'—ऐसे अभेद अभ्यास द्वारा,...** ऐसा। वह मैं हूँ। पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन, पूर्ण आनन्द, पूर्ण वीर्य वह मैं हूँ... वह मैं हूँ... वह मैं हूँ... ऐसे संस्कार डाल, कहते हैं। आहाहा!

नया सकारो होता है न सकोरा नया? मिट्टी का। बूँद ऐसे डालो तो अन्दर चली जायेगी पहले। सकोरा समझते हो? मिट्टी का। रामपात्र कहते हैं? क्या कहते हैं? सकोरा। सकोरा कहते हैं। सकोरा मिट्टी का। नया आया हो तो उसमें बूँद डालो तो पी जाये। परन्तु पी जाने के बाद जब पूरा हो, तब सीधा फिरेगा अन्दर से। अमुक पीयेगा और पश्चात् ऊपर रहेगा पानी। इसी प्रकार यह अन्दर में अव्यक्तरूप से संस्कार डालते... डालते... डालते... व्यक्तरूप से शुद्ध परिणमन हो जायेगा। आहाहा! दृष्टान्त है ऐसा। दृष्टान्त सब दृष्टान्त शास्त्र में—दिगम्बर साहित्य में ढ़ेरों पड़े हैं। अब यह कहते हैं कि अपने इतिहास लिखना हो तो दिगम्बर के शास्त्रों में से नहीं मिलेगा। यह श्वेताम्बर में है। अरे! भगवान! आहाहा! क्या हो? ऐसा बहुत लिखा है। बहुत लिखा है। विरोध गजटवालों ने (किया है)। लालबहादुर है न? गजट का कौन है अभी?

मुमुक्षु : वर्धमान पारसनाथ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वर्धमान पारसनाथ है? वे निकल गये हैं। नहीं? लालबहादुर। लालबहादुर निकल गये हैं? दरबारी कोठिया। दरबारीलाल कोठिया है। उन्होंने लिखा होगा। बड़ा लेख, बड़ा लेख। बहुत लिखा है। पण्डित पण्डितों के बीच जमी (विवाद)

है। आहाहा! अरे! बापू! यह कुछ लड़ाई करनी है? यहाँ कहीं किसी को झूठा सिद्ध करके अनादर करना है? ऐसा नहीं है। यह तो वस्तुस्थिति कैसी है और उससे विरुद्ध जो हित का कारण नहीं, ऐसा प्रसिद्ध करना है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसे अभेद अभ्यास द्वारा,... 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुखधाम, दूसरा कितना कहें कर विचार तो पाम।' विचार कर तो प्राप्त कर, ऐसा कहा है। हमारी भक्ति करके, विनय करके प्राप्त करेगा, ऐसा तो हमें नहीं कहना है।

मुमुक्षु : यह और छह पद के पाठ में।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कल कहा नहीं था? भक्ति, वैराग्य आदि साधन है। यह सब बातें व्यवहार की है। भगवान आत्मा का सम्यग्दर्शन, वही भक्ति है। निश्चय भक्ति है। यह पाठ है न जयसेनाचार्य की टीका में? समयसार में। भजन, उनकी माला गिनना। अर्थात् कि शुद्ध चैतन्य पूर्ण हूँ, उसे एक के बाद एक परिणति करना उसमें। आहाहा! वह माला है। समझ में आया? परमात्मा होने का उपाय यह है, कहते हैं।

उसकी बारम्बार भावना से, उसके ही अर्थात् परमात्मा के ही-दृढ़ संस्कार के कारण, अविचल भावना के कारण... इसका अर्थ किया। **परमात्मा के ही-दृढ़ संस्कार के कारण,...** अर्थात् कि **अविचल भावना के कारण...** ऐसा। शुद्ध स्वभाव की चलित न हो ऐसी भावना। अर्थात् उसके सन्मुख की एकाग्रता। **ध्याता वास्तव में आत्मा में स्थिति पाता है-** शुद्ध चैतन्यघन पूर्ण को लक्ष्य में लेकर उसे ध्यान करनेवाला, उसे पाता है। वह परमात्मस्थिति पाता है। पूर्ण स्वरूप में स्थिर होता है और पूर्ण स्वरूप में स्थिर होते-होते परमात्मा हो जाता है। आहाहा! अब ऐसी बातें। अध्यात्म की मूल बात... आहाहा! इसमें नहीं पैसा खर्च करने का, नहीं मन्दिर बनाने का, नहीं यह परमागम करने का। हो गया? ऐसा कि हो गया। भाई ऐसा बोलते थे। प्रेमचन्दभाई। प्रेमचन्दभाई कहते थे कि अब तो यह हो गया न अपने? (मन्दिर हो गये) इसलिए स्पष्टीकरण करने में बाधा नहीं। परन्तु पहले से ही हम कहते हैं। होवे शुभभाव, परन्तु वह शुभभाव होता है, इसलिए मन्दिर होता है? और मन्दिर होता है, इसलिए यहाँ शुभभाव होता है? और शुभभाव होता है, वह धर्म है? आहाहा! गजब बातें भाई! आहाहा! तब कहे, जो

छोड़नेयोग्य है, उसे किसलिए करना? परन्तु बापू! वह आये बिना रहता नहीं। पूर्ण स्वभाव की पूर्ण प्रगट दशा जहाँ न हो, वहाँ समकिती को, मुनि को भी वह शुभभाव आये बिना नहीं रहता। वह शुभभाव साधन नहीं है। आहाहा! शान्ति को बाधक है। समझ में आया? प्रगट हुई शुद्धता को राग बाधा नहीं करता। परन्तु अधिक शुद्धता नहीं प्रगट होती, उसमें वह अटका है। आहाहा! मार्ग, वह मार्ग। साधारण को तो ऐसा लगे कि यह तो निश्चय... निश्चय। क्यों मोहनलालजी! ऐसी बातें करते हैं कि निश्चय-निश्चय की बातें करते हैं। परन्तु बापू! निश्चय अर्थात् सच्चा पन्थ ही यह है, भाई! निश्चय अर्थात् सच्चा। व्यवहार अर्थात् झूठा। छहढाला में नहीं आया? सत्यार्थ सो निश्चय।

मुमुक्षु : जो सत्यार्थ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहार।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ यह। व्यवहार, वह असत्यार्थ है। भले कारणरूप व्यवहार कहा परन्तु वह व्यवहार है। सत्यार्थ यह है और व्यवहार असत्यार्थ है। यह सत्य है और वह झूठ है। ऐसा आया। आता है? छहढाला में आता है। आता है, छहढाला में, नहीं? सत्यार्थ।

मुमुक्षु : जो सत्यार्थ रूप सो निश्चय, कारण से व्यवहार।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस यह। कारण सो व्यवहार का अर्थ, यह सत्यार्थ और वह असत्यार्थ, ऐसा इसका अर्थ हुआ। व्यवहार कारण कहा भले परन्तु वह है असत्यार्थ। आहाहा! सत्यार्थ के सामने असत्यार्थ है। 'व्यवहार नियतं हेतु होई' आता है न उसमें?

मुमुक्षु : हेतु नियत को होई।

पूज्य गुरुदेवश्री : हेतु नियत। वहाँ सब लगते हैं।

मुमुक्षु : अब व्यवहार मोक्ष मग सुनिये, हेतु नियत को होई।

पूज्य गुरुदेवश्री : होई। भाई! यह तो वहाँ निमित्त... सम्यग्दर्शन-ज्ञान की भूमिका में, चारित्र की भूमिका, राग की मन्दता किस जाति की कितनी होती है, ऐसा बतलाने के लिये उसे हेतु कहा है। अथवा उसमें तो ऐसा ही लिया है न? कि व्यवहार एक-दूसरे के भाव को लगता है, द्रव्य के एक-दूसरे के भाव, एक-दूसरे को, दूसरे के भाव को कारण हो, ऐसा माने तो मिथ्यात्व है, ऐसा नहीं कहा? व्यवहारनय का लक्षण

ही ऐसा है। लो! व्यवहार का विषय क्या है, वहाँ इसे जानना चाहिए न? व्यवहार और निश्चय दोनों में सत्य वह निश्चय है। आहाहा! व्यवहार तो उपचारिक है। वह मोक्षमार्ग नहीं है। आहाहा!

ऐसे **दृढ़ संस्कार के कारण, अविचल भावना के कारण-ध्याता वास्तव में आत्मा में स्थिति पाता है-प्राप्त करता है...** अर्थात्? आत्मा में स्थिति पाता है अर्थात्? आत्मा को प्राप्त करता है। शुद्ध ध्रुव को पकड़ने पर आत्मा प्राप्त होता है। राग की प्राप्ति जो थी, वह छूट जाती है। आहाहा! **अर्थात् आत्मा में अचलता व अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयरूपता प्राप्त करता है।** एक तो उसमें स्थिर हो, वह अचल होता है और वह पर्याय वहाँ स्थिर होने पर, 'वस्तु यह है' ऐसे पर्याय में प्राप्त होती है। समझ में आया? ऐसी अकेली अध्यात्म की बातें। चार अनुयोग चाहिए। प्रतिदिन चार अनुयोग का चाहिए।

मुमुक्षु : इसमें चारों ही आ गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आ गये बापू, इसमें। यह आहार लेने का होता है, वह सब चरणानुयोग की बातें हैं। आहार में अमुक बढ़ाना नहीं। यह तो विकल्प है, यह पुण्य-पाप आस्रव में आ गया।

अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयरूपता... शुद्ध ज्ञान और आनन्दस्वरूप को प्राप्त करता है। अर्थात् कि पर्याय में जो पर्याय प्राप्त थी, उस पर्याय को द्रव्य प्राप्त करता है। द्रव्य को प्राप्त होती है पर्याय। पर्याय को पर्याय प्राप्त करती है? पर्याय द्रव्य को प्राप्त करती है। पर्याय पर्याय को प्राप्त करे, इसमें क्या हुआ? यह तो अनादि से करता है। आहाहा! बहुत अच्छा, हों! कलश... मक्खन।

भावार्थ - अनन्त ज्ञानस्वरूप परमात्मा, वही 'मैं हूँ' — ऐसी बारम्बार अभेद भावना... अन्तर एकाग्रता। **भाने से, उसके संस्कार दृढ़ होते हैं और वैसे संस्कार के कारण, जीव आत्मस्वरूप में स्थिर होकर, अनन्त चतुष्टयरूप परमपद की प्राप्ति करता है।** लो! अनन्त चतुष्टय स्वभाव की भावना करने से पर्याय में अनन्त चतुष्टय पर्याय प्रगट हो जाती है। यहाँ तो यह बात है। राग को व्यवहार साधन बताया नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात सिद्ध करते हैं। परन्तु यह तो कहा न, जितने प्रकार का यहाँ राग है, उसका वह ज्ञान करता है। यह व्यवहार से ज्ञान, वह ज्ञानगुण की पर्याय। ज्ञानगुण का स्वभाव ध्रुव और एक समय की पर्याय जानती है। परन्तु वास्तव में उसे जानती है, ऐसा नहीं। अपनी पर्याय को जानती है। आहाहा! कठिन मार्ग भाई!

और वैसे संस्कार के कारण, जीव आत्मस्वरूप में स्थिर होकर, अनन्त चतुष्टयरूप परमपद की प्राप्ति करता है। लो! विशेष आयेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

नोंध – प्रवचन नं. ३७ उपलब्ध नहीं है।

श्लोक - २९

नन्वात्मभावनाविषये कष्टपरम्परासद्भावेन भयोत्पत्तेः कथं कस्यचित्तत्र प्रवृत्तिरित्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह -

मूढ़ात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥ २९ ॥

मूढ़ात्मा बहिरात्मा। यत्र शरीरपुत्रकलत्रादिषु। विश्वस्तोऽवं-चकाभिप्रायेण विश्वासं प्रतिपन्नः-मदीया येते अहमेतेषामिति बुद्धिं गत इत्यर्थः। ततो नान्यद्भयास्पदं ततः शरीरादेर्नान्यद्भयास्पदं संसारदुःखत्रासस्यास्पदं स्थानम्। यतो भीतः परमात्मस्वरूपसंवेदनाद्भीतः त्रस्तः। ततो नान्यदभयस्थानं ततः स्वसंवेदनात् नान्यत् अभयस्य संसारदुःखत्रासाभावस्य स्थानमास्पदम्। सुखास्पदं ततो नान्यदित्यर्थः ॥२९॥

आत्मभावना के विषय में कष्टपरम्परा के सद्‌भाव के कारण, भय की उत्पत्ति की सम्भावना रहती है, तो उसमें किसी की किस प्रकार प्रवृत्ति हो — ऐसी आशङ्का का निराकरण करते हुए कहते हैं —

मोही की आशा जहाँ, नहीं वैसा भय-स्थान।
जिसमें डर उस सम नहीं, निर्भय आत्म-स्थान॥ २९॥

अन्वयार्थ - (मूढात्मा) अज्ञानी बहिरात्मा (यत्र) जिन शरीर-पुत्र-मित्रादि बाह्यपदार्थों में (विश्वस्तः)—'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ'—ऐसा विश्वास करता है, (ततः) उन शरीर-स्त्री -पुत्रादि बाह्यपदार्थों से, (अन्यत्) अन्य कोई (भयास्पदं न) भय का स्थान नहीं है और (यतः) जिस परमात्मस्वरूप के अनुभव से (भीतः) डरा रहता है, (ततः अन्यत्) उसके सिवाय कोई दूसरा (आत्मनः) आत्मा के लिए (अभयस्थानं न) निर्भयता का स्थान नहीं है।

टीका - मूढ़ात्मा अर्थात् बहिरात्मा, जहाँ अर्थात् शरीर पुत्र-स्त्री आदि में विश्वास करता है-अवंचक अभिप्राय से (वे मुझे ठगेंगे नहीं—ऐसे अभिप्राय से) विश्वास पाता है—'वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ'—ऐसी अभेदबुद्धि करता है - ऐसा अर्थ है। उनसे दूसरा कोई भय का स्थान नहीं है। उनसे अर्थात् शरीरादि से दूसरा भय का स्थान अर्थात् संसारदुःख के त्रास का स्थान नहीं है।

जिससे भय पाता है—जिससे अर्थात् परमात्मस्वरूप के संवेदन से भय पाता है-त्रास पाता है; उससे दूसरा कोई अभयस्थान नहीं है—उससे अर्थात् स्वसंवेदन से दूसरा, अभय का-संसारदुःख के त्रास के अभाव का स्थान नहीं है। उससे दूसरा (अन्य) सुख का स्थान नहीं है—ऐसा अर्थ है।

भावार्थ - शरीर-पुत्रादि जो भय का स्थान है-दुःख का कारण है; उनमें बहिरात्मा, आत्मबुद्धि करके विश्वास करता है और परमात्मस्वरूप जो निर्भयस्थान है, परमशरणरूप है और सुख का कारण है, उसके संवेदन को कष्टरूप मानकर डरता है।

अज्ञानी, बाह्य शरीरादि में सुख मानकर, उनमें निःशङ्कपने प्रवर्तता है परन्तु वास्तव में वे मृगजल के समान हैं, उनमें कुछ सुख नहीं है; वे किसी को शरण नहीं हैं और न किसी को विश्वास का-अभय का स्थान हैं। एक शुद्धात्मस्वरूप ही अभयरूप है, वही शरण का स्थान है और वही जगत के जीवों की भवभय में से रक्षा करनेवाला परमतत्त्व है।

विशेष स्पष्टीकरण -

जैसे, पित्तज्वरवाले रोगी को मीठा दूध भी कड़वा लगता है; इसी तरह बहिरात्मा को परमसुखदायी परमात्मस्वरूप की भावना भी कष्टदायी लगती है; इसलिए वह आत्मस्वरूप की भावना को नहीं भाता, अपितु विषय-कषाय की ही भावना भाता है तथा —

'रागादि प्रगट ये दुःखदेन, तिनही को सेवत गिनत चेन'

तथा

'आतमहित-हेतु विराग ज्ञान, ते लखे आपकूं कष्टदान'

(छहढाला, दूसरी ढाल)

रागादि विषय-कषाय, आत्मा को अहितरूप हैं-दुःखदायक हैं, तो भी अज्ञानी उनमें हित मानकर-सुख मानकर प्रवर्तता है और ज्ञान-वैराग्य जो आत्मा को हितकर हैं, उन्हें अहितरूप-कष्टरूप मानता है। और भी.....

अज्ञानी जीव को लक्ष्य करके श्रीमद् राजचंद्र ने कहा है कि अरे जीव!

'अनंत सुख नाम दुःख, त्यां रही न मित्रता,
अनंत दुःख नाम सुख, प्रेम त्यां विचित्रता !
उघाड़ ज्ञान नेत्र को, निहार रे! निहार तू,
निवृत्ति शीघ्रमेव धारी, अरु प्रवृत्ति वाल तू॥'

''अहा..... जो अनन्त सुख का धाम है—ऐसे चैतन्यस्वभाव में तो तुझको मित्रता न रही, उसमें उत्साह और प्रेम नहीं आया और अनन्त दुःख का धाम—ऐसे जो बाह्यविषय, उनमें तुझे सुखबुद्धि हुई-प्रेम आया-उत्साह आया, यह कैसी विचित्रता है? अरे जीव! अब तू अपने ज्ञानचक्षु को खोलकर देख! रे देख कि 'तेरा स्वभाव, दुःखरूप नहीं, अपितु बाह्यविषयों की ओर का तेरा झुकाव एकान्त दुःखरूप है; उसमें स्वप्न में भी सुख नहीं है।' इस प्रकार विवेक से विचार कर तू अपने अन्तरस्वभाव के सन्मुख ढल और बाह्यविषयों में सुखबुद्धि छोड़कर, उनसे निवृत्त हो, निवृत्त हो! नित्य निर्भय स्थान और सुख का धाम तो तेरा आत्मा ही है।''

इसलिए शुद्धात्मस्वरूप के स्वसंवेदन सिवाय अन्य कोई अभयस्थान नहीं है। संसार दुःख के त्रास के अभाव का वह एक ही स्थान है, अर्थात् सुख का वह एक ही स्थान है; शरीर-पुत्रादि बाह्यपदार्थ-कोई सुख के स्थान नहीं हैं॥२९॥

पौष शुक्ल ५, शुक्रवार, दिनांक १७-१-१९७५, श्लोक-२९-३०, प्रवचन-३८

---

२९ गाथा। भावार्थ का दूसरा भाग (पैराग्राफ)।

अज्ञानी... जिसे आत्मा में आनन्द है, शान्ति है—ऐसी जिसे खबर नहीं। उसका नाम अज्ञान। जहाँ आत्मा में शान्ति है, आनन्द है, स्वच्छता है, प्रभुता है—ऐसा जो सुखधाम, सुख का स्थान, सुख का स्थल वह आत्मा, उसकी जिसे खबर नहीं—ऐसे अज्ञानी **बाह्य शरीरादि में सुख मानकर,...** शरीर में सुख है, स्त्री में सुख है, पैसे में सुख है, मकान में सुख है, कीर्ति में सुख है। चिमनभाई! यह कारखाना करते हैं, उसमें सुख है।

मुमुक्षु : करना या नहीं करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : करने का तो कर सकता है कब कोई? आहाहा! यह तो हुए तो अपने को पाँच, पच्चीस हजार, पचास हजार महीने के होंगे। उसमें ... जो होगा वह। उसमें अब अपने सुखी जीवन बितायेंगे।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं। आहाहा!

सुख तो आत्मा में है। उसकी अज्ञानी को खबर नहीं। इसलिए शरीर में, स्त्री में, परिवार में, मकान में, कीर्ति में आदि इत्यादि। कोई इसकी महिमा करे, उसमें यह प्रसन्न होता है। यह सब पर में सुख माननेवाले हैं। समझ में आया? उनकी प्रशंसा करे, ओहो! यह तो बहुत करोड़पति है, अरबोंपति है। पाँच-पाँच लाख रुपये महीने के पैदा करता है। महीने के, हों! वर्ष में तो बहुत आमदनी करता है। रोजाना दस-दस हजार। यह सब है न मलूकचन्दभाई के। मलूकचन्दभाई के लड़के नहीं? पूनमचन्द। प्रतिदिन के दिन की दस-दस हजार की आमदनी। मुम्बई में है। हैरान... हैरान... हैरान। तुम्हारे लड़के को आठ हजार का वेतन मासिक है। सुमनभाई को। पिता को छोड़कर...

मुमुक्षु : ....आप इनकार करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु निमित्त से बतलाना हो तो कैसे बतलाया जाये? इसलिए। आहाहा! करोड़ोंपति और अरबोंपति। यह अरबपति अभी नहीं मर गया था? शान्तिलाल खुशाल। गोवा, गोवा। दशाश्रीमाली बनिया है। दो सौ चालीस करोड़ रुपये थे। दो सौ चालीस करोड़! दो अरब और चालीस करोड़। ऐसा तो अभी बनियों में इस ओर निकले कोई निकलता होगा। दो अरब चालीस करोड़। रात्रि में उठा। मुम्बई आया था दवा कराने। उसकी बहू बीमार थी। ... गोवा में। चालीस-चालीस लाख के मकान हैं गोवा में। चालीस लाख के मकान। यहाँ आया। उसकी बहू को कुछ हुआ था। क्या कहलाता है? हेमरेज। उसकी दवा कराने आये थे। वहाँ रात्रि में डेढ़ बजे कहे, दुःखता है। आहाहा! फिर डॉक्टर को बुलाया। डॉक्टर आया वहाँ भाईसाहब चले गये परगति में। भटकने चौरासी के अवतार में। आहाहा! ऐई! हसमुखभाई! सर्वत्र ऐसा है? आहाहा! जिसमें सुखधाम प्रभु है, वहाँ तू नजर करता नहीं और जिसमें दुःख के निमित्त

हैं सब, उसमें सुख मानकर भ्रमणा-मिथ्यात्व को सेवन करता है। यह **बाह्य शरीरादि में सुख मानकर, उनमें निःशङ्कपने प्रवर्तता है...** ऐसी शंका भी पड़ती नहीं कि इसमें से यह जाये तब क्या होगा?

मुमुक्षु : विश्वास हो फिर क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : पक्का विश्वास किसका? नहीं मरने का?

मुमुक्षु : सुख का।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुख धूल में भी नहीं। पागल है। पागल-पागल गहल है। कैसे होगा मलूकचन्दभाई? ब्लडप्रेशर होता है, तब देखो न ऐं... ऐं... हो जाता है। एक बार हुआ था यहाँ। ... वाले को हुआ ... आया था यहाँ। ऊं... ऊं... ... में आया था। पैसे बहुत चार करोड़, पाँच करोड़ है। परन्तु धूल क्या करे वहाँ? वह तो मिट्टी है। जीव की मूर्खाई...

मुमुक्षु : अन्दर में... की हूंफ कितनी होगी?

पूज्य गुरुदेवश्री : हूंफ है निमित्त की। आहाहा! वहाँ नहीं यह... दूध पीया था न वहाँ? वही यहाँ आये न? वैशाख दूज वहाँ मनायी थी न! वह दूध सवेरे पीया वहाँ बँगला बड़ा। तुम थे या नहीं? दूध पीया था। कहे, महाराज! जमीन नयी ली है। पन्द्रह हजार। पाँच सौ रुपये की वार। पन्द्रह हजार। यहाँ बड़ा बँगला बनाया है। उसमें प्रसन्न-प्रसन्न हो गये। महाराज के चरण पड़ेंगे। चरण क्या (करे)?

मुमुक्षु : बड़ा बँगला जल्दी हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे रे! कहाँ जीव अटकता है?

साधु होकर भी शरीर की क्रिया से मुझे लाभ होगा। यह शरीर ठीक मानता है। अरे..! उसमें दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव आवे, वह राग और आकुलता है। आहाहा! वह मुझे सुख का अर्थात् मोक्षमार्ग का साधन है। यह तो वह की वह बात हुई। पर में सुख नहीं, यह सुख का कारण है, ऐसा माना है। आहाहा!

परन्तु वास्तव में वे मृगजल के समान हैं,... मृग-मृगजल। आहाहा! रेती खारा,

खारी रेती जमीन, उसमें सूर्य के लगने से ऐसे लगता है मानो कि पानी हो। मृगजल है वह तो। आहाहा! सुख का स्थान तो एक ही आत्मा है। पुण्य और पाप के फल वे सब दु:खरूप हैं। आहाहा! अज्ञानी उन्हें सुखरूप मानकर **उनमें कुछ सुख नहीं है; वे किसी को शरण नहीं हैं...** आहाहा! **और न किसी को विश्वास का-अभय का स्थान हैं।** वह तो सब भय के स्थान हैं। आहाहा!

एक शुद्धात्मस्वरूप ही अभयरूप है,... भगवान आत्मा... शुद्धात्मस्वरूप अर्थात् आनन्दस्वरूप वही एक शरण का स्थान है। आहाहा! और **वही जगत के जीवों की भवभय में से रक्षा करनेवाला परमतत्त्व है।** आहाहा! भव-भय। मरकर कहाँ जायेगा निगोद और नरक में। यहाँ हो बड़ा सेठ करोड़पति। यहाँ से निकलकर जाये नरक में। आहाहा! जाये निगोद में। तत्त्व का विरोध किया हो कुछ। आहाहा!

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती। सात सौ वर्ष चक्रवर्ती पद। सात सौ वर्ष न हो परन्तु पूरी जिन्दगी का। आहाहा! छह खण्ड का स्वामी। छियानवें हजार तो जिसके घर में रानियाँ, छियानवें करोड़ तो जिसके घर में सैनिक, छियानवें करोड़ तो गाँव। वह ऐसे मरते... सातवें नरक में। अपरिठाणा नरके रवरव नरक में है अभी। आहाहा! समझ में आया? यह तो कहा न श्वास। इतना श्वास लें इतने वर्ष ७०० वर्ष के श्वास के जो निकाले, उस एक-एक श्वास में ग्यारह लाख पल्योपम का दु:ख। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ का इसने अनादर किया। शुद्ध चैतन्य आनन्द का धाम, उसमें आनन्दता न मानकर बाहर की अनुकूल सामग्री में आनन्द-सुख है। सुखी हैं। पैसे-टके से, लड़के से, स्त्रियाँ ठीक (हैं)। सब प्रकार से सामग्री ठीक है। अभी हम सुखी हैं। बादशाही है। ऐसा नहीं कहते? अभी बादशाही वर्तती है। धूल भी नहीं।

मुमुक्षु : अनुकूलता बढ़ते जाना।

पूज्य गुरुदेवश्री : ... है। अनुकूलता बढ़ते जाना। ... आहाहा! बेड़ी समझे? ढ़ेर तो पर का है। इज्जत का, सामग्री के ढ़ेर हो। वहाँ ऐसा कहे, बेड़ी को तोड़ो नहीं। धूल भी नहीं अब... आहाहा! अमृत का सागर भगवान उसे तो, नहीं उसमें सुख (मनाया है), इसलिए उसे मार डाला। अमृत का सागर सुखसागर, उसमें सुख नहीं है। इसका अर्थ कि वह सुखस्वरूप है, उसे मार डाला दृष्टि में। आहाहा!

भवभय में से रक्षा करनेवाला परमतत्त्व है। शुद्ध प्रभु आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप, ज्ञान और आनन्द के शाश्वत् स्वभाव से भरपूर। वह तत्त्व भव भय के शरण में अकेला है। आहाहा! यहाँ तो अरिहन्ता शरणं, सिद्धा शरणं आता है न मांगलिक में? वह भी शरण नहीं। यह तो उनके ऊपर लक्ष्य जायेगा तो राग होगा। आहाहा! समझ में आया? भाई! सुख के स्थान और दुःख के स्थान कैसे हैं, उसकी इसे खबर नहीं। पागल की भाँति यह जगत में घूमता है। आहाहा! यह कहते हैं।

विशेष - जैसे, पित्तज्वरवाले रोगी को... पित्त-ज्वर। **मीठा दूध भी कड़वा लगता है;...** दूध में उसे कड़वापन ही दूध का लगता है। मिठास नहीं आती। आहाहा! **इसी तरह बहिरात्मा को परमसुखदायी परमात्मस्वरूप की भावना...** जिसने बाह्य में सुखबुद्धि मानी है, उसे परमात्मस्वरूप सुख का धाम, उसमें उसे मजा नहीं आता। उसके भाव की, अन्दर में भावना करना कष्टदायक लगता है। यह क्या है? समझ में आया? इसलिए उसमें स्थिर नहीं हो सकता। कष्ट लगता है। इसकी अपेक्षा कुछ दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव करे। वह भी दुःख केक कारण हैं। वे परिणाम हैं व्यवहार। आहाहा! कठिन बातें, भाई! **कष्टदायी लगती है; इसलिए वह आत्मस्वरूप की भावना को नहीं भाता, अपितु विषय-कषाय की ही भावना भाता है...** वे विकल्प करना शुभ-अशुभ इसकी ही उसे भावना है। आहाहा! शुभ-अशुभ की वृत्ति उठाना, उसकी अज्ञानी को भावना है। यह कहते हैं अब। छहढाला का उद्धरण दिया।

'**रागादि प्रगट ये दुःखदेन, तिनही को सेवत गिनत चेन**' गिनत चैन कहा है। चैन शब्द होता नहीं? चैन कहा है। चैन कहा है। '**सेवत गिनत चैन...**' राग, पुण्य और पाप के भाव, वे दुःख दैन हैं। आहाहा! हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, कषाय भाव, कमाना, वह सब भाव पापभाव है। दुःखरूप है। और शुभभाव दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प, वे भी दुःख दैन हैं। रागादि शब्द है न? उसमें कहीं अशुभराग (ही दुःख दैन है), ऐसा कुछ नहीं कहा।

मुमुक्षु : शुभ और अशुभ दोनों।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों। आहाहा!

'रागादि प्रगट ये दुःखदेन,...' आहाहा! इसे खबर नहीं यह राग किसे कहना। **'तिनही को सेवत गिनत चेन'** राग को सेवन करने में मजा मानता है। आहाहा! ऐसे अज्ञानी अनादि से सत्य को पहिचानते नहीं। और **'आतमहित-हेतु विराग ज्ञान,...'** आत्मा के हित का कारण तो आत्मज्ञान और राग से रहित विरागदशा है। आहाहा! **'ते लखे आपकूं कष्टदान'** यह उसे कष्टदायक जानता है। आहाहा! अन्तर ज्ञानस्वभाव में जाना और रागरहित होना, उसे दुःखदायक मानता है।

रागादि विषय-कषाय, आत्मा को अहितरूप हैं- राग, पुण्य और पाप के भाव, वे परविषय में उत्पन्न होते परलक्ष्य से, ऐसे विषय कषाय आत्मा को अहित (रूप) है। **दुःखदायक हैं, तो भी अज्ञानी उनमें हित मानकर-सुख मानकर प्रवर्तता है...** आहाहा! दिन की पाँच हजार की आमदनी होती हो और बड़ा धन्धा हो। दो-पाँच-दस लाख का कपड़ा भरा हो। ग्राहक ऊपरा-ऊपरी आते हों। दो बार का एक बार कर डाले। दो बार खाने का एक बार कर डाले। परन्तु यह जरा निवृत्त होंवे (फिर) लाना भाई दो बजे लाना।

मुमुक्षु : उसे भूख ही नहीं होती।

पूज्य गुरुदेवश्री : भूख तो होती है परन्तु वह ध्यान ही वहाँ होता है।

हमारे सामने लोटियावोरा की कपड़े की दुकान थी। पालेज में। पचास हजार, तब पचास हजार का कपड़ा होगा। तब पचास हजार अर्थात्! (संवत्) १९६५-६६ की बात है। ६५-६६। पचास हजार का कपड़ा। सब इकट्ठे होकर बहियाँ लिखे न? क्या कहलाता है तुम्हारे? पूजन करे। पूजन तो अपने नहीं करते थे? परन्तु वे करे तो इकट्ठे बैठें। सब साथ लिखे हुए। और दिवाली के बाद माल लेने गया, मैं मुम्बई गया था। उसमें वह लोटियावोरा आया। ... मेरा मकान जल गया है। साथ में बहियाँ लिखते थे न अपन? नीचे से लड़के को निकालने का समय नहीं रहा। कमरे में सो रहे थे धक... धक... धक... अग्नि। यह... खिड़की थी उसमें से निकालकर नीचे उतारा और पचास हजार का कपड़ा राख। उस दिन पचास हजार रुपये। अभी तो तुम्हारे पचास हजार अलग। समझ में आया? अभी तो पच्चीस गुना भाव हो गया। उस दिन के पचास हजार

अर्थात् अभी के साढ़े बारह लाख। अभी पैसे की कीमत कहाँ रही? वह भाई मिला था वहाँ। मुम्बई में मिला था रास्ते में। परन्तु ऐसा घबरा गया। साहेब! मेरा मकान जल गया। पचास हजार का कपड़ा जल गया। बड़ा ब्राह्मण था। उसके गाँव जाये दो दिन। गाँव का नाम भूल गये। ब्राह्मण था, बड़े में बड़ा ब्राह्मण। सवेरे आवे और शाम को फिर चला जाये। वह कहे, कोई नहीं था और अन्दर कपड़ा सुलग गया। अरे! ऊपर से खिड़की दरवाजे में से दूसरे के मकान में से उतारकर नीचे लाये। तब जीवित रहे। देखो! यह सुख।

मुमुक्षु : यह तो किसी को....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह किसी को सुलगता है सबको... आहाहा!

कहते हैं, जो कुछ दुःख है उसे सुख मानता है, उसे ज्ञान वैराग्य सुख का कारण है, उसे अहितकर-कष्टरूप मानता है। आहाहा!

और अज्ञानी जीव को लक्ष्य करके श्रीमद् राजचंद्र ने कहा है कि-

अनंत सुख नाम दुःख, त्यां रही न मित्रता,

१६वें वर्ष में कहते हैं।

अनंत दुःख नाम सुख, प्रेम त्यां विचित्रता!
उघाड़ ज्ञान नेत्र को, निहार रे! निहार तू,
निवृत्ति शीघ्रमेव धारी, अरु प्रवृत्ति वाल तू॥'

१६वें वर्ष में कहते हैं। यह तेरी सब प्रवृत्ति राग की, पुण्य की और पाप की दुःखदायक प्रवृत्ति है। आहाहा!

अहा..... जो अनन्त सुख का धाम है—ऐसे चैतन्यस्वभाव में तो तुझको मित्रता न रही,... आनन्द के धाम भगवान में तो तुझे प्रेम नहीं। **उसमें उत्साह और प्रेम नहीं...** आहा! लड़के का विवाह करना हो, दो-पाँच करोड़ की पूँजी हो, पाँच-पच्चीस लाख खर्च करना हो (तो) देखो यह तो तुम्हारे। उसकी माँ पागल (हो जाये)। उत्साह... उत्साह... उत्साह... मानो। अरे... बहिन! परन्तु धीरे-धीरे बोलो। तीन-चार दिन से तुम्हारा गला बैठ गया है। यह तो चले। कहो, चिमनभाई! महिलायें ऐसा बोलें, हों!

मूर्खायें ऐसी हों। परन्तु यह पलंग पर बैठकर जलेबी और गांठिया खाने बैठे। वह कहे, ऐसा अवसर फिर से कहाँ मिलेगा? आहाहा! मूर्खता का प्रदर्शन करे। तो भी बोला करे जोर-जोर से। गला बैठ गया हो। उत्साह... उत्साह... उत्साह... पाप में रहने का।

कहते हैं कि **उत्साह और प्रेम नहीं आया...** प्रभु के प्रति तुझे। वहाँ उत्साह आया। आहाहा! नयी दुकान लगावे, पाँच-पचास लाख रुपये हों, कपड़े का धन्धा करना हो तो कपड़े मैले न होने दे कपड़े में। दूसरे में तो कुछ धूल और मैला भी हो। यह तो कपड़े का धन्धा, इसलिए ऐसे राजकोट में मध्य में मकान मिला है और आमदनी भी भारी होगी। देखो! वह दुकान के समय उसका उत्साह। और फिर गुड़ और धनिया बाँटे। धूल भी नहीं। मर जायेगा। वहाँ उत्साह और यहाँ उत्साह नहीं होता। चैतन्य का धाम परमात्मा स्वयं, उसमें रहना और जाने के लिये तुझे उत्साह नहीं और यहाँ तुझे उत्साह? आहाहा!

अनन्त दुःख का धाम—ऐसे जो बाह्यविषय, उनमें तुझे सुखबुद्धि हुई-प्रेम आया-उत्साह आया, यह कैसी विचित्रता है? जिसमें दौड़कर दुर्गति में जाना है, उसमें तुझे उत्साह (आता है)। जिसमें सुगति मिले, ऐसा चैतन्यधाम में तो उत्साह और प्रेम नहीं। **अरे जीव! अब तू अपने ज्ञानचक्षु को खोलकर देख! रे देख कि 'तेरा स्वभाव, दुःखरूप नहीं, अपितु बाह्यविषयों की ओर का तेरा झुकाव एकान्त दुःखरूप है;...** लो! संक्षिप्त किया। देखा! बाह्य विषयों की ओर का झुकाव एकान्त दुःखरूप है। चिमनभाई! यह तो देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति बाह्य विषय का झुकाव, ऐसा कहते हैं। वह भी दुःखरूप है, शुभभाव। तो कारखाने का क्या कहना? आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! वहाँ वे स्टील के प्याले निकलें। क्या कहते हैं? प्याला कहते हैं न? एक बार कारखाने में गये थे। लो, कहे यह स्टील का... ले जाओ स्टील का ले जाओ। मुझे क्या करना है? कहा। स्टील का कारखाना है न इसके बड़ा। जोरावर। अभी चलता है? वही।

मुमुक्षु : उससे बड़ा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उससे बड़ा। पैसा बढ़ता जाये न। आहाहा! ले जाओ, ले जाओ। मुम्बई में भी दुकान में चरण करें तो, महाराज! यह ले जाओ न, ऐसा कहे। भाई! हमारे क्या करना है? यह चन्द्रकान्तभाई और यह सब नहीं? राजकोटवाले। मुम्बई में इनकी बर्तन की दुकान है। सब ऐसे बड़े-बड़े पानी भरने के और वे... बड़ी दुकान है। अन्दर गये तो कहे, यह ले जाओ यह पानी भरने का। भाई! यहाँ से कहाँ ले जायें वहाँ? धूल में तुम्हारे ... अरे! आहाहा!

कहते हैं तुझे **तेरा स्वभाव, दुःखरूप नहीं,...** ज्ञानचक्षु से देख तो तेरा स्वभाव दुःखरूप नहीं है। **बाह्यविषयों की ओर का तेरा झुकाव एकान्त दुःखरूप है; उसमें स्वप्न में भी सुख नहीं है।** स्वप्न में भी वह सुख नहीं है। **इस प्रकार विवेक से विचार कर तू अपने अन्तरस्वभाव के सन्मुख ढल...** सूक्ष्म बात है। धर्म ऐसा! धर्म उसे कहते हैं कि जो आनन्दस्वरूप की ओर ढलना, झुकाव करना और उसमें शान्ति मिले, उसका नाम धर्म है। बाहर में मन्दिर में और मन्दिर की पूजा के झुकाव में तो राग, हो भले, परन्तु है वह दुःख। समझ में आया?

बाह्यविषयों में सुखबुद्धि छोड़कर, उनसे निवृत्त हो,... है न? निवृत्ति शीघ्र ही धार। निवृत्त हो, **निवृत्त हो! नित्य निर्भय स्थान और सुख का धाम तो तेरा आत्मा ही है।** आहाहा! आत्मा अर्थात् कुछ नहीं और यह दूसरी वस्तु अर्थात् सर्वस्व। आत्मा अर्थात् कि है अन्दर। अरे! बापू! क्या है भाई? आत्मा तो सुख का सागर, आनन्द का धाम है। अतीन्द्रिय आनन्द से छलाछल भरपूर भगवान है। आहाहा! ऐसे आत्मा की तो कोई कीमत नहीं। साठ वर्ष में लड़का हो तो ओहो! भाई! उत्तराधिकार ले गया होता कोई, इसकी अपेक्षा उत्तराधिकार का स्वामी आज जगा।

मुमुक्षु : वह भी कोई है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी कहे, मेरा है न। मेरा है, उसे ले जायेगा। २५ लाख और ५० लाख। पुत्र न हो तो देवर का पुत्र ले जायेगा। किसी का। पाप किया मैंने और ले जाये किसी का। साठ वर्ष में भी लड़का हुआ। खुशी-खुशी मनाओ। आज लापसी का आंधण, करो पाप का उकाला। सुजानमलजी! ... आहाहा!

सुख का धाम तो तेरा आत्मा ही है। आहाहा! **इसलिए शुद्धात्मस्वरूप के स्वसंवेदन सिवाय...** आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्द है, उसके स्व अर्थात् अपने, सं— प्रत्यक्ष आनन्द के वेदन के अतिरिक्त **अन्य कोई अभयस्थान नहीं है।** कोई अभय का स्थान नहीं। अभय स्थान तो यह है। आहाहा! **संसार दुःख के त्रास के अभाव का वह एक ही स्थान है,...** संसार के दु:ख के त्रास का अभाव, उसका एक ही स्थान है। **सुख का वह एक ही स्थान है; शरीर-पुत्रादि बाह्यपदार्थ-कोई सुख के स्थान नहीं हैं।** भाई! जवानी में कमाया हो तो वृद्धावस्था में काम आवे। ऐसा (लोग) कहते हैं।

श्लोक - ३०

तस्यात्मनः कीदृशः प्रतिपत्त्युपाय इत्याह -

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः॥ ३०॥

संयम्य स्वविषये गच्छन्ति निरुध्य। कानि? सर्वेन्द्रियाणि पञ्चापीन्द्रियाणि। तदनन्तरं स्तिमितेन स्थिरीभूतेन। अन्तरात्मना मनसा। यत्स्वरूपं भाति। किं कुर्वतः? क्षणं पश्यतः क्षणमात्रमनुभवतः बहुतरकालं मनसा स्थिरीकर्तुमशक्यत्वात् स्तोककालं मनो निरोधं कृत्वा पश्यतो यच्चिदानन्दस्वरूपं प्रतिभाति तत्तत्त्वं तद्रूपं तत्त्वं स्वरूपं परमात्मनः ॥३०॥

उस आत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय कैसा है? - वह कहते हैं —

इन्द्रिय विषय विरक्त हो, स्थिर हो निज में आत्म।
उस क्षण जो अनुभव वही, है निश्चय परमात्म॥ ३०॥

अन्वयार्थ - **(सर्वेन्द्रियाणि) सम्पूर्ण पाँचों इन्द्रियों को (संयम्य) अपने विषयों में यथेष्ट प्रवृत्ति करने से रोककर, (स्तिमितेन) स्थिर हुए (अन्तरात्मना) अन्तःकरण के द्वारा (क्षणं पश्यतः) क्षणमात्र के लिए अनुभव करनेवाले जीव के**

(यत्) जो चिदानन्दस्वरूप (भाति) प्रतिभासित होता है, (तत्) वही (परमात्मनः) परमात्मा का (तत्त्वं) स्वरूप है।

टीका - अपने-अपने विषयों में जाती-प्रवर्तती। कौन (प्रवर्तती) ? सर्व इन्द्रियाँ अर्थात् पाँचों इन्द्रियाँ; उन्हें रोककर-निरोध कर, तत्पश्चात् स्थिर हुए अन्तरात्मा द्वारा अर्थात् मन द्वारा जो स्वरूप भासता है, क्या करते हुए ? क्षणमात्र देखते-क्षणमात्र अनुभवते अर्थात् बहुत काल तक मन को स्थिर करना अशक्य होने से, थोड़े घण्टे तक मन का निरोध करके देखने पर, जो चिदानन्दस्वरूप प्रतिभासता है, वह परमात्मा का तत्त्व-तद्रूप तत्त्व-स्वरूप है।

भावार्थ - सर्व इन्द्रियों के विषयों में भ्रमती-प्रवर्तती चित्तवृत्ति को रोककर अर्थात् अन्तर्जल्पादि सङ्कल्प-विकल्पों से रहित होकर, उपयोग को अपने चिदानन्दस्वभाव में स्थिर करना। उसके आत्मस्वरूप में स्थिर होने पर, परमात्मस्वरूप का प्रतिभास होता है।

पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर का झुकाव छोड़कर और मन के सङ्कल्प-विकल्पों को तोड़कर, ज्ञानानन्दस्वभाव में एकाग्र होना-स्थिर होना, वह परमात्म-प्राप्ति का उपाय है।

विशेष स्पष्टीकरण-

आत्मा, अतीन्द्रिय सुख का भण्डार है — ऐसी दृष्टि होने पर, राग की-विकल्प की रुचि तथा इन्द्रिय-विषयों की ओर की प्रवृत्ति रुक जाती है। पर-सन्मुख की वृत्ति रुक जाने पर, उपयोग, आत्मस्वरूप में स्थिर होता है और आत्मा के आनन्दकन्द का अनुभव होता है, यह सम्यग्दर्शन है और यही समाधि है; इसके द्वारा ही परमात्मपद प्राप्त होता है॥३०॥

श्लोक - ३० पर प्रवचन

उस आत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय कैसा है ? - वह कहते हैं —

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः॥ ३०॥

आहाहा! बहुत संक्षिप्त।

टीका - अपने-अपने विषयों में जाती-प्रवर्तती। कौन (प्रवर्तती)? सर्व इन्द्रियाँ अर्थात् पाँचों इन्द्रियाँ; उन्हें रोककर- पाँच इन्द्रियों के विषय की ओर झुकता था, उसे रोककर। आहाहा! '**जो इंदिये जिणित्ता**' आया न? ३१वीं गाथा। इसका अर्थ कि भगवान की वाणी सुनना, भगवान के दर्शन करना, वह इन्द्रिय का विषय है। लोगों को कठिन लगता है। यहाँ तो सब इन्द्रियों को रोककर, ऐसा कहा है न? इन्द्रियों को रोककर।

मुमुक्षु : द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उनके विषय।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीनों। द्रव्य यह जड़ पाँच इन्द्रियाँ मिट्टी, अन्दर भावेन्द्रिय वह एक विषय को जाननेवाला ज्ञान और उसका विषय भगवान की वाणी, स्त्री, पुत्र सब उसका विषय। इन तीनों को इन्द्रियाँ कहा है। यह इन्द्रियाँ जड़ पाँच, भावेन्द्रिय—चैतन्य की पर्याय क्षयोपशम उघाड़ कि जिससे एक-एक विषय ज्ञात होता है। चक्षु से रूप ज्ञात होता है, कान से वाणी ज्ञात होती है। ऐसा। यह इन्द्रियाँ। भावेन्द्रिय, जड़ इन्द्रिय और उसका विषय। विषय अर्थात् स्त्री, पुत्र, परिवार, पैसा, महल यह सब इन्द्रिय के विषय हैं। यह इन्द्रिय में डाले हैं। और भगवान की वाणी और भगवान को भी इन्द्रिय में डाला है। शान्तिभाई! कठिन पड़े व्यवहार के विषयवालों को। वहाँ से विमुख हो, कहते हैं। है न?

सर्व इन्द्रियाँ अर्थात् पाँचों इन्द्रियाँ; उन्हें रोककर-निरोध कर,... क्योंकि भगवान आत्मा तो अणीन्द्रिय है। आहाहा! ऐसा धर्म करने के बदले कोई दूसरा हल्का धर्म नहीं होगा? हल्का तो यही हल्का है। पर की ओर के झुकाव को रोककर **तत्पश्चात् स्थिर हुए अन्तरात्मा द्वारा...** ज्ञानपर्याय को अन्तर में झुकाने से सब इन्द्रियों के विषय से हट जाने से **स्थिर हुए अन्तरात्मा द्वारा...** अतीन्द्रिय आनन्द में स्थिर होता भगवान आत्मा, **जो स्वरूप भासता है...** मन द्वारा जो स्वरूप भासित होता है। मन शब्द पड़ा है न! अन्दर भासित होता है। अन्तर आत्मा में। यह टीका में है। '**अन्तरात्मना मनसा**' है न? ऐसा कि भावमन। भावमन ... '**यत्स्वरूपं मनोनिरोधं कृत्वा**' संस्कृत में शब्द पड़ा है।

कहते हैं कि पर पाँच इन्द्रिय, और उनकी ओर का झुकाव भाव, वह दु:खरूप भाव, वहाँ से हटकर, भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसमें स्थिर होने से जो वस्तु भासित होती है, वह परमात्मतत्त्व स्वयं है। आहाहा! **जो स्वरूप भासता है, क्या करते हुए? क्षणमात्र देखते**- अर्थात् **क्षणमात्र अनुभवते...** फिर वहाँ लेंगे थोड़ा। संस्कृत में है न? '**बहुतरकालं मनसा' बहुत काल तक मन को स्थिर करना अशक्य होने से, थोड़े घण्टे तक...** परन्तु थोड़ा भी वह अन्तर में झुकना, वह थोड़ा काल बहुत काल है न! आहाहा!

मन का निरोध करके देखने पर,... मन की कल्पनायें जो शुभ-अशुभराग, उसे रोककर—छोड़कर, उसके पीछे जो अन्तरात्मा है, उसमें स्थिर होने से जो वस्तु का अनुभव होता है, वह वस्तु परमात्मस्वरूप है। वही तू परमात्मा है, कहते हैं। आहाहा! अर्थात् परम स्वरूप है। **जो चिदानन्दस्वरूप प्रतिभासता है,...** ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा, पाँच इन्द्रिय के भाव जड़ और बाहर से रोककर अन्तर में स्थिर होता है, तब वह स्थिरता की जो पर्याय का लक्ष्य, उसके ऊपर है वह तत्त्व चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा है। ऐसा काम। आहाहा!

लो, यह सम्यग्दर्शन। देखा भगवान को। सम्यक् अवलम्बता है। नहीं कहा था? भाई! रात्रि में कहा था। पण्डितजी को... ११वीं गाथा। सम्यक् अवलोकन है शुद्धनय का। भूतार्थ है अर्थात् सम्यक् अवलोकन ... भूतार्थ को, त्रिकाल वस्तु को, सत्य वस्तु को, परम सत्य वस्तु धर्मस्वरूप धर्मी को अन्तर्मुख अवलोकन करने से उसे आनन्द का भान हो, वह तत्त्व तद्रूप तत्त्व अरागस्वरूप परमात्मा का है। आहाहा!

बहिर्तत्त्व का लक्ष्य और दृष्टि से छोड़कर अर्थात् कि जो इसके परम स्वरूप में नहीं, ऐसे पुण्य-पाप के विकल्प और उनका फल बन्धन और उसका फल यह संयोग, इन सबसे हटकर। आहाहा! स्वरूप चिदानन्दस्वरूप जो अन्दर सम्यग्ज्ञान में भासित होता है, वही तेरा स्वरूप और वही तू परमात्मस्वरूप है। आहाहा! लोग कहते हैं, परन्तु इसका कोई साधन, ऐसा कहते हैं। यह तो तुमने निश्चय वस्तु उतारी। परन्तु यह साधन है। कहा न? प्रश्न आया था न? आहाहा!

बाह्य की ओर के झुकाव को छोड़कर अन्तर के झुकाव में जाना, उस दशा में जो परमात्मा भासित होता है आनन्द के स्वाद से, वह परमात्मा स्वयं अन्दर है। आहाहा! ऐसा स्वरूप और यह सब सुना भी न हो कितने नये (लोगों ने)। यह व्रत करो और अपवास करो। लो! यह तत्त्व '**तत्तत्त्वं परमात्मनः**' चौथा पद है न? परमात्मा की पर्यायरूप होना, वह अलग बात है। यह तो अन्दर जो परम तत्त्व अर्थात् परमस्वरूप है, उसमें स्थिर होने पर बाह्य से विकल्प को रोककर अन्दर में निर्विकल्प तत्त्व के ध्यान में परम स्वरूप को ध्येयरूप बनाकर अन्दर स्थिर होने से जो वस्तु का भास होता है, वह वस्तु परम तत्त्व है। आहाहा! कठिन बातें, भाई! इन सबको साधन व्यवहार चाहिए, ऐसा कहते हैं। परन्तु यह स्वयं व्यवहार है। जो अन्दर में एकाग्र हो, वह पर्याय स्वयं व्यवहार है। समझ में आया? कठिन मार्ग!

यह तो पूज्यपादस्वामी दिगम्बर मुनि। मुनियों के लिये कहा है यह? जिसे अन्तरात्मा होना हो, उसकी यह विधि है। अर्थात् कि जिसे सम्यग्दृष्टि होना हो, उसकी यह कला है। आहाहा! सम्यग्दर्शन पहले हो तो उसे पूर्णानन्द के नाथ के सामने देखना। पर के सामने (देखना) छोड़ देना चाहिए। आहाहा! भाव थोड़े हैं परन्तु भाव में गम्भीरता बहुत है।

कहते हैं कि वह परमतत्त्व प्रतिभास हो, वह परमात्मस्वरूप है। आहाहा! वह परमस्वरूप है। महा परम स्वरूप जिसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त बल, स्वच्छता, प्रभुता इन शक्तिस्वरूप ऐसा जो परमात्मा, उसे पर से इन्द्रियों के विषय से रोककर अन्तर में स्थिर होना, स्थिर होने से जो स्वरूप भासित होता है, वह परमात्मा स्वयं है। समझ में आया? ऐसी बातें! वे कहें कि एकेन्द्रिया, दो इन्द्रिया, त्रिइन्द्रिया, चौइन्द्रिया, पंचेन्द्रिया जीवियाओ ववरोविया, ऐई! वजुभाई! इच्छामि पडिकमणा किया था या नहीं? इच्छामि पडिकमणा, इरिया, वहियाये, विराहणाये, गमणा, गमणे, तस्स मिच्छामि दुक्कडम्। लो जाओ। हो गयी सामायिक। ऐई! जेठाभाई! जेठाभाई ने भी किया है सब। गर्म पानी पीते थे। अरे! परन्तु भाई!

यहाँ तो परमात्मा कहते हैं, पर की ओर के झुकाव के भाव को छोड़ दे। यदि

तुझे सुखी होना हो तो। अर्थात् तुझे धर्मी होना हो तो। सुखी होने का अर्थ धर्मी होना। आहाहा! धर्मी होना हो तो, तुझे धर्म धारण करना हो तो यह पर की ओर के पाँच इन्द्रिय के शुभ-अशुभ विकल्प, उनमें से विमुख हो। आहाहा! और अणीन्द्रिय भगवानस्वरूप विराजमान स्वयं, उसकी भेंट कर। लो। यह धर्मी होने का और धर्म होने की यह पद्धति। गजब भाई! तो यह सब क्या करेंगे तब यह बड़े मकान। कितने मन्दिर बनाये। एक तो वह मन्दिर था, और समवसरण बनाया, फिर मानस्तम्भ बनाया और एक यह (परमागम)।

मुमुक्षु : एक बाहुबलीजी का (बाकी रहा)।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अब इनकार किया। कोई कहे, पाँच लाख दूँगा और बाहुबलीजी की मूर्ति करो। अब नहीं। यह तो हो गया, वह हो गया अब। आहाहा! यह तो उसके काल में हुआ और उसमें बनाने के भाव शुभभाव हो भले। समझ में आया? वह पुण्यबन्ध का कारण है। उसमें वह स्वयं शुभभाव है। वह व्यवहार से धर्म है, परमार्थ से अधर्म है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। तब मूर्ति, मूर्ति की पूजा नहीं करना न? करने का तो नहीं ही निश्चय से, परन्तु अन्दर स्थिर नहीं हो सकता, तब ऐसा भाव आये बिना रहता नहीं। और वह शुभभाव न हो भक्ति आदि का और ऐसा माने कि हमको तो वीतरागता पूर्ण हो गयी, वह तो मूढ़ है। आहाहा! समझ में आया? तथा यह शुभभाव आया, इसलिए धर्म है—ऐसा नहीं है। पूर्ण वीतरागता प्रगट न हो और स्वरूप की भेंट होने पर भी स्थिर होकर परमात्मा न हो, उसे बीच में ऐसा भक्ति का, पूजा का भाव आता है। आओ, परन्तु वह इन्द्रियों की ओर के झुकाव का भाव है।

दूसरे प्रकार से कहें तो वह इन्द्रियों के विषयों को इन्द्रिय कहा है। भाई! परमात्मा स्वयं यह मन्दिर और देव कहे हैं न? मन्दिर, मूर्ति वह सब इन्द्रियाँ हैं। उन्हें इन्द्रियाँ कहा है। क्योंकि इन्द्रियों की ओर झुकाव होता है उसका, तब वह इन्द्रिय से ज्ञात होता है। अणीन्द्रिय आत्मा वहाँ नहीं ज्ञात होता। आहाहा! परन्तु जिसे वास्तविक तत्त्व का वेदन और अनुभव करना हो तो उसे उस क्षण में भी उसे शुभभाव को भी छोड़ देना पड़ेगा। आहाहा! और ऐसा पुण्यबन्ध का दु:खरूप (व्यवहार) नय आवे, समकिती

को भी आवे। आता है। पूर्ण स्थिरता न हो तो आता है। ऐसा करके... मूर्ति के माननेवाले मिथ्यात्वी हैं, उसे नहीं मानते, इसलिए समकित है—ऐसा नहीं है। सुजानमलजी!

कहा था न, यह चर्चा हुई थी (संवत्) १९८३ में। दामोदर सेठ के साथ। ८३ में। बहुत वर्ष हो गये। ४८ वर्ष हुए। वह कहे कि समकिती फिर मूर्ति को मानता नहीं। मिथ्यादृष्टि हो तब तक वह मूर्ति को माने, ऐसा होता है। सम्यक्त्व होने के बाद नहीं होता। कहा, सुनो! सम्यग्दृष्टि होने के बाद ही नय होते हैं और नय हो, वहाँ व्यवहारनय का विषय लक्ष्य में आये बिना रहता नहीं। इसलिए समकिती को ही निक्षेप होता है। क्योंकि स्व के आश्रय से भावश्रुतज्ञान हुआ, उस श्रुतज्ञान का भेद पड़ा वह नय। उस नय के दो भाग—निश्चय और व्यवहार। उस नय का विषय निश्चय का स्व और व्यवहार का पर। इसलिए वास्तव में तो समकिती को ही व्यवहारनय होता है। और उस व्यवहारनय का विषय स्थापना समकिती को ही ज्ञेय के भेद का विषय होता है। मोहनलालजी! मिथ्यादृष्टि को नहीं होता, कहा। उसे नहीं सुहाया। आहा! ऐसा होगा? भाव आवे। राग है। उसमें परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतराग की मूर्ति, मन्दिर को देव कहे हैं व्यवहार से। निश्चयदेव तो भगवान आत्मा है। आहाहा!

परन्तु यहाँ तो सिद्ध यह करना है कि तुझे जब शुरुआत यदि धर्म की करनी हो तो जहाँ सुखरूप स्थान पड़ा है, वहाँ जा। और पाँच इन्द्रिय के विषय के झुकाव को छोड़, तो अन्दर स्वरूप की दृष्टि होगी। आहाहा! और फिर स्वरूप की दृष्टि होने पर भी निश्चय दशा पूर्ण प्रगट नहीं हो, उसे बीच में ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। और वह भाव बन्ध का कारण आये बिना नहीं रहता। पूर्ण अबन्ध परिणाम प्रगट न हो, वहाँ तक बन्ध के परिणाम (होते हैं)। अबन्धस्वभाव को, अबन्धस्वभाव को जानने से अबन्ध परिणाम हुए। परन्तु अबन्ध परिणाम पूर्ण न हो, मोक्षमार्ग, तब तक बीच में ऐसे बन्ध परिणाम आते अवश्य हैं। अरेरे! समझ में आया? परन्तु उसे ज्ञानी जानता है कि यह राग पुण्य है। बाधक है। परन्तु स्थिर नहीं होता, इसलिए आये बिना रहता नहीं। अन्दर आनन्द में लीन न हो, आनन्द का धाम होने पर भी स्थिर न हो जाये, चारित्रदोष है न वह? आहाहा! उसे ऐसा भाव आता है और वह भाव आवे, इसलिए मन्दिर बनता है, ऐसा नहीं है। और मन्दिर बना इसलिए शुभभाव उसके कारण से होता है... अरे रे! ऐसी

बात है। ऐसा भी नहीं है। पोपटभाई! तो यह बनाते हैं न पोपटभाई और यह। देखो न! गिरधरभाई कहाँ गये? वहाँ ढाई लाख का बनाते हैं। ... वढवाण का मन्दिर बनाया था न? ऐई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इकट्ठा करे। आहाहा!

यह तो उस काल में जब बनने का–परमाणुओं की पुद्‌गलों की परावर्तन दशा होने का वह काल है। इससे वहाँ उसके समय में वहाँ होता है। आहाहा! तथापि इसे शुभभाव जब हो, तब इसका लक्ष्य वहाँ जाता है। है तो वह इन्द्रिय का विषय। आहाहा! जैसे इन्द्रिय का विषय स्त्री है, वैसे वाणी, मन्दिर भी इन्द्रिय का विषय है। वह अशुभ विषय है, यह शुभ है। आहाहा! ऐसा भगवान का स्वरूप अनेकान्त जिस प्रकार से है, उस प्रकार से न माने और एकान्त कर डाले, फिर मिथ्यात्व का पोषण हो। समझ में आया? ऐसे उससे धर्म मान ले तो एकान्त हो। यह आता ही नहीं, वह भी मिथ्यादृष्टि है। गजब भाई!

वह परमात्मा का तत्त्व... है। आहाहा! यह तो अणाग्रही और वास्तविक तत्त्व के स्वरूप का अभिलाषी (हो), उसके लिये यह है। स्वयं ने माना हो, उस बात को शास्त्र से दृढ़ की हो तो उसे यह नहीं मिलेगा। समझ में आया? आहाहा!

भावार्थ - सर्व इन्द्रियों के विषयों में भ्रमती– है? एक है। आर्यिका ऐसा कहती है, देखो! इसमें भगवान की भक्ति को छोड़ने का कहा है। इसलिए भगवान की मूर्ति है नहीं शास्त्र में, ऐसा कहती है। आहाहा! वह लीलावती है न तुम्हारी? वह ऐसा कहती है कि मूर्ति शास्त्र में नहीं है। और मूर्ति की भक्ति भगवान की, उसे सच्ची भक्ति नहीं कहा, इसलिए मूर्ति पूजनेयोग्य नहीं। व्यवहार से पूजनेयोग्य है। निश्चय से कहाँ पूजनेयोग्य है? निश्चय से तो स्वरूप पूजने का कहा है। परन्तु स्वरूप की स्थिरता पूर्ण न हो, तब तक ऐसा भाव गणधर को भी आये बिना नहीं रहता। छद्मस्थ को। आहाहा! ... समझ में आया?

पंच महाव्रत के परिणाम, वह इन्द्रिय का विषय है और वह पर के लक्ष्य से पाँच

होते हैं। अहिंसा आदि। इसे नहीं मारना, इसकी दया पालूँ, ऐसे सत्य बोलना। वह तो सब विकल्प है। आहाहा! वास्तव में तो वह इन्द्रिय है और इन्द्रिय का विषय है। आहाहा! क्योंकि अणीन्द्रिय जैसा भगवान आत्मा अणीन्द्रियस्वरूप प्रभु, उसमें विकल्प जो उठा वह इन्द्रियस्वरूप है। परन्तु अणीन्द्रिय का भान होकर अणीन्द्रिय पूर्ण दशा प्रगट न हो, तब बीच में ऐसा शुभभाव आये बिना नहीं रहता, तथापि उसे धर्म नहीं मानता। व्यवहार धर्म माने। व्यवहार धर्म अर्थात् ... समझ में आया? खींचतान में सब फेरफार हो गया। एक ने व्यवहार था, उसे उड़ाया कि वह होता ही नहीं। दूसरा कहता है कि व्यवहार से धर्म होता है। दोनों खोटे हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : संवर, निर्जरा।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से संवर-निर्जरा धूल में भी नहीं। संवर-निर्जरा तो स्वभाव के आश्रय से होती है। उसकी इसे खबर भी नहीं। और जब तक स्वभाव का पूर्ण आश्रय न हो, तब तक स्व का आश्रय लिया, उतना धर्म। स्वआश्रय निश्चय और पराश्रित व्यवहार। वह पराश्रित व्यवहार का भाव होता है। जाना हुआ प्रयोजनवान है। आहाहा! वह किया हुआ प्रयोजनवान है, ऐसा नहीं। समझ में आया? यह व्यवहारनय आया न बारहवीं गाथा में? तब ही उसका मिलान बैठे।

वस्तु शुद्ध चैतन्य भूतार्थ का भान होने पर भी पर्याय में राग की मन्दता और अस्थिरता आदि ... उसे छोड़ता है, उसे जानना, इसका नाम व्यवहार है। उसे जानना, इसका नाम व्यवहार है। उसे करना, वह व्यवहार है—ऐसा नहीं है। आहाहा! जाना हुआ प्रयोजनवान है। बाकी ऊपर तो ऐसा लिखा किसी-किसी को व्यवहार भी प्रयोजनवान है। ऐसा नहीं आया? गाथा में है न? उसमें ऊपर तो आया किसी-किसी को व्यवहार प्रयोजनवान है। यह तो फिर टीका में (स्पष्ट किया है)। परन्तु ऊपर ऐसा है, इसलिए कहे, देखो! व्यवहार (करने का कहा है)। परन्तु क्या कहा यह?

मुमुक्षु : किसी-किसी को है न? सबको....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा। किसी-किसी को अर्थात् जिसकी स्वरूप में स्थिरता नहीं, ऐसे जीव को ऐसा व्यवहार होता है। वह व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है।

आहाहा! कठिन बातें। भाई! वीतराग के मार्ग की अनेकान्त शैली अमृतस्वरूप है न! वह यहाँ कहते हैं, देखो!

इन्द्रियों के विषयों में भ्रमती-प्रवर्तती चित्तवृत्ति को रोककर अर्थात् अन्तर्जल्पादि सङ्कल्प-विकल्पों से रहित होकर,... बाहर की ... अन्तर्जल्प। मैं आत्मा हूँ, शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ—ऐसे विकल्प हैं न? १४३ गाथा में कहा है न, मैं अबद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, यह भी एक विकल्प है। यह अन्तर्जल्प है। इससे रहित होकर **उपयोग को अपने चिदानन्दस्वभाव में स्थिर करना।** आहाहा! ज्ञान के अन्तर व्यापार को स्वरूप में स्थिर करना। आहाहा!

उसके आत्मस्वरूप में स्थिर होने पर, परमात्मस्वरूप का प्रतिभास होता है। लो! अर्थात् जो परमस्वरूप है, उसका वेदन होता है। वेदन तो पर्याय में है, परन्तु परमस्वरूप यह है। उसकी सेवना करने से, आया है या नहीं? छठवीं गाथा में? पर का लक्ष्य छोड़कर द्रव्य का सेवन करने से और शुद्ध स्वरूप त्रिकाल है, उसे पर्याय को वहाँ झुकाने से जो शुद्धता प्रगट होती है, वह पर्याय है। वह शुद्धता प्रगट हुई, उसे त्रिकाल शुद्ध है, ऐसा अनुभव में आया। समझ में आया? उसे शुद्ध और पवित्र ऐसे आत्मा को जानना, वह धर्म है, ऐसा कहा।

पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर का झुकाव छोड़कर... यह वलण नहीं चुकाते? ...चिमनभाई! वैसे यह वलण छोड़ दे, कहते हैं। पर की ओर का। **मन के सङ्कल्प-विकल्पों को तोड़कर, ज्ञानानन्दस्वभाव में एकाग्र होना-स्थिर होना, वह परमात्म-प्राप्ति का उपाय है।** लो!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष शुक्ल ६, शनिवार, दिनांक १८-१-१९७५, श्लोक-३०-३१, प्रवचन-३९

गाथा ३०वीं। उसका विशेष। समाधितन्त्र। **आत्मा, अतीन्द्रिय सुख का भण्डार है...** ...का अनुभव होता है। यह सम्यग्दर्शन है। लो! इसे सम्यग्दर्शन कहा। भगवान सच्चे, देव-गुरु सच्चे, इसलिए सम्यग्दर्शन—ऐसा नहीं है। सम्यक् अर्थात् यथार्थ और दृष्टि-श्रद्धा यथार्थ श्रद्धा। वह वस्तु स्वयं आनन्द का धाम, सुख का सरोवर है। उसमें पानी पीने जाये सुख का तो उसे सुख मिलेगा। आहाहा! 'निर्विकल्परस पीजिये।' जितने पुण्य-पाप के भाव (होते हैं), वह तो असमाधि है, दुःखरूप है।

यह सम्यग्दर्शन है और यही समाधि है। 'चित्त समाधि हुए दस बोल...' ऐसा आता है श्वेताम्बर में। दस बोल आते हैं। दशांगसूत्र में। 'चित्त समाधि हुए दस बोल...' यहाँ प्रथम सम्यग्दर्शन को समाधि में लिया। समझ में आया? परन्तु उसे सम्यग्दर्शन अर्थात् यह देव-गुरु-शास्त्र को मानना, अन्तःकरण से नौ तत्त्व की श्रद्धा करना। अब अन्तःकरण अर्थात् क्या? उसकी व्याख्या करे कि अन्तर का मन। आहाहा! पुद्गल ही है वह भावमन। आहाहा! अचेतन है, राग अचेतन है। पुद्गल के परिणाम हैं। आहाहा! वह आत्मा की उल्टी-विपरीतदशा से होते हैं। स्वरूप में नहीं वह विकार होने का... आहाहा!

कहते हैं कि **यह सम्यग्दर्शन है और यही समाधि है;...** आहाहा! सम्यग्दर्शन की व्याख्या लोगों ने साधारण कर दी है। अनन्त काल में जिसे सम्यग्दर्शन हुआ नहीं। ऐसी अपूर्व चीज़ प्रतीति में आने पर उसे शान्ति का वेदन आता है। क्योंकि विपरीत श्रद्धा गयी, अनन्तानुबन्धी गयी, उसे शान्ति का वेदन आता है। आहाहा! उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। **इसके द्वारा ही परमात्मपद प्राप्त होता है।** पूर्ण आत्मपद, परमात्मपद है। अन्तर के स्वभाव में आनन्द की दशा में झूलते, एकाग्र होने पर उसे सर्वज्ञपद प्राप्त होता है। यह सब व्रत, तप, भक्ति और पूजा से कहीं सर्वज्ञपद प्राप्त (नहीं होता)। वह तो बन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया?

श्लोक - ३१

कस्मिन्नाराधिते तत्स्वरूपंप्राप्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह -

यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥ ३१॥

यः प्रसिद्धः पर उत्कृष्ट आत्मा स एवाहं। योऽहं यः स्वसंवेदनेन प्रसिद्धोऽह-मन्तरात्मा स परमः परमात्मा। ततो यतो मया सह परमात्मनोऽभेदस्ततोऽहमेव मया उपास्य आराध्यः। नान्यः कश्चिन्मयोपास्य इति स्थितिः। एवं स्वरूप एवाराध्याराधक-भावव्यवस्था॥३१॥

किसकी आराधना करने से उस स्वरूप की प्राप्ति होती है?—ऐसी आशङ्का करके कहते हैं —

मैं ही वह परमात्म हूँ, हूँ निज अनुभवगम्य।
मैं उपास्य अपना स्वयं, निश्चय है नहीं अन्य॥ ३१॥

अन्वयार्थ **- (यः) जो (परात्मा) परमात्मा है, (स एव) वह ही (अहं) मैं हूँ तथा (यः) जो स्वानुभवगम्य (अहं) मैं हूँ, (सः) वही (परमः) परमात्मा है; (ततः) इसलिए, जबकि परमात्मा और आत्मा में अभेद है, (अहं एव) मैं ही (मया) मेरे द्वारा (उपास्य) उपासना किये जाने के योग्य हूँ; (कश्चित् अन्यः न) दूसरा कोई मेरा उपास्य नहीं (इति स्थितिः)—ऐसी वस्तुस्थिति है।**

टीका **- जो प्रसिद्ध पर अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा है, वह ही मैं हूँ। जो मैं, अर्थात् जो स्वसंवेदन से प्रसिद्ध मैं अन्तरात्मा-वह परम, अर्थात् परमात्मा है। मेरे साथ परमात्मा का अभेद है; इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासना करने योग्य-आराधना योग्य हूँ; अन्य कोई मेरे द्वारा उपासनेयोग्य नहीं है—ऐसी स्थिति है अर्थात् ऐसा स्वरूप ही है। ऐसी आराध्य-आराधक की व्यवस्था है।**

भावार्थ - अन्तरात्मा विचारता है कि 'मेरा अन्तरात्मा, स्वसंवेदन से प्रसिद्ध है; वास्तव में वह अरहन्त और सिद्ध के समान है अर्थात् परमात्मा है। उसको अभेदपने उपासना करने से, मैं स्वयं ही परमात्मा हो सकूँ, वैसा है; इसलिए मैं ही (मेरा शुद्धात्मा

ही) मेरा स्वयं का उपास्य हूँ; अन्य कोई उपासना करनेयोग्य नहीं है। मैं स्वयं ही उपास्य और उपासक हूँ।'

विशेष स्पष्टीकरण -

श्री प्रवचनसार, गाथा-८० में कहा है—

'जो जानता अरहन्त को, गुण द्रव्य रु पर्यायपने।
वह जीव जाने आत्म को, वो मोहक्षय पावे खरे॥'

'वास्तव में जो अरहन्त को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है, वह वास्तव में आत्मा को जानता है क्योंकि दोनों में निश्चय से कोई अन्तर नहीं है।'

जब अन्तरात्मा, अपने को सिद्धसमान शुद्ध, बुद्ध और ज्ञाता-दृष्टारूप अनुभव करता है और अभेदभावना के बल से शुद्धात्मा में तन्मय हो जाता है, तब वह सर्व कर्मबन्धन से मुक्त होकर परमात्मा बन जाता है; इसीलिए स्वयं उपासक और अपना शुद्धात्मस्वरूप उपास्य है—ऐसा समझकर और निर्णय करके, अन्तर्मुख होकर, अपने स्वसंवेदनज्ञान द्वारा निज शुद्धात्मा की उपासना करना, परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय है।

'सिद्धसमान सदा पद मेरो'—सिद्ध के समान ही मेरा स्वरूप शक्तिरूप से परिपूर्ण है। परमात्मपद, बाहर में नहीं है; वह तो मेरे में ही है, निरन्तर ऐसी भावना के बल से आत्मा, परमात्मा बन सकता है—ऐसी उसकी शक्ति है। जो उस शक्ति का श्रद्धा-ज्ञान करता है, वही अपने शुद्धात्मा में रमणता करके, परमात्मपद को प्राप्त करता है।

यही आराध्य-आराधकभाव की व्यवस्था का स्वरूप है॥३१॥

श्लोक - ३१ पर प्रवचन

अब शब्द लिया है कि आराधना किसकी करना? कि स्वरूप की प्राप्ति हो। सर्वज्ञदेव की आराधना करना? गुरु की करना? शास्त्र की करना? किसकी आराधना

करना? जो स्वरूप स्वयं शुद्ध चैतन्य, उसमें आनन्द की प्राप्ति किसकी आराधना से होती है? **ऐसी आशङ्का करके कहते हैं —**

यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥ ३१॥

आहाहा! **टीका - जो प्रसिद्ध पर अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा है,...** ...सिद्धसमान तो प्रसिद्ध है, कहते हैं। आहाहा! आत्मा अन्दर आनन्दस्वरूप है, वह तो प्रसिद्ध है। वह **उत्कृष्ट आत्मा है, वह ही मैं हूँ।** अन्दर जो उत्कृष्ट पर्याय से भी रहित शुद्ध चिद्घन आनन्द, वह मैं हूँ। वह मैं आत्मा और वह मैं परमात्मा। आहाहा! और जो मैं हूँ, वह परमात्मा है। वह परमस्वरूप वह मैं हूँ और मैं हूँ वह परमस्वरूप हूँ। आहाहा! वस्तु है न? परम स्वभावस्वरूप है। परम स्वभावस्वरूप। वह उदय-उपशम-क्षायिक, वह नहीं। आहाहा! ऐसी बात धर्म की। एक ओर संसार के काम के कारण निवृत्त नहीं। निवृत्त हो तो यह समझना कठिन पड़े। सुनने को मिले नहीं। आहाहा!

कहते हैं, **जो प्रसिद्ध पर अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा है,...** ऐसा है न? देखो! संस्कृत है यह। '**वही मैं हूँ।**' परमस्वभावभाव ऐसा जो अस्ति-सत्ता अन्तर में गहराई की स्व दशा, उससे सन्मुख। आत्मा और पर के सहारा बिना अकेले स्वरूप के सहारे से वेदन हो, वह मैं हूँ। आहाहा! सम्प्रदाय में तो ऐसा कहा जाता है कि यह सामायिक, प्रोषध, प्रतिक्रमण करना, वह धर्म है और दया, दान करना, वह पुण्य है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कहाँ था? यह उसने माना हुआ हो, वह बैठे। दो घड़ी बैठे। सामायिक-बामायिक की है या नहीं? ...भाई! नहीं की? ठीक। इसने की है, ऐसा कहते हैं। हमने भी ऐसी की थी, वहाँ दुकान पर। सामायिक करके बैठें और फिर प्रतिक्रमण करें। हो गया। सामायिक और प्रतिक्रमण कर डाले। वह पर्यूषण में, हों! बाकी तो कौन करता था? पर्यूषण के आठ दिन में शाम को हो प्रतिक्रमण और शाम को सामायिक करके बैठे, प्रतिक्रमण करने के लिये। हो गया धर्म। लो! आहाहा! यह जो धर्म करनेवाला है, वह कितना और कौन है? धर्म करनेवाला... धर्म की पर्याय है, वह

तो पर्याय हो गयी। परन्तु करनेवाला कितना है वह ? उसकी तो खबर नहीं होती और धर्म किस प्रकार होता होगा ? आहाहा ! समझ में आया ?

जो स्वसंवेदन से प्रसिद्ध... अथवा स्वज्ञान के वेदन से वह प्रसिद्ध हो, ऐसा है। वह राग से प्रसिद्ध हो, ऐसा नहीं, निमित्त से (प्रसिद्ध हो, ऐसा) नहीं। आहाहा !

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म के साथ इसे क्या सम्बन्ध है ? वह तो परवस्तु है। यहाँ तो संवेदन अपने स्वकाल में जो स्वसंवेदनदशा उत्पन्न होने की और हुई, उस स्वसंवेदन का लक्ष्य कहाँ था ? स्वभाव के ऊपर था। आहाहा ! तथा वह स्वसंवेदन की पर्याय प्रगट हो, वह तो उसके काल में हुई। उसका जन्मकाल है, उत्पत्ति का क्षण वह है। आहाहा ! परन्तु वह हो किस प्रकार ? वह काल है... उस काल में हो किस प्रकार ? आहाहा ! आनन्द का धाम है, ऐसी अन्तर्दृष्टि होने पर वह स्वसंवेदन उसके कारण से होता है। आहाहा ! समझ में आया ?

प्रसिद्ध मैं अन्तरात्मा-वह परम, अर्थात् परमात्मा है। अस्तिरूप मोक्ष तो सदा है। ऐसा आया है न ? ३२० गाथा। जयेसनाचार्य की टीका। यह तो व्यक्तिरूप मोक्ष की बात चलती है न। शक्तिरूप मोक्ष तो त्रिकाल मोक्षस्वरूप ही है। अर्थात् ? अबद्धस्पृष्ट अर्थात् मुक्तस्वरूप। (समयसार) १४-१५ गाथा में आया न ? कि मेरा प्रभु अबद्धस्पृष्ट है। राग और कर्म से बँधा हुआ-स्पर्शा हुआ नहीं है। अबद्धस्पृष्ट है। पर्याय में राग की उत्पत्ति का होना, वह भावबन्ध है। उस भावबन्ध में पर्याय का सम्बन्ध है। वस्तु भावबन्ध में नहीं। आहाहा ! वस्तु तो अबद्धस्पृष्ट है। अबद्ध कहो या मुक्त कहो। ऐसा जो स्वरूप मुक्तस्वरूप परमात्मा, उसे शुद्ध उपयोग से अनुभव करना, इसका नाम जैनशासन है। आहाहा ! इसका नाम जैनधर्म है, इसका नाम जैनशासन है। वह वस्तु का स्वभाव ही ऐसा प्रगट हुआ। वीतरागभाव से जो आत्मा है, उसे वीतरागी पर्याय द्वारा अनुभव किया। आहाहा ! वह जैनशासन है। बाकी राग का सम्बन्ध रहा, वह व्यवहारनय का विषय जाननेयोग्य रहा। समझ में आया ? भाई !

प्रसिद्ध मैं अन्तरात्मा-वह परम,... उत्कृष्ट स्वभावभाव, परम स्वभाव,

पारिणामिकभाव, ज्ञायकभाव, सामान्यभाव, सदृशभाव, अभेदभाव, वह मैं। ऐसा वेदन होने पर वह परमात्मा मैं हूँ। आहाहा! बैठना कठिन लोगों को। भगवान आत्मा? वस्तु स्वरूप वह भगवान है। भग अर्थात् ज्ञान और आनन्द, उसका वान अर्थात् स्वरूप है। ज्ञान और आनन्द जिसका स्वरूप, वह भगवान। आहाहा!

मेरे साथ परमात्मा का अभेद है। अर्थात् कि मेरी पर्याय में पूर्ण परमात्मस्वभाव का एकपना है, अभेद है। आहाहा! कठिन भाई ऐसा। सीधा आनन्द प्रगटे? कहते हैं, कुछ साधन-बाधन है दूसरा? यह साधन। मैं एक परम स्वरूप—ऐसा परमात्मा, वह अभेद है। अर्थात्? जो पर्याय, परमात्मस्वरूप हूँ—ऐसा जो अनुभव करती है, उस पर्याय के साथ द्रव्य अभेद है। समझ में आया? यह समाधिशतक भी सूक्ष्म है। एक-एक गाथा में आनन्द का अनुभव की ही व्याख्या सब की है। समाधि—सम्यग्दर्शन समाधि, सम्यग्ज्ञान समाधि, सम्यक्चारित्र समाधि। पूज्यपादस्वामी ने अपना अनुभव ही प्रसिद्ध किया है। समझ में आया?

इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासना करने योग्य... मैं परमात्मस्वरूप, ऐसी जो पर्याय से अभेद हुआ, वह मैं। अर्थात् मेरी पर्याय में मुझे आराधा है। आहाहा! पर्याय, वह उपासना करनेवाली और उपास्य अर्थात् मैं त्रिकाली वस्तु। आहाहा! समझ में आया? **मैं ही मेरे द्वारा उपासना करने योग्य...** हूँ। अर्थात्? मैं मेरे द्वारा, मेरी निर्मलदशा द्वारा **आराधना योग्य हूँ;...** मैं ही मेरे द्वारा। मेरे द्वारा अर्थात् कौन? कि शुद्धस्वरूप। शुद्धस्वरूप की परिणति (हुई), वह मेरे द्वारा। आहाहा! गजब! अपूर्ण क्षति है। ऐसा कहते थे न? उस यात्रा में नहीं? किसकी? लखनऊ के डॉ. ज्योतिप्रकाश। ... भवन ... परन्तु एक अपूर्ण क्षति है। अर्थात् कि व्रत, प्रत्याख्यान और चारित्र न कहे। अरे! भगवान! इसने चारित्र माना है कि इस देह से नग्न हुए... स्त्री-पुत्र छोड़कर बैठे, वह चारित्र हुआ कहलाये। धूल भी नहीं चारित्र।

आत्मा अन्दर ज्ञानस्वरूपी, आनन्दस्वरूपी मैं। वह मुझे मेरी पर्याय द्वारा उपासनेयोग्य मैं हूँ। मेरी पर्याय द्वारा। पर्याय है, वह उपासक है, आराधना करनेवाली है; आराधनेयोग्य मैं हूँ। आहाहा! ऐसी यह तो शुक्लध्यान की अवस्था की बात है, ऐसा

(वे) कहते हैं। ... ऐसा हो और व्यवहार नहीं... और सीधा अनुभव में स्थिरता चारित्र की (श्रेणी से) चढ़ा हो, वहाँ व्यवहार उसे जहर जैसा लगता है। ऐसा उसे जहर कहना। अरे! भगवान! प्रथम से ही जिसे पुण्य के भाव के प्रति प्रेम है, उसे जहर का प्रेम है। उसे पुण्य परिणाम से रहित भगवान अपना स्वरूप है, उसके प्रति उसे द्वेष है। आहाहा!

आराधना योग्य हूँ;... मैं ही मेरे द्वारा... मेरे द्वारा अर्थात्? आत्मा जिसकी निर्मल परिणति है। वह मेरे द्वारा उपासनेयोग्य है। आहाहा! समझ में आया? वहाँ भी उपासने का कहा न? (समयसार) ६वीं (गाथा)। आहाहा! परद्रव्य और उसके भाव। परद्रव्य के भाव, हों! रागादि नहीं। परद्रव्य और परद्रव्य के भाव का लक्ष्य छोड़कर और लक्ष्य स्वभावसन्मुख करे, तब उसे आत्मा की उसने उपासना की, ऐसा कहा जाता है। उसने आत्मा की सेवा की। उसने आत्मा को आराधन किया। आहाहा! समझ में आया? **'एवं भणंति सुद्धं'।** ऐसा कहा है न? उस वस्तु की ओर की उपासना। जो त्रिकाली आनन्द-स्वरूप, जिसमें पर्याय का अभाव, जिसमें चौदह गुणस्थान की पर्याय का अभाव, ऐसा जो स्वभावभाव, उसकी सेवा करने से। उसकी सेवा की अर्थात् उसे पर्याय में ख्याल आया कि यह शुद्ध का जो वेदन हुआ, वह पूरी चीज़ ही शुद्ध है। आनन्द का वेदन हुआ तो पूरी चीज़ ही आनन्द है। आहाहा! स्वरूप की स्थिरता के अंश का वेदन हुआ तो पूरी चीज़ ही चारित्रस्वरूप और स्थिरस्वरूप है। आहाहा! ऐसा धर्म कहाँ से निकाला? कहो, वजुभाई! ऐसा कभी सुना था कहीं? यह नया धर्म होगा?

पूज्यपादस्वामी भगवान के पास गये थे। इसकी प्रसिद्धि थोड़ी है। कुन्दकुन्दाचार्य गये थे, इसकी प्रसिद्धि विशेष... उन भगवान के पास जाकर आये, पश्चात् यह शास्त्र बनाया। भगवान तो ऐसा कहते थे। हमने ऐसा अनुभव किया तो था परन्तु भगवान के पास गये तब, उसके कारण नहीं, परन्तु हमारा जो ... होने का निर्मल भाव, भले विकल्प था, परन्तु निर्मल होने का भाव, उसके द्वारा हमें आत्मा का भान...

यह आराधन नहीं करते? कोई हनुमान का या कोई ... और कोई शिकोतर का। वहाँ कांप में ... अम्बाजी का अमुक का, पूछड़ा का। वढवाण में भी ऐसा। अम्बाजी का... बूटमाता होगी। बूटमाता वढवाण में। हम वहाँ थे तब। ... (संवत्) १९८२ में।

... बूट देवी नहीं? वढवाण। खबर है न। तब (संवत्) १९८२ का चौमासा वहाँ था। बहुत लोग। जैन आये, स्थानकवासी। वे लालचन्द... नहीं? ... भाई नहीं, वह तो विसाश्रीमाली दामनगर के पास है न? लालप के मीठाभाई। नाम भूल गये। मीठाभाई का एक लड़का जरा अस्थिर था। मीठालालजी लेकर आये। लोग ... हमारे पास आवे दर्शन करने। क्या है? कहा, लड़के को ऐसा हुआ तो मान्यता.. अरे! परन्तु तुम? सामायिक करनेवाले, प्रोषध करनेवाले, ... पाट में बैठनेवाले। ऐसा सुना था। ... ८२ के वर्ष की बात है। १८+३१=४९(वर्ष) हुए। उस समय साधारण, हों! अब पैसेवाला हुआ। ... बारह लड़के। मीठाभाई के पुत्र। पैसेवाले हैं। करोड़पति हैं। परन्तु तब साधारण (थे)। ...

मुमुक्षु : मान्यता मानी इसलिए....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं सुखी। ... तो उसके घर में पड़ा रहा। आहाहा! हमारे कुंवरजीभाई हैदरशाह को मानते थे। रोटियाँ भी नहीं था वहाँ लड़कों को। लिखते, हैदरशाह हाजराहजूर। ... अपने हैदरशाही नहीं होते। फिर पैसा हुआ। हैदरशाह को मानते थे। कुंवरजीभाई के पिता को रोटियों का भी ठिकाना नहीं था। गांडाभाई के पिता को। मनहर सूरत के पास अभी ३०-३५ लाख है। उसमें क्या धूल में? उसके साथ सम्बन्ध क्या? आहाहा!

'तू ही देव का देव, देवाधिदेव तो तू है' भाई! समझ में आया? तब कहा था। (संवत्) १९६३ के वर्ष की यह बात है। ६३। १७ वर्ष की उम्र थी। भाई ने डाला है न? ... 'शिवरमणी रमनार तू, तू ही देवनो देव।' तू देव का देव, तू देवाधिदेव है, भाई! आहाहा! अव्यक्तरूप से तब ऐसी छह (लाईन) हो गयी थी। समझ में आया? वह डायरी डूब गयी। दीक्षा ली तो डायरी तो कहीं साथ में ली नहीं जाती। फिर यह आया। भाई को कहा था। परन्तु डायरी डूब गयी। तालाब का पानी बहुत आया। ... पानी बहुत आवे। हम थे तब दुकान में.. तक आवे। गाँव में। फिर बहुत आया था। आहाहा! तू स्वयं देवाधिदेव है, भाई! उसे तू आराध। आराध अर्थात्? उस ओर सन्मुख होकर उसमें लीन हो। इसका नाम आराधना है।

आराधना योग्य हूँ;... मैं मुझे आराधनेयोग्य हूँ। तो यह भगवान अरिहन्त और सिद्ध कहाँ गये ? कहाँ गये क्या, उनमें वे हैं। **अन्य कोई मेरे द्वारा उपासनेयोग्य नहीं है...** अस्ति-नास्ति की है। ज्ञायकस्वभाव। ज्ञानप्रधान से कथन किया है। बाकी आनन्द स्वभाव, शान्त... शान्त... शान्तस्वभाव, वह चारित्र है। ऐसा जो स्वभाव-वस्तु, वह मुझे मेरे द्वारा आराधे। मेरे द्वारा अर्थात् राग नहीं। देव-गुरु को आराधनेयोग्य, यह तो सब व्यवहार हो गया। आहाहा! समझ में आया ? परन्तु इस दुनिया में बाहर में मजा आवे। पचास-पचास लाख हो, मैं चौड़ा और गली सकड़ी। मंजिलवाले मकान ... हमारे आठ लड़के हैं, आठ बँगले बनाने हैं। अरे! भगवान! क्या हुआ तुझे ? कहाँ जाना है तुझे ? तेरा धाम छोड़कर अन्यत्र जाना है ? आहाहा!

मैं एक वस्तु हूँ। वह परम स्वभावभाव, परमभाव, परमभाव पारिणामिकभाव, ऐसी भाषा। परमभाव, पारिणामिकभाव, ध्रुवभाव, नित्यभाव, ज्ञायकभाव। वह मेरे द्वारा आराधनेयोग्य है। मेरे द्वारा अर्थात् विकल्प नहीं ऐसा। निर्मलदशा द्वारा, निर्मल प्रभु को सेवन करनेयोग्य है। आहाहा! कठिन बातें, भाई! दूसरे किसी द्वारा उपासना करनेयोग्य नहीं। **ऐसी स्थिति है अर्थात् ऐसा स्वरूप ही है। ऐसी आराध्य-आराधक की व्यवस्था है।** आराध्य और आराधक। आराधनायोग्य आत्मा; आराधना करनेवाली निर्मल पर्याय। आहाहा! शुद्ध उपयोग। शुद्ध उपयोग द्वारा मैं आराधनायोग्य हूँ। कहे कि, इससे कोई दूसरा हल्का मार्ग होगा या नहीं ? यह तो कठिन मार्ग है। यह हल्का कहो या कठिन कहो, मार्ग तो यह है। आहाहा!

तीन लोक का नाथ आनन्द के रस से भरपूर। पहले वे लड़के खेलते थे न ? तब गाते। नहीं ? मामा का घर कितना ? दीपक जले उतना। ऐसा नहीं कहते ? तुम्हारे था वहाँ ? खेलने में होगा। दूसरा कुछ होगा। खेलते-खेलते लड़के कहें, मामा का घर कितना ? दूसरी भाषा होगी। सर्वत्र होता है। ... सब जाति एक ही होती है। दीपक जले उतना। इसी प्रकार आत्मा का घर कैसा ? चैतन्य जले उतना। आहाहा! चैतन्य जो जीवन्त जलहल ज्योति, जीवन प्राण के भावप्राण से जीवित चैतन्यज्योति, वहाँ तेरा घर है।

माता कही है न ? प्रवचन माता। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और समिति, गुप्ति

आदि है, उसे प्रवचन माता कही है। वह माता अर्थात् निर्मलदशा। वह माता। उसका आश्रय भगवान आत्मा पर जाता है। लाख बात की बात, बारह अंग का सार। उसमें तो आया है, हों! वह पुस्तक बनायी है न भाई ने? ... श्रीमद् की। सत्पुरुष के एक-एक वाक्य में अनन्त आगम भरे हैं। किसी ने निकाला था वहाँ। यह रामजीभाई ने लिखा था न। ... श्रीमद् राजचन्द्र।

मुमुक्षु : सौ वर्ष की यादगिरी।

पूज्य गुरुदेवश्री : पत्र कौन सा? २७५ पृष्ठ? बड़े का या छोटा? बड़े का। यह निकाला था। यहाँ तो यह पुस्तक है।

मुमुक्षु : २४वाँ वर्ष है।

पूज्य गुरुदेवश्री : २४। एक-एक वाक्य में अनन्त आगम है। ... सार में सार कहना है वह यह। स्वरूप का आराधन करना, वह बारह अंग में कहने का आशय है। आहाहा! आराधन करने का ... स्वसन्मुख होना, वह पर्याय। जिसके सन्मुख होती है, वह द्रव्य। समझ में आया? और वह भी निर्मल पर्याय, वह स्वसन्मुख होती है। राग की पर्याय स्वसन्मुख नहीं हो सकती। आहाहा! राग पराश्रय, निश्चय स्वाश्रय। स्वाश्रय करे वह स्वसन्मुख होता है। आहाहा! समझ में आया?

यह कहा है न उसमें? नहीं? कलशटीका में। बारह अंग भी विकल्पज्ञान है। बारह अंग में कहा है यह—अनुभूति करना। बारह अंग में कहा है यह भगवान ने। अर्थात् कि जैसा आराधनयोग्य आत्मा है, उसे पर्याय से आराधन किया है। आहाहा! यह बारह अंग में अनुभव का, उसका अनुभव करना। आहाहा! यह बारह अंग का कथन है। बारह अंग में यह है। आहाहा! **ऐसी आराध्य-आराधक की व्यवस्था है।**

भावार्थ - अन्तरात्मा विचारता है कि 'मेरा अन्तरात्मा,... मेरा प्रभु **स्वसंवेदन से प्रसिद्ध है;...** विकल्प में ज्ञात हो—प्रसिद्ध हो, ऐसा नहीं। ऐसा कहते हैं। आहाहा! निर्विकल्प सम्यग्दर्शन से वह प्रसिद्धि पावे, ऐसा आत्मा है। आहाहा! यह निर्विकल्प क्या और... ? **'मेरा अन्तरात्मा, स्वसंवेदन से प्रसिद्ध है; वास्तव में वह अरहन्त और सिद्ध के समान है...** लो! परमात्मा कहा न स्वयं। मैं परमात्मा हूँ। परम आत्मा, परम

आत्मा, परम स्वरूप आत्मा। परम स्वरूप जिसका उत्कृष्ट वीतरागमूर्ति ध्रुव, वह मैं परमात्मा हूँ। वह स्वसंवेदन से प्रसिद्ध है। अन्तर्मुख की दृष्टि से वह प्रसिद्ध है। बहिर्मुख के विकल्प से वह प्रसिद्धि पावे, ऐसा है नहीं। आहाहा! व्यवहार... ऐसा है और वैसा है। ... बहुत चला था। अभूतार्थ और असत्यार्थ और... पहली ही भूल है उसमें। अभूतार्थ कहो या असत्यार्थ कहो, एक ही है। अब वह....

अरिहन्त और सिद्ध समान परमात्मा है। **उसको अभेदपने उपासना करने से,...** किसकी? आत्मा की। **अभेदपने उपासना करने से, मैं स्वयं ही परमात्मा हो सकूँ, वैसा है;...** आहाहा! मुझे मेरे द्वारा सेवन से करने से मैं परमात्मा हो सकता हूँ। इसलिए मैं ही मेरा शुद्धात्मा ही मुझे स्वयं को उपास्य हूँ। त्रिकाली ध्रुव स्वभाव ही मुझे सेवनयोग्य है। आहाहा! इसमें कहाँ भगवान की सेवा, मूर्ति और पूजा आया? वह तो जब शुभराग हो, तब उस पर लक्ष्य जाता है। वीतराग हुआ नहीं, इसलिए उसे वह राग आता है। दृष्टि में सेवनयोग्य मैं हूँ, ऐसा होने पर भी, व्यवहार का शुभभाव आता है, भगवान आराधनेयोग्य है ... आहाहा! तथापि यह भेदबुद्धि उत्पन्न हुई, वह साधन नहीं है। आहाहा! बीच में आता है। समझ में आया? वह न ही हो तो उसे व्यवहार खड़ा होता है, इसकी उसे खबर नहीं। और उससे आत्मा में जाया जाये तो उसे आत्मा की सेवा कैसे करनी, इसकी खबर नहीं। आहाहा! समझ में आया?

अन्य कोई उपासना करनेयोग्य नहीं है। मुझे तो अरिहन्त और सिद्ध समान मेरा स्वरूप है तो मैं स्वयं सेवनयोग्य हूँ, सेवा करनेवाला भी मैं और सेवा योग्य भी मैं। आहाहा! मुझे कोई अरिहन्त और सिद्ध भी सेवायोग्य नहीं है। **मैं स्वयं ही उपास्य और उपासक हूँ।** उपास्य अर्थात् सेवा करनेयोग्य। उपासक अर्थात् सेवा करनेवाला। उपासक। क—सेवा करनेवाला। मैं स्वयं उपासक और मैं उपास्य। ... जो आत्मा है, ऐसा जाना उसमें है कहाँ आया? फिर मोक्ष का उपाय होगा, ऐसा लिखा है न! प्रतीति होगी बाद में, उसने पहले आत्मा है, ऐसा जाना। समझ में आया? इस अपेक्षा से व्यवहार की बात की है।

यहाँ कहा न यह कि अरिहन्त के द्रव्य, गुण, पर्याय को जाने, वह आत्मा को

(जानता है)। ऐसी शैली है। नहीं तो आत्मा है। जैसा है, वैसा कब ज्ञात हो? सम्यग्दर्शन में ज्ञात हो, सम्यग्ज्ञान में ज्ञात हो। यहाँ तो अभी ... सम्यग्दर्शन, ज्ञान तो हुआ नहीं। सहज प्रतीतिरूप, ऐसा आया है न? 'होगी मोक्ष उपाय की सहज प्रतीति रूप।' अपेक्षा से बात है। आहाहा! यह तो आया न? जैसे अरिहन्त के द्रव्य, गुण, पर्याय जाने। और वे पाँच बोल जाने। आहाहा!

इसीलिए तो कहा न छठवीं गाथा में। उपासित होता हुआ, तब उसने आत्मा जाना, उसे माना कहलाता है। आहाहा! आत्मा है, ऐसा तो अभव्य को भी ग्यारह अंग में आ जाता है। उन्होंने उसमें यह डाला, वह अभव्य के लिये है। भोग के लिये... ऐसा है न? भव्य को नहीं। जिसे भोग के लिये नहीं, उसके व्रत, तप आदि साधन है, ऐसा (वे) कहते हैं। अरे रे! आहाहा! व्यवहार असत् है, झूठा है, ऐसा नहीं। साधन भी झूठा है। साधन कब (था)? जो-जो वहाँ साधन, वे-वे वहाँ बाधक है। आहाहा! यह वाद-विवाद करे, उसे यह बैठे नहीं।

वहाँ अलिंगग्रहण में तो ऐसा कहा, अपने स्वभाव से ज्ञात हो, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। राग से ज्ञात हो, पर को जाना; इसलिए ज्ञात हो (—ऐसा नहीं है)। आहाहा! कितने ही इसका अर्थ ऐसा करते हैं कि जो अरिहन्त के द्रव्य, गुण, पर्याय को जाने तो ज्ञात हो। आहाहा! ऐसे आत्मा है, नित्य, कर्ता, भोक्ता के (छह पद को) जाना, इसलिए मोक्ष उपाय या सम्यग्दर्शन होगा, यह बात भी व्यवहार से बात की है। आहाहा! और वह अपने स्वभाव से जाने, उसमें पर की अपेक्षा है ही नहीं। पाँच प्रकार के ज्ञान या अरिहन्त के द्रव्य-गुण का ज्ञान, उसकी अपेक्षा थी तो सम्यग्दर्शन हुआ, ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है। आहाहा! समझ में आया? अरे! ऐसा कठिन। यही कहा न? देखो!

जो (अरिहन्त के) द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, वह वास्तव में आत्मा को जानता है। यहाँ तो ऐसा लिया। 'जो जानता अरिहन्त को गुण, द्रव्य अरु पर्यायपने, वह जीव जाने आत्म को...' ऐसा आया, लो। पर का ज्ञान करे, उसे स्व का ज्ञान होता है। कथनशैली (ऐसी)। वहाँ कहते हैं कि आत्मा ज्ञात हो, वह अपने स्वभाव से ज्ञात होता है। पर को जाना, इसलिए यहाँ ज्ञात होता है, ऐसा स्वरूप नहीं है। आहाहा! वस्तु की

स्थिति ऐसी नहीं है। आहाहा! भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसे जहाँ स्वभाव का स्वीकार पर्याय में आया, उस पर्याय द्वारा सेवन किया गया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! भारी कठिन। कठिन बात। अभी चले क्रियाकाण्ड न! उन लोगों को बहुत कठिन लगे। पूरा-पूरा (कठिन लगे)। सच्ची बात है। पूरा-पूरा यही सच्चा है। आहाहा!

वहाँ आया है न? अपने स्वभाव से ज्ञात हो, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता स्वरूप ही ऐसा है। उसका स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा! दूसरे प्रकार से राग की क्रिया और दया, दान, व्रत और भक्ति की क्रिया से ज्ञात हो, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। हो भले। पूर्ण वीतराग न हो, तब तक हो भले। (परन्तु) उससे अन्दर ज्ञात हो, (ऐसा नहीं है)। क्योंकि उसकी दिशा फेर और इसकी दिशा फेर है। अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय तो परलक्ष्य से ज्ञात होते हैं और परलक्ष्य में यह आया, इसलिए स्वलक्ष्य में जायेगा? पश्चिम में जरा जाये, फिर पूर्व में जाये। ऐसा? अरे! कठिन बातें।

यहाँ तो कहते हैं, ऐसा जीव लिया है कि जिसे अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय जानने में आये। वह जीव ही सीधा गुलाँट खा जाता है। मेरा स्वभाव भी इतना और ऐसा ही है। ऐसी जो गुलाँट खाता है, उसने अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय जाने अथवा आत्मा जाना, ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

वास्तव में आत्मा को जानता है क्योंकि दोनों में निश्चय से कोई अन्तर नहीं है। अरिहन्त का स्वरूप और आत्मा का स्वरूप, दोनों में अन्तर नहीं है। इसलिए अन्दर जाने के लिये ... समझ में आया? जो अन्तर में जाना चाहता है, उसे यह अरिहन्त के द्रव्य, गुण, पर्याय जानने का निमित्त कहा जाता है। आहाहा! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष शुक्ल ७, शनिवार, दिनांक १९-१-१९७५, श्लोक-३१-३२, प्रवचन-४०

३१वीं गाथा। इसके विशेष का पैराग्राफ है। **जब अन्तरात्मा,...** अन्तरात्मा अर्थात् शुद्ध चैतन्यघन आनन्दस्वरूप **अपने को सिद्धसमान...** स्वयं सिद्धस्वरूपी है, ऐसा जानकर **बुद्ध...** वह ज्ञान का पिण्ड है, अकेला ज्ञायकस्वभाव है। **और ज्ञाता-दृष्टारूप अनुभव करता है...** मैं एक जाननेवाला-देखनेवाला हूँ, शुद्ध पवित्र हूँ, दर्शन-ज्ञान से भरपूर मेरा स्वभाव है, ऐसा जब आत्मा अन्तर्मुख होकर आत्मा की सेवा करता है। भगवान की सेवा करनेवाला सेवक हूँ, यह तो विकल्प है। आहाहा! तीर्थंकर सर्वज्ञ परमात्मा, वे उपास्य-सेवा करनेयोग्य है और मैं सेवक हूँ—सेवा करनेवाला हूँ, यह तो विकल्प है। आहाहा! यह धर्म नहीं। मैं स्वयं ही शुद्ध, बुद्ध सिद्ध परमात्मस्वरूप भरपूर पदार्थ, वह मुझे उपास्य है और मैं उसका उपासक हूँ। समझ में आया?

और अभेदभावना के बल से... शुद्ध चैतन्यस्वभाव से भरपूर मैं अकेला ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाववाला हूँ। ऐसी अभेद **भावना के बल से...** भावना शब्द से एकाग्रता। **शुद्धात्मा में तन्मय हो जाता है,...** शुद्धस्वरूप में लीन हो जाता है, **तब वह सर्व कर्मबन्धन से मुक्त होकर परमात्मा बन जाता है;...** बहुत संक्षिप्त बात की है। कहते हैं कि तुझे परमात्मा होना हो, पर्याय में-अवस्था में अरिहन्तपद को प्राप्त करना हो... आहाहा! वह तेरा अरिहन्तस्वरूप अन्दर है। अकेला शुद्ध ज्ञान, आनन्द का कन्द वह है। ऐसी अभेदबुद्धि से स्वरूप का सेवन करने से तन्मय हो जाए, तब सर्व बन्धन से मुक्त होकर परमात्मा बन जाता है। आहाहा! बहुत संक्षिप्त में यह मुद्दे की रकम है।

इसीलिए स्वयं उपासक और अपना शुद्धात्मस्वरूप उपास्य... वीतराग त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि तू उपासक और मैं उपास्य, यह तो विकल्प है, यह तो राग है। समझ में आया? आहाहा! तू उपास्य और तू उपासक। तेरा स्वरूप शुद्ध पवित्र बुद्ध आनन्दकन्द, परमस्वरूप परमात्मस्वरूप ही तू है। स्वभाव से-शक्ति से-गुण से वह परमस्वरूप ही है। परमपारिणामिकस्वभाव। वह शुद्धात्मा उपास्य है, सेवा करनेयोग्य है और उसकी निर्मल पर्याय, वह उपासक है। ...भाई! बहुत कठिन बात। वीतरागमार्ग ऐसा है।

यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकर को प्रगट हुआ और देखा, जाना कि यह वस्तु है। तुझे यदि धर्म करना हो और परमात्मा अर्थात् सिद्धपना यदि प्रगट करना हो तो तेरा स्वरूप ही सेवन योग्य है। ऐ... पोपटभाई! अन्तर की सेवना में वह न रह सके, तब उसे विकल्प आवे। भगवान की भक्ति आदि का, वह सब पुण्यबन्ध का कारण है, ऐसी बात है।

श्रोता : पुण्य करते-करते धर्म होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य करते करते होगा? राग करते-करते संसार नाश होगा? राग को छोड़ते हुए होगा। आहाहा! मार्ग ऐसा सूक्ष्म है, प्रभु!

'**समाहिवरमुत्तमं दिंतु**' नहीं आता? ...भाई! लोगस्स में आता है। '**समाहिवरमुत्तमं दिंतु**' लोगस्स में आता है न? '**लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे...**' नहीं किया होगा। सामायिक में आता है। '**लोगस्स उज्जोअगरे,**' लोक में उद्योत के करनेवाले तीर्थंकरदेव। लोगस्स अर्थात् लोक की स्तुति—परमात्मा की। उसमें पाँचवाँ पाठ है, सामायिक में। पहला णमो अरिहंताणं, दूसरा .... तीसरा इच्छामि, चौथा... पाँचवाँ लोगस्स, छठवाँ... सातवाँ नमोत्थुणं। यह तो ७५ वर्ष पहले किया था। दस वर्ष की उम्र में। आहाहा! उसमें यह पहाड़े गिने। कुछ खबर नहीं। आहा!

कहते हैं कि '**समाहिवर**' अर्थात् उत्तम मेरा स्वभाव जो समाधिस्वरूप है। आनन्द है। समाधि अर्थात् आनन्द। वह आनन्दस्वरूप ही मेरा सेवन करने योग्य मुझे है, आहाहा! और मैं उसके निर्मल पर्याय द्वारा उसका सेवक हूँ। राग और विकल्प से नहीं। आहाहा! अरे! जिन्दगी चली जाती है। आँखें बन्द करके कहाँ जाएगा? राग में रहेगा तो भटकना पड़ेगा, रात्रि में कहा था। विकल्प जो है, दया, दान, व्रतादि का, उसमें यदि दृष्टि रहेगी तो राग में रहने से भटकना पड़ेगा। यह भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु, इसकी सेवा करनेवाली पर्याय निर्मल... आहाहा! विकल्प वह नहीं।

शुद्धस्वभाव से भरपूर 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुखधाम' श्रीमद् में आता है। 'दूसरा कितना कहें कर विचार तो पाम।' आहाहा! विचार का अर्थ वह साधक पर्याय। मौजूद है। परमात्मशक्ति से भरपूर प्रभु को शक्ति और शक्तिवाला, वैसा

भेद करना, वह भी व्यवहारनय का विकल्प है। आहाहा! समझ में आया? आनन्दस्वरूप हूँ, आनन्दवाला हूँ—ऐसा भी भेद है, वह भी एक विकल्प अर्थात् राग की वृत्ति है। मैं एक शुद्ध ज्ञानानन्द हूँ, उसकी ओर के झुकाव से जो निर्मल अवस्था हो, उस निर्मल अवस्था द्वारा मैं निर्मल अवस्था-उपासक हूँ, वस्तु मेरी उपास्य है। आहाहा! समझ में आया? ओहोहो!

तू देव का देव है। पाँचों पद तेरे स्वरूप में पड़े हैं। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु यह निर्मलदशा का स्वरूप है। कोई नग्नपना या पंच महाव्रत के विकल्प, वह उसका स्वरूप नहीं। आहाहा! आत्मा की निर्मल पूर्ण और अपूर्ण दशा के पाँच पद हैं। पूर्ण दशा अरिहन्त और सिद्ध। आचार्य, उपाध्याय और साधु, यह स्वरूप की शुद्धता की सेवा करने में जिनकी निर्मल दशा रागरहित, वीतरागी पर्याय निर्ग्रन्थपना प्रगट हुआ है, वह स्वयं सेवक है, वस्तु सेव्य है। आहाहा! ऐसा मार्ग भगवान का लोगों को कठिन पड़े, सुना नहीं न!

तू जिसकी सेवा करना चाहता है, वह पूर्ण वस्तु है या नहीं और वह तू है या नहीं? समझ में आया? तू वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा की सेवा करना चाहे तो वह तो परवस्तु है। वह पूर्ण रूप तेरा वहाँ है? तुझमें है। ऐसा जो शुद्धस्वभाव, ज्ञाता-दृष्टा और मैं ही वह हूँ, ऐसी जो शुद्धदशा, वह आराधक है; आराध्य वह त्रिकाली भगवान है। आहाहा! लोगों को बेचारों को ऐसे चढ़ा दिये... जिन्दगी चली जाए। सफल न हो, अफल जिन्दगी जाए। आहाहा! ...वस्तु का भान होकर शुद्ध... होने पर पूर्ण अन्तर में लीन न हो, तब तक उसे भक्ति का, पूजा का ऐसा विकल्प आता है, परन्तु आता है, वह बन्ध का कारण है। वह तो पाप के भाव से बचनेमात्र बात है, वह धर्म नहीं है। आहाहा! कहते हैं न?

ऐसा समझकर... अर्थात् क्या? मैं एक उपासक हूँ और मैं अपना शुद्धात्मस्वरूप उपास्य है। आहाहा! **ऐसा समझकर...** पहले उसका ज्ञान तो कर, कहते हैं। ऐसा **निर्णय करके, अन्तर्मुख होकर,...** यह चारित्र हुआ। पूर्ण शुद्ध चैतन्य अकेला वीतरागरसस्वरूप से भरपूर भगवान है। वह वीतरागता जो पर्याय में आती है, वह कहाँ

से आती है ? बाहर से आवे ऐसा है ? आहाहा! वीतरागरस कहो या अकषायस्वभाव कहो या नित्य चारित्रस्वभाव कहो! ऐसा जो भगवान पूर्ण चारित्र की शान्ति से भरपूर, वह मुझे उपास्य अर्थात् सेवनयोग्य है और मेरी परिणति निर्मल, वह उसकी सेवक है। भगवान मुझे सेवनयोग्य है। और मैं सेवक हूँ, तब तक तो विकल्प है और पुण्य का कारण है। समझ में आया ? ऐसी चीज़ है। लोगों को बेचारों को मिलती नहीं। जैन में जन्मा हो तो भी जैनपना वीतराग किसे कहते हैं, (यह समझे) बिना जिन्दगी जाती है, भाई!

ऐसा समझकर... अर्थात् ? मैं नित्यानन्द रस, नित्य रस, शान्तरस, निर्विकल्प रस से भरपूर पदार्थ हूँ। वह मुझे सेवनयोग्य है, परन्तु उसका ज्ञान न हो तो किस प्रकार करना ? तो पहले ज्ञान कर। आहाहा! यह वस्तु है, वह पूर्ण है, ध्रुव है। नित्यानन्द सहजानन्द की मूर्ति है। आहाहा! परसों कहा था। नहीं ? चार सज्झायमाला है। श्वेताम्बर में चार सज्झायमाला है। एक-एक सज्झायमाला में २५०-२५० सज्झाय है। दुकान पर पढ़ी थी। (संवत्) १९६३-६४ की बात है। संवत् ६४-६५। पहले से संस्कार थे न! पिताजी की घर की दुकान थी इसलिए... अपना थोड़ा-थोड़ा निवृत्ति से करते थे। दूसरे नहीं मिलते। उसमें—सज्झामाला में एक आया था। कहा था परसों

सहजानन्दी रे आत्मा... सहजानन्दी रे आत्मा
सूतो कंई निश्चिन्त रे... मोह तणा रे रळिथा भमे...

मिथ्यात्व-परसन्मुख की वृत्तियाँ सिर पर चोर भ्रमते हैं।

जाग-जाग मतिवन्त रे, लूटे जगतनां जन्त रे।

हम पुत्र हैं, तुम्हारे घर में आये हैं। हमारा ध्यान नहीं रखो तो... यह जगत के जीव लूटते हैं। स्त्री कहती है, किसलिए हाथ पकड़ा था ? ...सब करना पड़ेगा। शान्ति रखना, हों! ... ऐसा कहते हैं। आहाहा! राजा की रानियाँ राजा को कहती हैं। ऐसा सुना हुआ है। आहाहा! कहते हैं, 'नाखी वांक अनंत रे... कोई विरला उगरंत रे...' आहाहा! आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसमें प्रवेश करने के लिये कोई ... हो जाएगा ? आहाहा! भाई! मेरा आहार तो अन्दर है। आनन्द का आहार लेने के लिये मैं तो निवृत्ति लेता हूँ। समझ में आया ?

राज के राजकुमार हों, आठ-आठ, दस वर्ष की उम्र हो परन्तु अन्दर में प्याला देखा। ओहो! यह आत्मा तो निर्विकल्प आनन्द का रस है!! इसे शुभ-अशुभ क्रिया के राग के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, तो फिर यह शरीर और स्त्री और पुत्र का उसे सम्बन्ध है नहीं। ... आहाहा! गुण-गुणी का सम्बन्ध भी व्यवहारनय का विषय है, वस्तु का नहीं। आहाहा! पर के साथ सम्बन्ध की तो बात ही क्या करना! राग को जीव का सम्बन्ध, यह भी असद्भूत व्यवहारनय से है, झूठा है। आहाहा! (असद्भूत) अनुपचार है और यह पर के साथ, स्त्री, पुत्र के साथ सम्बन्ध वह तो असद्भूत उपचार है, झूठा ... है। आहाहा! समझ में आया? मेरा स्वभाव चैतन्यमूर्ति और मैं आनन्दवाला, ऐसा भेद सम्बन्ध भी व्यवहार है, कहते हैं। आहाहा! मैं तो अभेद चैतन्यमूर्ति हूँ। आहाहा! यह राजकुमार दीक्षित हो। ... है न? चरणानुयोग (सूचक चूलिका) में। प्रवचनसार में। दीक्षा लेते समय आज्ञा माँगता है—हे स्त्री! तू शरीर को रमानेवाली है, मुझे नहीं। मैं तो आत्मा हूँ। अब मुझे आज्ञा दे। मैं छूटना चाहता हूँ।

मुमुक्षु : शरीर नहीं रहे तो धर्म कैसे होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर कहाँ था वह... ? पुण्य के भाव से धर्म नहीं। शरीर तो जड़-मिट्टी-धूल है यह तो। आहाहा! सवेरे तो कितना आया था! बहुत!

भगवान त्रिलोकनाथ... वस्तु है, द्रव्य—छह पदार्थ भगवान ने देखे हुए हैं। छह द्रव्य हैं। आत्मा, पुद्गल, काल, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश—छह भगवान ने देखे और ऐसे ही हैं। ओहो! यह छह द्रव्य की जो वर्तमान पर्याय... गजब बात, भाई! और वह उसके काल में हो, स्वकाल में हो। ऐसा कहकर भी छह द्रव्य का... समय की पर्याय उस काल की वह होती है। उस पर्याय को भी... उत्पत्ति का कारण द्रव्य-गुण भी नहीं। आहाहा! लोक, अलोक, छह द्रव्य की वर्तमान पर्याय, उस-उस काल की वह-वह पर्याय उसी काल में वही होनेवाली है, ऐसी ही वह पर्याय, वह पर्याय स्वयं से है और द्रव्य-गुण से नहीं। सर्वज्ञ के अतिरिक्त यह बात कहीं नहीं होती। समझ में आया? आहाहा!

छह वस्तु और एक-एक वस्तु में अनन्त गुण। अक्रम से साथ रहे हुए और उनकी पर्याय—अवस्था क्रमसर होती है और क्रमसार में जिस समय में जो पर्याय होनी

है, वही उसके काल का, उस-उस काल की अस्ति है। ऐसी अस्तिवाली दया, फिर भले रागवाली हो, धर्मवाली हो, समकिती हो (और) साथ में राग भी हो, पूर्ण न हो तो, तथापि वह पर्याय... आहाहा! स्वयं से है और पर से नहीं। आहाहा! क्योंकि सत् का अंश है।

जड़ में भी जो पर्याय जिस समय में जो होती है, वह भी उस सत् का अंश है, वह सत् है। आहाहा! द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्याय सत्। सत् का यह विस्तार है और आनन्दद्रव्य, आनन्दगुण, आनन्दपर्याय का विस्तार है। भगवान आनन्द द्रव्य—वस्तु, आनन्दगुण—शक्ति, आनन्दपर्याय—यह आनन्द तीनों में व्याप्त है। आहाहा! आनन्द वस्तु, आनन्द गुण और आनन्द पर्याय, यह आनन्द का विस्तार है। समझ में आया? आहाहा! उसमें भी यह आनन्द की पर्याय का जो काल है, उस काल में वह दशा होती है। उसे पर से नास्ति है और स्व से अस्ति है। वह धर्म की पर्याय प्रगट करने में भले सत् वस्तु का आश्रय हो, त्रिकाली भगवान परमात्मस्वरूप है, उसका आश्रय हो; होने पर भी... आहाहा! उस धर्म की-आनन्द की पर्याय को स्व से अस्ति और पर से नास्ति है। आहाहा! गजब काम किया है न परन्तु! अरे! ऐसी वस्तु की स्थिति है।

जो वस्तु की मर्यादा भगवान ने कही, उसे न जाने तो कहते हैं, पहले समझकर... आहाहा! पश्चात् निर्णय करके, पश्चात् अन्तर्मुख होकर। आहाहा! भोगीभाई! वहाँ कहीं तुम्हारी मिल में भी नहीं मिले और वहाँ अन्यत्र सम्प्रदाय में मिले, ऐसा भी यह नहीं है। यह तो... कैसे? बल्लभभाई! भाई को पूछा। आहाहा! बल्लभभाई को बहुत रस था। आहाहा!

कहते हैं, धर्म की पर्याय का काल है, धर्म की पर्याय का उत्पत्ति काल। उस उत्पत्ति काल की पर्याय उसे—उत्पाद को कषाय की मन्दता की नास्ति, द्रव्य-गुण की उसमें नास्ति। आहाहा! एक समय की एक पर्याय में अनन्त सप्तभंगी। अनन्त सप्तभंगी! एक पर्याय है, वह दूसरी पर्यायरूप नहीं है, उसकी सप्तभंगी; एक पर्याय है, वह गुणरूप नहीं, उसकी सप्तभंगी; ऐसे अनन्त गुणरूप नहीं, ऐसी सप्तभंगी। आहाहा! बड़ा समुद्र पड़ा है। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, यह है इस प्रकार और पर्याय में स्व काल में होता है परन्तु

इसकी नजर कहाँ होती है ?—नजर द्रव्य पर जाती है। समझ में आया ? यह उपासना करनेवाले की पर्याय... भाई ! उपासना करनेवाले की पर्याय तो स्वकाल में ही होती है। आहाहा ! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो वीतरागी पर्याय हुई। सम्यग्दर्शन कहीं राग नहीं कि भगवान को माना है ऐसा (नहीं)... आनन्दघनजी कहते हैं, 'निर्विकल्प रस पीजिये...' आनन्दघनजी में आता है। निर्विकल्प यह—रागरहित आत्मा, इसकी उपासना करनेवाली निर्मल दशा। उसका रस पीवे। उसके रस का प्याला पी। यह कब होगा ?—कि उसकी जो निर्विकल्प पर्याय प्रगट हुई, उसके स्वकाल में। उस पर्याय में द्रव्य की भी जिसमें नास्ति, गुण की नास्ति, राग की नास्ति, अनन्त परद्रव्य की नास्ति। आहाहा ! ऐसी जो उसकी निर्णयदशा, वह द्रव्य के लक्ष्य से होती है। भले उस काल में वह होती है, परन्तु उस काल की उत्पत्ति इस काल में यह... इसका निर्णय द्रव्यसन्मुख हो, तब इसे सच्चा होता है। आहाहा ! और द्रव्यसन्मुख हुआ, उसे ही ऐसी पर्याय होती है। समझ में आया ? भाई ! यह तो वीतराग मार्ग, बापू ! बहुत सूक्ष्म। आहाहा !

उस समय में मोक्ष का कारण, मोक्षमार्ग मोक्ष का मार्ग। यह यहाँ कहा न ? उपासक और मैं उपास्य। अब उपासक तो पर्याय है। वस्तु तो उपास्य है। अब उपासक पर्याय का सिद्धान्त तो यह था कि उस समय में वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय का स्वकाल है, वहाँ वह होती है। आहाहा ! परन्तु कैसे होती है ? और उसका सच्चा निर्णय किसे होता है ? आहा ! भाई ! मार्ग अलग, बापू ! अभी तो बिखर गया, बहुत बिखर गया और सच्चे मार्ग को (चोर) कोतवाल को दण्डे। ऐसा हो गया है। सच्चे मार्ग को कहते हैं, यह एकान्त है... यह एकान्त है। अधिक चोर हो तो मारे पुलिस को मारते हैं न। हड्डियाँ तोड़ डाले पुलिस की। आहाहा !

भाई ! तुझे कमाई करनी है ? तो धन्धा किया करने से कमाई होगी ? भग अर्थात् आनन्द और ज्ञान की लक्ष्मी को... भग-वान, उसका स्वरूप यह है। आहाहा ! अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन आदि लक्ष्मी का भण्डार वह आत्मा है। वह उपास्य है। जिसे आत्मा के मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगटी है, उस पर्याय द्वारा उपास्य वह चीज़ है। आहाहा ! ... मोक्ष का मार्ग प्रगटे, वह उसके स्वकाल में होता है। वह स्वकाल में आ गया, भाई ! स्वकाल में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र त्रिकाली... जो आत्मा, उसके लक्ष्य से उत्पन्न

हुआ, वह उत्पन्न हुई पर्याय स्व से है और द्रव्य-गुण से नहीं; स्व से है और राग से नहीं; स्व से है और देव-गुरु-शास्त्र से नहीं। आहाहा!

यहाँ तो उपासक आया न! उपासक तो पर्याय है। समझ में आया? और उपास्य है, वह तो वस्तु है। ... जो उसका जन्मक्षण है, उत्पत्ति काल है, उस पर्याय का जन्म अर्थात् उत्पत्ति काल है, उस काल में उत्पन्न होती है। अब वह उस काल में उत्पन्न होती है, इसका सच्चा निर्णय किसे होता है? और किसकी ओर झुकने से वह उपासकपना प्रगट होता है? आहाहा! ज्ञान और आनन्द के स्वभाव से भरपूर प्रभु है। आहाहा! उसकी ओर झुकने से उस काल में हो भले परन्तु उस काल में इस काल में यह होती है, उस पर्याय में भले द्रव्य-गुण की नास्ति, पर की नास्ति है। क्योंकि पर्याय और द्रव्य दोनों भिन्न पड़ गये। सेवा करनेवाली निर्मल पर्याय और सेवनयोग्य है ध्रुव। आहाहा! समझ में आया? मनसुखभाई! ऐसा... मार्ग है। मुश्किल ... वहाँ दूसरी विपरीतता में उलझ जाए। जगत को कुछ क्या हो! आहाहा! ... गाँधी के मकान के नीचे, नहीं थे? वढवाण... वढवाण। बाहर गाँधी के मकान में। ... स्वामीनारायण के मन्दिर के पीछे। वहाँ उतरे थे। तब एक आया था। .... 'करी ले ने आतमनी ओळखाणी, एक दिन जावुं छे निरवाणी...' ऐसा गाता था। मैं ऊपर सो रहा था। ... 'करी ले ने आतमनी ओळखाणी, एक दिन जावुं छे निरवाणी...' एक दिन सब छोड़ना है।

तू कौन है, इसका निर्णय और अनुभव कर, बापू! यदि तू उसका अनुभव करेगा तो अनुभव की दशा में भविष्य में रहेगा और यदि राग की रुचि में पड़ा तो भविष्य में राग में रहेगा। आहाहा! तुझे भविष्य में रहना तो है। मोहनभाई! भविष्य में आत्मा का नाश हो, ऐसा है? वह तो अनादि-अनन्त है। अरे! भविष्य में तुझे किस प्रकार रहना है? यदि राग की पर्याय में रहना होवे तो उस दु:ख की पर्याय में भविष्य में जाएगा सादि-अनन्त काल। आहाहा! परन्तु यदि तुझे आत्मा की पर्याय को सेवक बनाकर सेव्य करना हो तो भगवान आत्मा अपनी निर्मल पर्याय में भविष्य में रहेगा। उसका परिभ्रमण मिटकर पूर्ण परमात्मा हो जाएगा। आहाहा! अब रुचि हो, वैसा कर, कहते हैं। ... है, भाई! अब तेरी रुचि हो, वैसा कर। क्योंकि करना तो तुझे है। कुछ हम तेरा कर दें, ऐसा है?

यहाँ तो जरा विचार क्या आया? उपासक और उपास्य। उपासक है, वह पर्याय है और उपास्य है, वह ध्रुव वस्तु है। अब जब उपासक पर्याय के लिये तो ऐसा आया कि वह उसका जन्मक्षण का-उत्पत्ति का काल हो, तब वह होती है। अब तब होती है तो उसके करनेवाले को अब क्या करना? उसकी उत्पत्ति... जो है, उसका... है, वह तो पर्याय में उस काल आया, परन्तु ध्रुव के आश्रय बिना वह पर्याय का काल और श्रद्धा में—निश्चय में उसे आवे नहीं। इसलिए उसे ध्रुव पर नजर डालनी है। जिसकी सेवा करनी है, उस पर नजर डालनी है। आहाहा! भगवान के सामने ऐसे टग-टग देखे तो उसके सामने देखे या नहीं? यह सविकल्प से सेव्य और यह सेवक हुआ। अब निर्विकल्प से सेव्य-सेवक होना हो... आहाहा! तो उसे टग—टग ध्रुव के सन्मुख देखना पड़ेगा। समझ में आया? ध्रुव को ध्येय बनाकर ध्रुव की सेवा करनेवाले की पर्याय... आहाहा! उसे धर्म कहते हैं और धर्म की पर्याय सेवा करे भगवान आत्मा की! आहाहा! .... लोगों को प्रवृत्ति के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। धर्म के नाम से भी पूरे दिन यह प्रवृत्ति। यह पूजा की और यह पूजा की और सिद्धचक्र की की....

बापू! तू जहाँ है, वहाँ बैठ न! तू कहाँ है? तू चैतन्यधाम में है। वह चैतन्यधाम भगवान पूर्णानन्द का नाथ... अरे! उसकी महिमा की तुझे महत्ता नहीं आयी। उसकी महत्ता की तुझे महिमा नहीं आयी और राग तथा पर्याय की महत्ता में—राग की रुचि में रहा। आहाहा! समझ में आया? कहते हैं... यहाँ तो उपासक है न! स्वयं उपासक। तो उपासक तो पर्याय है। और **अपना शुद्धात्मस्वरूप उपास्य है...** आहाहा! दोनों की सन्धि जोड़ी है। जिसे धर्म की पर्याय उस काल में प्रगट हो, ऐसा उसका स्वरूप है, परन्तु उस काल में प्रगट हो, उस पर्याय का सेव्य कौन है? अन्तर्मुख दृष्टि कर, अन्तर्मुख दृष्टि कर। तब वह उपासक की पर्याय प्रगटी, यह सत्य है। आहाहा! समझ में आया?

अपने स्वसंवेदनज्ञान द्वारा... देखो! यह उपासक। **अपने स्वसंवेदनज्ञान द्वारा...** यह तो वीतराग की वाणी गम्भीर है। यह कहीं वार्ता और कथा जैसा नहीं कि चिड़िया लायी चावल का दाना और चिड़ा लाया मूँग का दाना और बनायी खिचड़ी... आता है न? छोटे लड़के को कहते हैं। ... कुम्हार ने ... यह बात करते हुए। ऐसी आत्मा की

मूल बात छोड़कर सब बातें (की है)। ... अरे! भगवान! कहते हैं, स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा। यह पर्याय। वस्तु को लक्ष्य में लेने से जो पर्याय स्व अर्थात् अपने से, सं अर्थात् प्रत्यक्ष, राग और मन के आश्रय बिना, ज्ञान द्वारा **निज शुद्धात्मा की उपासना करना, परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय है।** लो। परमात्मा अर्थात् स्वयं परमात्मा, हों! पूर्ण परमात्मा होने का यह उपाय है। वे कहे कि व्यवहार निश्चय ... दोनों सच्चे हैं। अरे! सुन न! आहाहा! पंचाध्यायी में तो कहते हैं कि व्यवहार... मिथ्यादृष्टि है। नहीं कहते? व्यवहारनय एक-दूसरे के कार्य को एक-दूसरे के कहता है, यह कारण-कार्य का घोटाला करता है। यह कारण और यह कार्य, यह व्यवहारनय कहता है; इस प्रकार माने, वह मिथ्यादृष्टि है।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ... उस क्षण में वह पर्याय होती है, ऐसा जो भगवान की वाणी आया, वह पर्याय कौन सी होगी? कि यदि द्रव्य पर लक्ष्य करे तो निर्मल होगी, राग पर लक्ष्य करे तो मलिन होगी। स्त्री-पुत्र पर ध्यान रखे तो अशुभभाव मलिन होगी। देव-गुरु-शास्त्र पर लक्ष्य करे तो मलिन शुभभाव होंगे.. भगवान पर नजर करके भाव करे तो शुभ होगा। आहाहा! परन्तु निवृत्ति कहाँ? स्त्री, पुत्र, धन्धा करना... उसमें यह मँहगाई। साधारण मनुष्य को... लोग शोर मचाते हैं। जिसे है, उसे है। मजदूर को भी मिलता है। घर के चार-पाँच आदमी हों तो पाँच-पाँच...

इसमें एक समय का दुःख अनन्त... अनन्त... अनन्त। आहाहा! ऐसे अनन्त दुःख और संयोग की प्रतिकूलता का पार नहीं। इस काल में भी आत्मा स्वभाव के सन्मुख होता है (और) समकित पाता है। नरक में। ... हम क्या कहें? हमें ऐसा करना पड़े। बापू! यह असुविधा तुझे बाधक नहीं है। आहाहा! तेरी मान्यता तुझे बाधक है कि इसके बिना मैं कैसे कर सकता हूँ? इसके बिना हो सकता है। पर की असुविधा का लक्ष्य छोड़ दे। आहाहा! इसी प्रकार सुविधा का लक्ष्य भी छोड़ दे। सुविधा उसके घर में रही, आत्मा में कहाँ थी? आहाहा! समझ में आया? उपास्य भगवान विराजता है और तू किसी की सेवा करने जाता है... आहाहा! समझ में आया?

सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा ऐसा कहते हैं, तू मेरी सेवा करने जा, उसमें तुझे

पुण्य होगा, बन्ध होगा। आहाहा! यह तो वीतराग कहते हैं। मुख के सामने ग्रास किसे खराब लगे? ... तुझे धर्म होगा। हमें आहार-पानी दो, तुम्हें धर्म होगा। भगवान कहते हैं, ... अरे! तीर्थंकर स्वयं जब छद्मस्थ हों। आहार लेते हैं न? आहार लेने जावें न छद्मस्थ हों तब। उन्हें आहार देने का भाव भी पुण्य है। आहाहा! समझ में आया? सेवक तू और सेव्य वे, यह भाव पुण्य है, परन्तु सेवक मैं और सेव्य यह।

'सिद्धसमान सदा पद मेरो'—सिद्ध के समान ही मेरा स्वरूप शक्तिरूप से परिपूर्ण है। सामर्थ्यरूप है, सत् के सत्त्वरूप है। वह सिद्धस्वरूप ही मेरा स्वरूप है। आहाहा! **परमात्मपद, बाहर में नहीं है;...** तेरा परमात्मस्वरूप कहीं बाहर में नहीं है। आहाहा! **वह तो मेरे में ही है,...** लोगों को ऐसा लगता है... यह तो कहीं निश्चय की बातें। परन्तु निश्चय अर्थात् सच्ची। व्यवहार की आरोपित बातें सभी। ....

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं; पर्याय, वही व्यवहार है। उपासक पर्याय, वही साधक का व्यवहार है; उपास्य, वह निश्चय है। ऐ... पोपटभाई! .... बड़ोदरा होकर पालेज गये थे न? (संवत्) २०१३ के वर्ष। १८ वर्ष हुए। ऐ... मनसुख! ... तब हम वहाँ गये थे। ... महाराज! तुम कहो वह... परन्तु उसका साधन क्या? उन्हें तो यह भक्ति करना, (वह साधन)। धूल में भी साधन नहीं है, सुन न! यह उपासक (पर्याय) साधन है। समझ में आया? यह भक्ति (साधन) माननेवालों को यह बैठना कठिन पड़ता है। निश्चयभक्ति तो यह है, वह व्यवहारभक्ति है। आती है, है।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सम्यग्दर्शन की भक्ति अलग है। ... आहाहा! अर्थात्? ... अर्थात् कि जिसकी महिमा दृष्टि में लेनी है। आहाहा! उसका... पूर्ण आनन्द वह मैं, ऐसा भजन, वह सम्यग्दर्शन। समझ में आया?

उस चीज़ के जैसा। **मेरा स्वरूप शक्तिरूप से परिपूर्ण है। परमात्मपद, बाहर में नहीं है; वह तो मेरे में ही है, निरन्तर ऐसी भावना के बल से...** भावना शब्द से (आशय) विकल्प नहीं। स्वरूप की एकाग्रता के बल से जिसने ध्येय को-ध्रुव को

ध्यान में लिया, उसके ध्यान में रहा हुआ जीव अन्दर में... आहाहा! **आत्मा, परमात्मा बन सकता है...** वह स्वयं परमात्मा बन जाता है। वह वस्तु परमात्मस्वरूप है। उसकी शक्तिरूप है। उसकी सेवना करने से पर्याय में परमात्मा बन जाता है। आहाहा! व्यवहार की रुचिवाले को ऐसा लगे... हाय... हाय! इसमें व्यवहार का लोप हो जाता है। बापू! साधक पर्याय व्यवहार... साधक पर्याय आत्मव्यवहार है और रागादि का निमित्त का व्यवहार सद्भूतव्यवहार है। आहाहा! समझ में आया?

निरन्तर ऐसी भावना के बल से आत्मा, परमात्मा बन सकता है — ऐसी उसकी शक्ति है। वैसी उसकी शक्ति है। **जो उस शक्ति का श्रद्धा-ज्ञान करता है,...** जो स्वरूप की शक्ति की पूर्णता, उसका श्रद्धा-ज्ञान करता है, **वही अपने शुद्धात्मा में रमणता करके,...** ... आहाहा! **परमात्मपद को प्राप्त करता है।** लो! **यही आराध्य-आराधकभाव की व्यवस्था का स्वरूप है।** अन्तिम लाईन है न? यही आराध्य, आराधक करनेवाला आराध्य कौन?—वस्तु और आराधक पर्याय। अर्थात्? पूर्ण शुद्धस्वरूप है, उसका ज्ञान, उसकी श्रद्धा और उसमें रमणता—यह आराधक। आराधन वह। आहाहा!

तेरी दशा की निर्मलता प्रगटने के लिये तुझे परसन्मुख देखने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, उसका संग्रह उस गुण में है; पर में नहीं कि पर के लक्ष्य से आवे। आहाहा! समझ में आया? पोपटभाई! इस रुपये में... पड़ी हो। ... मुफ्त का मानता है।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यही पुरुषार्थ है।

यही... यही। यह निश्चय है। आराध्य-परमात्मस्वभाव, वही आराधनेयोग्य है और उसकी निर्मल पर्याय उसकी आराधक है। आराधना पर्याय से होती है न। उस पर्याय का आराध्य कौन? वीतरागी निर्मल पर्याय, वह आराधक; उसका आराध्य भगवान आत्मा। राग पर्याय, वह आराधक; भगवान उसका आराध्य—यह तो व्यवहार आराधक हुआ, अर्थात् आराधक नहीं, उसे आराधक माना। आहाहा! अभूतार्थ।

वही बताकर कहते हैं — ३२ श्लोक।

श्लोक - ३२

एतदेव दर्शयन्नाह -

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम्॥ ३२॥

मामात्मानमहं प्रपन्नः प्राप्तोऽस्मि भवामि। किं कृत्वा? प्रच्याव्य व्यावर्त्य केभ्यः? विषयेभ्यः। केन कृत्वा? मयैवात्मस्वरूपेणैव करणात्मना। क्व स्थितं मां प्रपन्नोऽहं? मयि स्थितं आत्मस्वरूप एव स्थितम्। कथम्भूतं मां? बोधात्मानं ज्ञानस्वरूपम्। पुनरपि कथम्भूतम्? परमानन्दनिर्वृतं परमश्चासावानन्दश्च सुखं तेन निर्वृत्तं सुखीभूतम्। अथवा परमानन्द-निर्वृतोऽहम्॥३२॥

वही बताकर कहते हैं —

निज में स्थित निज आत्म कर, कर मन विषयातीत।
पाता निजबल आत्म वह, परमानन्द पुनीत॥ ३२॥

अन्वयार्थ - (मां) मुझे-मेरे आत्मा को (विषयेभ्यः) पञ्चेन्द्रियों के विषयों से (प्रच्याव्य) हटाकर, (मया एव) मेरे द्वारा ही-अपने ही आत्मा द्वारा, (अहं) मैं (मयि स्थितं) मुझ में स्थित (परमानन्दनिर्वृत्तम्) परमानन्द से परिपूर्ण (बोधात्मानम्) ज्ञानस्वरूप आत्मा को (प्रपन्नोऽस्मि) को प्राप्त हुआ हूँ।

टीका - मैं मुझको अर्थात् मेरे आत्मा को प्राप्त हुआ हूँ। क्या करके? (मेरे आत्मा को) छुड़ाकर-वापस हटाकर; किससे? विषयों से। किस द्वारा करके? मेरे ही द्वारा अर्थात् करण (साधन) रूप आत्मस्वरूप द्वारा ही; कहाँ रहे हुए ऐसे मुझे मैं प्राप्त हुआ हूँ? मेरे में रहे हुए को अर्थात् आत्मस्वरूप में ही रहे हुए को। कैसे मुझे? बोधात्मा को अर्थात् ज्ञानस्वरूप को। फिर कैसे मुझे? परम आनन्द से निर्वृत्त (रचित) को। परम आनन्द अर्थात् सुख, उससे निर्वृत्त (रचित) सुख हुए को (ऐसे मुझे अर्थात् आत्मा को प्राप्त हुआ हूँ) अथवा मैं परम आनन्द से निर्वृत्त (परिपूर्ण) हूँ।

भावार्थ - बाह्यइन्द्रियों के विषयों से अपने आत्मा को छुड़ाकर, अपने में रहे हुए परम आनन्द से परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा को मैं, मेरे ही पुरुषार्थ से प्राप्त हुआ हूँ।

विशेष स्पष्टीकरण –

इस श्लोक में 'मया एव' और 'मयि स्थित'—ये शब्द, बहुअर्थसूचक हैं, जो बताते हैं कि परमात्मपद मेरे में-आत्मा में है; अन्यत्र बाहर कहीं नहीं है और वह पद, मैं आत्मसन्मुख होकर पुरुषार्थ करूँ तो ही प्राप्त होता है; अन्य किसी बाह्यसाधन से या किसी की कृपा से वह प्राप्त नहीं होता। 'परमात्मपद की प्राप्ति के लिए वह, स्वावलम्बन का ग्रहण और परावलम्बन का त्याग सूचित करता है।'

आचार्य ने दर्शाया है कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति मैंने, मेरे आत्मबल द्वारा ही की है; इस प्रकार अपना आत्मवैभव बताकर, मुमुक्षु जीवों को प्रेरणा की है कि 'तुम भी स्वतः अर्थात् अपनी आत्मसामर्थ्य से ही परमपद की प्राप्ति करो।'

आत्मा और परपदार्थों को (इन्द्रियों के विषयों को) भिन्न करने में और आत्मा को ग्रहण करने में करण (साधन) अलग नहीं हैं; प्रज्ञा ही एक करण है, उसके द्वारा ही आत्मा को भिन्न किया जाता है और उसके द्वारा ही उसे ग्रहण किया जाता है।

(श्री समयसार, गाथा २९४ व २९६)

यहाँ 'साध्य और साधन एक ही हैं; भिन्न-भिन्न नहीं'—ऐसा बताया है॥३२॥

श्लोक – ३२ पर प्रवचन

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम्॥ ३२॥

टीका – मैं मुझको अर्थात् मेरे आत्मा को प्राप्त हुआ हूँ। आहाहा! मैं मुझे अर्थात् मेरे आत्मा को प्राप्त हुआ हूँ। **क्या करके? (मेरे आत्मा को) छुड़ाकर-वापस हटाकर; किससे? विषयों से।** अर्थात् यह परसन्मुख का जो विषय है, उससे विमुख होकर। विषय अर्थात् यह स्त्री का विषय, इतना नहीं। पाँचों इन्द्रिय के विषय जो हैं... आहाहा! भगवान की वाणी भी विषय है, शुभराग का विषय है। पाँच इन्द्रियाँ हैं न? आँख, कान, नाक उनका लक्ष्य पर के ऊपर जाता है, इसलिए वह इन्द्रिय का विषय है। वह भगवान अणीन्द्रिय का विषय नहीं है। समझ में आया?

मैं... आत्मा, **मुझको अर्थात् मेरे आत्मा को प्राप्त हुआ हूँ। क्या करके? (मेरे आत्मा को) छुड़ाकर....** अर्थात् क्या? **वापस हटाकर;...** अर्थात् क्या? **किससे? विषयों से।** परसन्मुख के झुकाव से। परसन्मुख के विषय से विमुख करके। आहाहा! विषय शब्द से अकेले भोग, खाने-पीने का विषय अकेला नहीं। स्व विषय को छोड़कर जितने पर विषय हों, वे सब विषय। आहाहा! राग और राग के निमित्त सब विषय हैं। स्वविषय का ध्यान छोड़कर जितना पर के ऊपर जाता है, वह सब विषय है। उन विषयों से वापस मोड़कर।

किस द्वारा करके? किस द्वारा करके मेरे ही द्वारा अर्थात् करण (साधन) रूप... राग द्वारा नहीं, मेरे स्वरूप के साधन द्वारा। यह करण। मैं कर्ता, मेरे आत्मा को प्राप्त हुआ, यह कर्म—कार्य, क्या करके? **करण (साधन) रूप आत्मस्वरूप द्वारा ही;...** आहाहा! क्या कहा यहाँ? मैं यह कर्ता। मेरे आत्मा को प्राप्त हुआ, यह कर्म। कर्म अर्थात् कार्य। किसके द्वारा? मेरे स्वरूप के साधन द्वारा। है? **मेरे ही द्वारा...** अर्थात् मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ, मैं मेरे द्वारा अर्थात् चैतन्य की परिणति द्वारा। आहाहा!

यह तो समाधितन्त्र है न! यन्त्र, मन्त्र और तन्त्र नहीं कहते? यन्त्र, मन्त्र और तन्त्र। यन्त्र अर्थात् यह... मन्त्र अर्थात्... तन्त्र यह—साधन। ... वीतराग का धर्म होगा? वीतराग में तो ऐसा सुनते हैं दया पालना, व्रत पालना, कन्दमूल न खाना, रात्रिभोजन नहीं करना, अपवास करना, छह परबी ब्रह्मचर्य पालन, बस! प्रेमचन्दभाई! क्या सुना था वहाँ? भाई! यह तो शुभ विकल्प की क्रिया की बात है, यह शुभ विकल्प की बात है; यह आत्मा के स्वरूप की बात नहीं है। समझ में आया।

कहते हैं, यह पाठ ही बोलता है। देखो न! '**अहंमामयैवमयिस्थितम्**' मेरे द्वारा अर्थात् मैं आनन्दस्वरूप हूँ। उस आनन्द की पर्याय द्वारा, राग से भिन्न पड़कर। प्रज्ञासाधन द्वारा। आहाहा! **कहाँ रहे हुए ऐसे मुझे मैं प्राप्त हुआ हूँ?** कहाँ रहे हुए ऐसे मुझे मैं प्राप्त हुआ हूँ? **मेरे में रहे हुए को...** मुझमें रहे हुए को। ज्ञान, आनन्द, शान्ति वह मुझमें है, उस मुझमें रहे हुए—मुझमें रहा हुआ है। **आत्मस्वरूप में ही रहे हुए को।** मेरे आत्मा के स्वरूप में रहे हुए को मैंने प्राप्त किया है। आहाहा! **कैसे मुझे? बोधात्मा को...** मैं हूँ

कौन ? मैं कहा था न ? हूँ कौन ? **बोधात्मा को अर्थात् ज्ञानस्वरूप को।** आहाहा ! मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, प्रज्ञाब्रह्म हूँ। चैतन्यस्वरूपी भगवान मेरा है, वह मुझमें रहा है, उसे मैं प्राप्त करता हूँ। वीतराग मार्ग... वीतरागी पर्याय द्वारा... है। किसे ? .... रहे हुए को। आहाहा !

कैसे मुझे ? परम आनन्द से निर्वृत्त (रचित) को। अर्थात् ? परम आनन्द से भरपूर। निवृत्त अर्थात् रचे हुए, सुखी हुए को। परम आनन्द से निवृत्त अर्थात् भरपूर हूँ। हिरण की नाभि में कस्तूरी, परन्तु उसकी उसे खबर नहीं। इसी प्रकार इसके अन्तर में आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द की कस्तूरी भरी है। ऐसे मुझे। आहाहा ! सुखी हुए मुझे अर्थात् आत्मा को प्राप्त हुआ हूँ। आहाहा ! आनन्दस्वरूपी भगवान में रहा हुआ, उसे मैं प्राप्त हुआ हूँ। आहाहा ! राग का... वह तो पर के वश होता है और आनन्दस्वरूप की प्राप्ति तो स्व के आश्रय से होती है और उसमें रहा है, उसे मैंने आनन्द की पर्याय से प्राप्त किया है। आहाहा !

अथवा मैं परम आनन्द से निर्वृत्त (परिपूर्ण) हूँ। भाषा ऐसी है न ? **'परमानन्दनिर्वृतम्'** परमानन्द से निपजा हुआ मेरा तत्त्व है अथवा परमानन्द से मैं परिपूर्ण हूँ। आहाहा ! पर्याय में आनन्द की गन्ध नहीं और अकेले राग तथा द्वेष, संकल्प-विकल्प, दुःख की गन्ध। बापू ! यह वस्तु ही नहीं है। मुझमें रहा हुआ है, वह तो आनन्द है, उसे मैंने प्राप्त किया है। आहाहा ! इसका नाम मोक्ष का मार्ग और इसका नाम मोक्ष का उपाय है। (विशेष कहेंगे...)

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

Vitragvani
www.vitragvani.com